महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी विरचित

# ज्ञानसारः

भद्रङ्करोदयाख्यव्याख्याविभूषितः




व्याख्याकारः प.पू. पंन्यास श्री शुभङ्करविजयजी गणिवरः

श्रीयशोभद्रश्रेणिग्रंथाङ्क–२१

॥ श्रीशंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ॥

शासनप्रभावक–आचार्यदेवश्रीविजयनेमिसूरीश्वर-

सद्गुरुभ्यो नमः

न्यायविशारद–महोपाध्याय–श्रीमद् यशोविजयो-

पाध्यायप्रणीत :–

# ज्ञानसारः ।

व्याख्याकार :–

प. पू शासनसम्राट्-अनेकतीर्थोद्धारक-बालब्रह्मचारि-आचार्य
देवश्रीविजयनेमिसूरीश्वरपट्टालंकार–शांतमूर्ति–समयज्ञ
आचार्यदेवश्रीविजयविज्ञानसूरीश्वरपट्टधर–सिद्धान्तमहोदधि-
प्राकृतविद्विशारद-आचार्यदेवश्री विजयकस्तूरसूरीश्वर-
पट्टधर–कविवर–समर्थव्याख्यानकार-आचार्यश्री-
विजययशोभद्रसूरीश्वर शिष्यरत्न-व्याख्यान-
वाचस्पति–पंन्यासप्रवरश्री
शुभङ्करविजयजीगणिवरः

—: प्रकाशक :—

श्रीजैनश्वेतांबर मूर्तिपूजक संघ ( मद्रास )

मूल्य ३–७५ नया पैसा

प्राप्तिस्थान

श्रीयशोभद्रशुभंकर ज्ञानशाला

महावीर जैन सोसायटी,
गोधरा ( जि. पंचमहाल )

प्राप्तिस्थान

सोमचंद डी. शाह

जीवननिवास सामे,
पालीताणा ( सौराष्ट्र )

प्राप्तिस्थान :

सरस्वती पुस्तकभंडार

रतनपोल हाथीखाना,
अमदावाद

वीर सं. २४९० आसो सुद १०

नेमि सं. १५

विक्रम संवत् २०२० आसो सुद १०

मुद्रक :

गोविंदलाल बेचरभाई पटेल

महोदय प्रीटींग प्रेस

चांचड शेरी, पेलेस टोकीझना सामे

बंदर रोड—भावनगर

# પ્રકાશકીય



પરમપૂજ્ય સમયજ્ઞ શાંતમૂર્તિ આચાર્ય દેવશ્રી વિજય-વિજ્ઞાનસૂરિજી મ. સાહેબના પટ્ટધર પ્રાકૃત વિદ્વિશારદ આચાર્યશ્રી વિજયકસ્તૂરસૂરીશ્વરજી મ. સાહેબના શિષ્યરત્ન પ. પૂ. પંન્યાસપ્રવર કવિરત્ન સમર્થ વ્યાખ્યાનકાર પંન્યાસ શ્રી યશોભદ્રવિજયજી ગણિવર ( હાલ આચાર્ય મહારાજ ) બેંગ-લોરથી વિહાર કરી, પોતાના શિષ્ય–પ્રશિષ્યાદિ પરિવાર સાથે સં. ૨૦૧૫ માં મદ્રાસ પધાર્યા હતા અને મદ્રાસ શ્રીસંઘની વિનંતિને માન આપી ચાતુર્માસ માટે સ્થિરતા કરી હતી.

પૂ. પંન્યાસશ્રીના સચોટ–અસરકારક વ્યાખ્યાને તેઓશ્રીની શુભનિશ્રામાં અનેકવિધ ધર્મકાર્યો સાથે ઉપધાન, અંજનશલાકા પ્રતિષ્ઠાદિ શુભ કાર્યો અપૂર્વ ઉત્સાહથી ઉજવાયા હતા.

પ. પૂ. મહામહોપાધ્યાય શ્રી યશોવિજયજી મહારાજ વિરચિત " જ્ઞાનસાર " નામે ગ્રન્થ છે. અને આ ગ્રન્થ પર પૂ. પંન્યાસજી મહારાજના વિદ્વદ્વર્ય શાંતમૂર્તિ શિષ્યરત્ન પૂ. પંન્યાસ શ્રી શુભંકરવિજયજી મહારાજ " ભદ્રંકરોદયા " નામે વ્યાખ્યા લખી રહ્યા હતા. જે પૂર્ણ થયે વ્યાખ્યા સહિત છપાવા શ્રી સંઘને પૂજ્યશ્રીએ પ્રેરણા આપી. અને જ્ઞાન-ભક્તિનો જે લાભ અમને આપ્યો તે બદલ અમો તેમના ઘણા જ ઋણી છીએ.

આ પુસ્તક પ્રકાશિત કરવા માટે સાઉથ ઇન્ડિયા ફ્લોર મીલવાલા પુનમચંદભાઇ તથા મેલાપચંદભાઇએ રૂા. ૪૦૧, તથા ટ્રીપલીકેનવાલા ખેમચંદ શાહે રૂા. ૨૫૦, તથા શાહ મગનાજી જુગરાજજી મારવાડમાં ગોલવાલાએ રૂા. ૨૫૦, તથા અન્ય ભાવિકોએ આર્થિક સહાય કરી છે તે માટે તેઓ સૌના આભારી છીએ. આ જ્ઞાનસારના પ્રુફ સંશોધનમાં પૂ. પંન્યાસજી મહારાજ તથા મુનિશ્રી સૂર્યોદયવિજયજી મહારાજે ઘણી કાળજી રાખી છે છતાં ય રહેલી ભુલો શુદ્ધિપત્રક દ્વારા સુધારવા પ્રયત્ન કરવામાં આવ્યો છે અને જ્યાં પદો છુટા હોય તથા ब–व ની ભુલો હોય ( જે શુદ્ધિપત્રકમાં લીધી નથી ) તે અનુસંધાનમાં રાખી વાંચવા કૃપા કરવી. પૂજ્યપાદ મહોપાધ્યાયજી મહારાજના આ જ્ઞાનસાર ગ્રન્થનું અધ્યયન કરી સૌ આધ્યાત્મિક શાંતિ મેળવે એ જ

શુભાભિલાષા—

**લી. શ્રી શ્વેતાંબર મૂર્તિપૂજક જૈન સંઘ**

મદ્રાસ–વિ. સં. ૨૦૨૧ જ્ઞાન પંચમી.

# ॥ समर्पणम् ॥

येषां कृपाकणमस्मादृशां संसाराऽपारपारावारे तरणीयते तेषां परमपूज्यानां पूज्यपादानां समयज्ञानां शान्तमूर्तीनां श्रीमद्विजयविज्ञानसूरीश्वराणां करकमलयोः

सादरम् :—

उपाध्यायश्रीयशोविजयविरचितो ज्ञानसारो ग्रन्थो भद्रङ्करोदयाख्यव्याख्याविभूषितः सुसम्पादितः—

तत्पादपद्मेन्दिन्दिरेण सूरिसुरकल्पश्री—

यशोभद्रसूरिशिष्येण पन्यासश्री

शुभङ्करविजयमणिना

समर्प्यते ।

## ॥ प्रशस्तिः ॥

उद्धर्ता नैकतीर्थान् भवत इव जनान् सद्वचःसम्प्रयोगाद्
बाल्यादा ब्रह्मसेवाऽवचितशुभयशोराशिराशान्तगीतः ।
शास्त्रव्राताऽवगाहाऽऽहितहितमतिभृद् भूरिसत्कर्मधर्मा
सम्राड् यः शासनादिः समभवदिह स श्रीयुतो **नेमिसूरिः** ॥ १ ॥

शिष्यस्तस्य प्रशान्ताकृतिरुदधिरिवौदार्यगाम्भीर्ययोगात्
सूरि **विज्ञान**नामा समयशुभवचःसारविज्ञानवित्तः ।
तच्छिष्यः शास्त्रवार्ताऽमलसलिलमहासिन्धुरिद्धो यशोभिः
**कस्तूर** प्राकृतज्ञावलिविपुलमतिः सूरिसूरप्रतापी ॥ २ ॥

तच्छिष्यश्चौषधीशोऽमृततुलितगिरा पोषयन्नोषधीन् यो
भव्यान् ख्यातः प्रवक्ता कविकनकमहामाल्यरत्नोरुकीर्तिः ।
पन्यासाकाशसूरो गुणिगणमहितः संहितः सद्गुणौघै
रत्नत्रय्याढ्यमूर्तिं जयति भुवि **यशोभद्र**नामा गुरु र्मे ॥ ३ ॥

तस्याऽतुल्याऽनुकम्पाफलमिदमखिलं यन्मया **ज्ञानसारः**
सान्वर्थो ग्रन्थसारोऽशुभमतिदमनो वाचनातत्पराणाम् ।
शिष्यं **सूर्योदया**ख्यं दयितुमुपकृतिं कर्तुमल्पक्षमाणां
व्याख्यातो गूढभावो भवजलधितरीकल्प इत्यादरेण ॥ ४ ॥

भवन्त्यपि पुराभवा विवृतयः कतीहाऽतुला
जनोपकृतये कृताः कृतमतिव्रजः पूर्वजैः ।
मयेयमभिधावती नवगुणाऽपि **भद्रङ्करो**—
**दया**ऽनवमतीनपि प्रमुदमानयत्वायताम् ॥ ५ ॥

यदीह कति नो गुणा अवगुणा अवश्यन्तया
भवेयुरिति तत्कृते किमपि नैव भीतिं भजे ।
यतः सपदि सज्जनाः प्रकृतिपारवश्यात्स्वयं
समाधिविहितादरा जगति किं वसन्त्यद्य नो ? ॥ ५ ॥

**साङ्कली**नगरे याम्यभरतार्धविभूषणे ।
क्रमाल्लब्धात्मलाभेयं लोकशास्त्रानुसारिणी ॥ ७ ॥

सैषा त्रिपूरुषानूका व्याख्या **भद्रङ्करोदया** ।
ज्ञानसारजुषां भूयात् फलवत्युपयोगतः ॥ ८ ॥

ऐकादश्यां बुधे मौन्यां खाऽक्षिखेक्षणवत्सरे ।
पूर्णा यदनुभावेन तस्मै पूर्णात्मने नमः ॥ ९ ॥



# ॥ शुद्धिपत्रकम् ॥

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्टसङ्ख्या | पङ्क्तिः । |
|---|---|---|---|
| व्य घ्र | व्याघ्र | ४ | ३ |
| लक्षयित्वा | लक्ष्य | १० | १८ |
| ओकिक | लौकिक | २२ | १४ |
| शिव्य | शिष्यं | २३ | ५ |
| भूग्या | भूरथा | ,, | १३ |
| स्व स्सो | स्वास्तो | २७ | ५ |
| आऽऽसमा | आऽऽस्समा | ३३ | ६ |
| व्यति | व्यसि | ,, | १५ |
| धिष्टिता | धिष्ठिता | ३५ | १६ |
| मनुमनसो | मनु मनसो | ३६ | १९ |
| दुर्जयः | दुर्जपः | ,, | २१ |
| प्यादि धना | प्यादिधना | ३७ | ५ |
| पित चतु | पितचतु | ,, | ८ |
| मम पद | ममपद | ,, | १७ |
| शाऽथा | शाऽर्था | ३८ | ४ |
| ममत्व बुद्धि | ममत्वबुद्धि | ,, | १६ |
| पुद्गल | पुद्गल | ४० | ५ |
| पश्यतः | पश्यत्यतः | ,, | ७ |
| सर्गो | सर्गो | ,, | १४ |
| वस्तु याथा | वस्तुयाथा | ४२ | १२ |
| मुह्यति | मुह्यति | ,, | २० |
| कमा | कर्मा | ४३ | १३ |
| तटस्थया | तटस्थतया | ४५ | ३ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठसङ्ख्या | पङ्क्तिः । |
|---|---|---|---|
| रंशोऽशो | रंशांऽशो | ४६ | १६ |
| क्ष्यतां | क्ष्य तां | ४७ | १३ |
| व्य ध्या | व्याध्या | ८७ | १८ |
| ज्ञानसाध्ये | ज्ञाने साध्ये | ९९ | १० |
| अज्ञनं | अज्ञनं | १०९ | ७ |
| विचक्षण | विलक्षण | ११२ | १५ |
| त्यति | त्याति | १२९ | ११ |
| ध्वन्यते | ध्वन्यते | १३३ | १६ |
| न्यक्त | न्यक्त | १३५ | १७ |
| स्वक् | स्वक् | १३९ | ४ |
| नं शुद्धं | नशुद्धं | ,, | २० |
| नवरात् | नवसरात् | १४३ | १८ |
| तथा ख्यातानि | तथाख्यातानि | १४६ | १३ |
| च्छदौ | च्छदादौ | १४९ | १८ |
| शुद्धं | शुद्धं | १५१ | १२ |
| तक्षाः | तादृक्षाः | १५२ | ७ |
| विद्याजन | विद्याञ्जन | ,, | १३ |
| त्रेवेव | त्रेत्येव | ,, | १६ |
| दृष्टि बाह्य | दृष्टिर्बाह्य | १५३ | ७ |
| सा | स | १५४ | १९ |
| अर्ध | आऽर्ध | १५७ | ३ |
| णादू | णाद्दू | १५८ | २१ |
| मत्तो | मत्तो | १६० | २ |
| गहं | गमहं | १६१ | १ |
| नीवत्वा | नीनत्वा | १६२ | ३ |
| त्रेति | त्रेति | ,, | १६ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठसङ्ख्या | पङ्क्तिः |
|---|---|---|---|
| पट् | षट् | १६३ | ९ |
| तत्रे | तत्रे | ,, | १३ |
| पुङ्गला | पुद्गला | ,, | २० |
| पुङ्गल | पुद्गल | १६४ | ७ |
| कलं | फलं | ,, | ९ |
| मुत्वं | मुत्कर्षं | ,, | २० |
| मन्द | मन्द | १६५ | ११ |
| तस्व | तस्य | १६६ | ११ |
| लवेति | लं वेति | १६७ | ६ |
| वेदयती | वेदयन्ती | १७१ | २ |
| गमयोः | गयोः | १७५ | १४ |
| तया | तथा | १९१ | १४ |
| गवा | गर्वा | १९७ | ७ |
| द्वयप | द्वयाप | ,, | २२ |
| धी या | धीत्या | ,, | ,, |
| स्वाङ्ग | स्वाङ्क | २०१ | १० |
| तस्वदष्ठ | तस्वदष्टे | २०४ | २१ |
| ध्रति | ध्यति | २१७ | २२ |
| लक्का | लङ्का | ,, | ,, |
| णीयदीनां | णीयादीनां | २१९ | १५ |
| चिह्न | चिह्न | २२२ | १७ |
| चङ्कन | चङ्कम | २२५ | १८ |
| दुर्ग | दुर्ग | २३० | ७ |
| वुद्धय | वुद्धय | २३२ | २० |
| निर्दीर्घं | निर्दीर्घं | २३३ | १६ |
| द ग्रणा | दारुणा | २३५ | ११ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठसङ्ख्या | पङ्क्तिः । |
|---|---|---|---|
| संज्ञाया | संज्ञात्यागा | २३९ | ३ |
| वचश्च | वश्च | ,, | ७ |
| मेऽति | मेऽपि | २४१ | ११ |
| गाः न | गा न | २४२ | ४ |
| श्रैयः | श्रेयः | ,, | १५ |
| वम | चनम | २४४ | ९ |
| दुराध्य | दुराराध्य | २४५ | ११ |
| दूर्गति | दुर्गति | २४६ | १८ |
| सर्वश्रक्षु | सर्वतश्रक्षु | २५१ | ४ |
| धिस्त्ये | धिरस्त्ये | २५२ | ६ |
| राणी | राणां | ,, | १४ |
| तद्व | तद्द्व | २५३ | ,, |
| णत्वा | णत्वाद् | ,, | १६ |
| क्षपं | क्षमं | २५४ | १ |
| पदार्थ | पदार्थज्ञानं | ,, | ७ |
| क्ष्या प्रा | क्ष्याऽप्रा | २५५ | २० |
| तदा | तदाज्ञा | २५६ | १६ |
| स्वैरः | स्वैरः | ,, | १८ |
| पदयो | पादयो | २५७ | ७ |
| श क्ष | शाक्ष | २५९ | १५ |
| त्वाच्चा | त्वाच्चो | २६४ | २२ |
| यत्था | यत्स्था | २६९ | ९ |
| नात्म | नामात्म | २७५ | २ |
| धिग | धिग | २७९ | २२ |
| सम्बधी | सम्बन्धी | २९२ | १९ |
| ब्रह्म | ब्राह्म | २९९ | ६ |
| हृष्टे | दृष्टे | ३०८ | २१ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठसङ्ख्या | पङ्क्तिः । |
|---|---|---|---|
| धारे | धारे | ३०९ | २० |
| भिजा | भिजा | ३११ | ४ |
| कृत | कृत् | ,, | १० |
| तद | तदा | ३१७ | १६ |
| मल | मपल | ३२२ | १४ |
| ख्यता | ख्याताः | ३२४ | २ |
| श्रित | श्रितः | ३२६ | १० |
| स्वास्वा | स्वस्वा | ,, | १७ |
| सर्व | सर्व | ३२८ | १४ |
| व्यत्म | व्यात्म | ,, | १५ |
| धानं | धानं | ,, | १८ |
| व्यत्म | व्यत्वम | ३२९ | १५ |
| पूर्व | पूर्व | ३३० | १३ |
| मिमि | नि मि | ३३२ | २१ |
| शतित्त | शत्त | ३३६ | २० |
| मरि | गरि | ३४५ | १ |
| मवति | भवति | ३४७ | १६ |
| स्येच | स्येव | ३४९ | ८ |
| मेवो | मेवो | ३५२ | ९ |
| शाखे | शाखे | ३५४ | ७ |
| स्व स्व | स्वं स्व | ,, | १५ |



# अनुक्रमणिका


| | विषय | पृष्ठ |
|---|---|---|
| | मंगल | १ |
| १ | पूर्णाऽष्टकम् | २ |
| २ | मग्नाऽष्टकम् | १५ |
| ३ | स्थिरताऽष्टकम् | २७ |
| ४ | मोहत्यागाऽष्टकम् | ३५ |
| ५ | ज्ञानाऽष्टकम् | ४५ |
| ६ | शमाऽष्टकम् | ५५ |
| ७ | इन्द्रियजयाऽष्टकम् | ६३ |
| ८ | त्यागाऽष्टकम् | ७४ |
| ९ | क्रियाऽष्टकम् | ८६ |
| १० | तृप्त्यष्टकम् | ९७ |
| ११ | निर्लेपाऽष्टकम् | १०८ |
| १२ | निःस्पृहाऽष्टकम् | १२० |
| १३ | मौनाऽष्टकम् | १३२ |
| १४ | विद्याऽष्टकम् | १४२ |
| १५ | विवेकाऽष्टकम् | १५४ |
| १६ | मध्यस्थाऽष्टकम् | १६५ |
| १७ | निर्भयाष्टकम् | १७८ |
| १८ | अनात्मप्रशंसाऽष्टकम् | १८८ |
| १९ | तत्त्वदृष्ट्यष्टकम् | १९९ |

| | | |
|---|---|---|
| २० | सर्वसमृद्ध्यष्टकम् | २०९ |
| २१ | कर्मविपाकचिन्तनाऽष्टकम् | २१९ |
| २२ | भवोद्वेगाऽष्टकम् | २२९ |
| २३ | लोकसंज्ञात्यागाऽष्टकम् | २३९ |
| २४ | शास्त्रदृष्ट्यष्टकम् | २५० |
| २५ | परिग्रहाऽष्टकम् | २६० |
| २६ | अनुभवाऽष्टकम् | २७१ |
| २७ | योगाऽष्टकम् | २८० |
| २८ | नियागाऽष्टकम् | २९० |
| २९ | पूजाऽष्टकम् | २९९ |
| ३० | ध्यानाऽष्टकम् | ३०८ |
| ३१ | तपोऽष्टकम् | ३१७ |
| ३२ | सर्वनयाश्रयणाऽष्टकम् | ३२६ |
| ३३ | उपसंहार | ३३८ |




# ज्ञानसारः ।

श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ।

श्रीनेमि-विज्ञान-कस्तूरसूरि-पन्यासयशोभद्रसद्गुरुभ्यो नमः ॥

न्यायविशारद-महामहोपाध्याय-श्रीमद्-यशोविजयोपाध्यायप्रणीतः—

# ज्ञानसारः ।

पन्यासशुभङ्करविजयगणिकृत—भद्रङ्करोदयाख्यव्याख्याविभूषितः ।

प्राथम्यं परमेष्ठिषु यदलौकिकशुभाऽनुभावतोऽहाय ।
आर्हन्त्यं मनसेमो भावाऽर्हन्तं सुमतिगम्यम् ॥ १ ॥

भव्याऽम्भोजप्रबोधोज्ज्वलविपुलमहोदारवाग्भानुमन्तं,
रागद्वेषाऽन्धकाराऽपहतिविधुकलाकल्पसत्कल्पकान्तम् ।
वीरं धीरैरधीरं परमपदपरैर्ध्येयमन्तर्निताम्तं,
वन्देऽहं देवदेवं भवदवशमनाऽनन्तविद्वारिदं तम् ॥ २ ॥

जाड्यं हरेरिव यतो गजवद् व्यपैति
मुक्तिर्यतः स्वयमुपैति सतीव कान्तम् ।
कर्माऽर्जुनौघदहने दहनोपमानं
ज्ञानं गुरोरपि गुरुर्मम तत्प्रसीदेत् ॥ ३ ॥

प्रख्यातव्याख्याता कविस्त्नं गुरुवरो यशोभद्रः ।
मयि कृपाकल्पशाखी यदुपजीव्य सत्प्रवृत्तिर्मे ॥ ४ ॥

विनेयसूर्योदयस्य प्रार्थनया शुभङ्करगणिः सोऽहम् ।
भद्रङ्करोदयाख्यां ज्ञानसारव्याख्यां विदधे ॥ ५ ॥

इह हि दुःखत्रयाऽभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेताविति जीवस्वभावः। स च हेतुर्नैर्ते ज्ञानादन्य इति सर्वैरेव तज्ज्ञैरेकमत्या विनिर्णीतः। ज्ञानस्य च तस्य तादृशस्य विप्रुषोऽपि महाकथाः। तदल्पाऽऽयुःसत्त्वसंहननवतां तस्य साकल्येनाऽधिगमोऽपारपारावारसन्तरणमिव दुःशक इत्यत्र न मतभेदगन्धोऽपि। तदेतत्सर्वं सूक्ष्मेक्षिकया प्रसमीक्ष्य परमकारुणिकेन निष्कारणं लोकहितव्यसनिना मुनितमेन महामहोपाध्यायेन श्रीयशोविजयोपाध्यायेन स्वभावलाभसंस्कारकारणं ज्ञानसारमुपदिदिक्षुणेदमल्पमित्यवज्ञा कस्यचिन्मा भूदितीह जगत्यल्पमपि पूर्णमेवेति शिष्यं प्रबोधयताऽऽदौ पूर्णाऽष्टकं प्रस्तूयते—

ऐन्द्रश्रीसुखमग्नेन लीलालग्नमिवाऽखिलम्।
सच्चिदानन्दपूर्णेन पूर्णं जगदवेक्ष्यते ॥ १ ॥

ऐन्द्रेति–ऐन्द्रश्रीसुखमग्नेन–इन्द्राः सुराऽसुरनरेन्द्राः, तेषामियं सैन्द्री, तस्याः श्रियो लक्ष्म्याः, तज्जनितत्वात्तत्सम्बन्धीत्यर्थः। तादृशं यत्सुखमिदं ममाऽनुकूलमित्यनुकूलत्वप्रकारकज्ञानविषयरूपं सुखत्वप्रकारकज्ञानजन्यं वा लोके सुखशब्दवाच्यत्वेन प्रसिद्धं शर्म, तत्र मग्नो लीनस्तेनेन्द्रवत्सम्पत्तिमत्तया सर्वथा सुखिनम्मन्येन व्यवहारनयप्रधानेन प्राणिना। ऐन्द्रश्रीसुखमग्नः स्वयमिन्द्रोऽपि। ततश्च विषयसुखं बहुमन्यमानेन तल्लीनेनेन्द्रप्रमुखप्राणिमात्रेणेत्यर्थः। "शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरिव दृश्यत" इति "शर्मसातसुखानि चे"ति चाऽमरः। अखिलम्–निःशेषम्। न त्वेकं द्वे एव वेति भावः। जगत्–भुवनम्। 'मञ्चाः क्रोशन्ती 'ति वत्तात्स्थ्यात्ता-

च्छब्दयमिति लक्षणया सांसारिकप्राणिवृन्दमित्यर्थः। "विष्टपं भुवनं जगदि"त्यमरः। लीलालग्नम्=लीलासु-विनोदक्रीडासु लग्नं मग्नमिव। सुखिनमिवेति यावत्। सुखिनो हि विनोदपरायणा भवन्तीति, नहि सुखी परदुःखं विजानातीति च भावः। सच्चिदानन्दपूर्णेन=सता स्वाभाविक्या बहिरुपाधिरहितया सत्तया निश्चयनयाऽभिमतशुद्धस्वभावाऽवस्थानरूपया, अत एव-चिता रागादिरहितत्वाच्छुद्धचैतन्येनाऽऽनन्देन शाश्वताऽखण्डसुखेन च पूर्णो गुणगुणिनोर्भेदनये समग्रः, तयोरभेदनये च तत्स्वरूपत्वात्पूर्ण इव पूर्णः, तेन तादृशेन। ज्ञानचारित्राऽऽराधनादिना व्यावहारिकदृष्टिमतीत्य नैश्चयिकदृष्टिमुपेयुषेत्यर्थः। पूर्णम्-सच्चिदानन्दमयम्। आत्मनः स्वभावतस्तद्रूपत्वात्। यदुक्तम्-'पूर्णमदः पूर्णमिदमिती'ति भावः। जगदित्याकाङ्क्षाबलादुपस्थितत्वादावृत्त्याऽत्राऽपि सम्बध्यते। जीवमात्रस्य तत्स्वभावत्वाज्ज्ञानिनो यथास्थितवस्तुग्राहित्वाच्च, अवेक्ष्यते=दृश्यते ज्ञायते च। सर्वो हि स्वमिव जगज्जानातीति भावः। तत्र व्यवहारदृष्टेर्भ्रमो निश्चयदृष्टेश्च नेत्यन्यदेतत्। आत्मनो हि बहिरुपाधिजनितसुखाऽनुभव आरोपितोऽस्वस्वभावत्वादनित्योऽल्पकालस्थायित्वाद् दुःखसम्भिन्नतया विकलो भवाऽनुबन्धितया विषमपरिणामश्चाऽज्ञानाऽविनाभावी। निरुपाधिकत्वादखण्ड आत्मस्वभावभूतत्वान्नित्यश्च सुखाऽनुभवो नर्त्तं ज्ञानादिति ज्ञानाऽज्ञानयोः फलतारतम्यमवधार्य स्वभावस्थेनाऽऽत्मनैव वस्तुयाथात्म्यं ज्ञायते न त्वावरणवतेति च ज्ञानाय यतनीयमिति हृदयम्। अत्र यद्यपि पूर्णमिति पदस्याऽखिलमित्यर्थकत्वे आनर्थक्यम्। अखिलपदेनैव

तल्लाभात् । सम्भृतमित्यर्थकत्वे च कैरित्याकाङ्क्षापूरकपदाऽभावाद्बाढच्छिकतया पदाध्याहारापत्तौ नियतार्थप्रतीत्यनापत्तिरितीतो व्यघ इतस्तटी । तथाऽपि-" यश्च निम्बं पशुना यश्चैनं मधुसर्पिषा । यश्चैनं गन्धमाल्याद्यैः सर्वस्य कटुरेव स " इत्यादिवदौचित्यादन्वयाऽनुकूलपदाऽध्याहारे उपस्थितत्वात्सच्चिदानन्दैरित्येवाऽध्याह्रियते, न तु ज्ञानचारित्रैरिति। तस्य योग्यत्वेऽप्यनुपस्थितत्वादुपस्थितपरित्यागेनाऽनुपस्थितप्रकल्पने योग्यस्याऽन्यस्याऽप्यध्याहारे कस्यचिदाग्रहे पूर्वोक्तदोषतादवस्थ्यादिति सुधीभिश्चिन्तनीयम् । अत्र चाऽन्वयवशादन्यादृशोऽप्यर्थः शक्यते समर्थयितुम् । तथाहि-सच्चिदानन्दपूर्णेनाऽऽत्मनाऽऽत्ममात्रस्य तथास्वभावत्वात्तस्याऽनन्तत्वाच्च पूर्णं तत्प्रचुरम् । यद्धि यत्र प्राचुर्येण भवति, तेन तत्पूर्णमित्येवं लोके व्यवहारादिति भावः । तादृशमखिलं जगदैन्द्रश्रीसुखमग्नेन कर्त्रा लीलालग्नमिवाऽवेक्ष्यते । पीतिमप्रतारितनेत्रो हि सर्वं पीतमेव पश्यतीति हाऽज्ञानं वस्तुनो वैरूप्येण परिच्छेदकमिति ज्ञानार्थं शिष्याऽभिमुखीकारो ज्ञानसारे विहितः । तथा—सच्चिदानन्दपूर्णेनाऽऽत्मना कर्त्रैन्द्रश्रीसुखमग्नेन पूर्णमखिलं जगल्लीलालग्नमिवाऽवेक्ष्यते । ऐन्द्रश्रीसुखमग्नानां बाहुल्यात्तत एव च प्राधान्यादुपयवहारस्य प्रधानाऽनुरोधित्वात्तेषां लीलामग्नतया जगदपि लीलालग्नमिवाऽवेक्ष्यते, न तु लीलालग्नमेव । निश्चयदृष्ट्या सच्चिदानन्दपूर्णेन पूर्णत्वादित्यवधेयम् । ततश्च तादृशलीलालग्नतावियोगाय सच्चिदानन्दपूर्णत्वाय च सच्चिदानन्दपूर्णेन जिनेश्वरादिना विधीयते श्रेयोमार्गोपदेशः । तादृशलीलालग्नताया भवानु-

बन्धितया विषमपरिणामत्वादिति ज्ञानसारोपक्रमप्रयोजनसूचा। किञ्चाऽखिलं जगदैन्द्रश्रीसुखमग्नेन लीलालग्नमिव सच्चिदानन्दपूर्णेन कृत्वा पूर्णमवेक्ष्यते ज्ञानविषयो भवति। द्वयोरेव जगति बाहुल्यादिति भावः। तथा—सच्चिदानन्दपूर्णेनाऽत एवैन्द्रश्रीसुखमग्नेनाऽऽत्मीयसकलाऽलौकिकाऽतिशयादिसम्पत्तिचयसमुद्भूतसुखैकाऽनुभवलीनेन, लोकस्थेनाऽपि सताऽलौकिकगुणाढ्येनेति यावत्। तादृशेन केनचिदुत्तमोत्तमेन पुरुषविशेषेण जिनेश्वरादिना। अखिलम्। जगत्—गच्छतीति तत्, भवपरम्पराचङ्क्रमणक्रमपरवशो जीवसमुदायः। पूर्णं यथा स्यात्तथा, पूर्णरूपेणेत्यर्थः। लीलालग्नमिवाऽवेक्ष्यते। कासुचित्क्रीडास्वपि जना इतस्ततो गतागतं कुर्वन्ति, तथा च भवेषु जीव इति सुष्ठूक्तम्—"लीलालग्नमिवाऽवेक्ष्यत" इति। अज्ञानस्यैतद्विजृम्भितम्, ज्ञानी तु द्रष्टृमात्रमिति तादृशस्थितये यतनीयम्, यथा तादृशगतागतश्रमविरामः स्यादिति ज्ञानमाहात्म्यं सूचितम्। अपि च—सच्चिदानन्दपूर्णेन पूर्णं सीमप्राप्तम्। सच्चिदानन्दपूर्णता हि जगन्मर्यादा, तदूर्ध्वं जगतोऽभावादिति भावः। तादृशं जगदैन्द्रश्रीसुखमग्नेन कृत्वा अखिलं यथा स्यात्तथा। साकल्येनेत्यर्थः। लीलालग्नमिवाऽधिकसुखप्राप्तये नानाविधव्यापारव्याप्तमिवाऽवेक्ष्यते। जगति हि यथा सच्चिदानन्दपूर्णाः सन्ति, तथैन्द्रश्रीसुखमग्ना अपीति चित्रं जगतो वैचित्र्यमिति भावः। अत्र यथायथमुपमोत्प्रेक्षा वाऽलङ्कारः। अनुष्टुप्छन्दः॥ १॥

ऐन्द्रश्रीसुखपूर्णतासच्चिदानन्दपूर्णतयोः कतरा श्रेयसीति विप्रतिपद्यमानं शिष्यमुपलक्ष्याऽऽग्रहोऽपि स्वयं विवेकं ग्राहयन्नाह—

पूर्णता या परोपाधेः सा याचितकमण्डनम् ।
या तु स्वाभाविकी सैव जात्यरत्नविभानिभा ॥ २ ॥

पूर्णतेति–या–यादृशी, परोपाधेः–परः स्वकीयं शुद्धसत्ता-ज्ञानादिकं जीवस्वभूतं धर्ममपेक्ष्याऽन्यः स्रक्चन्दनाङ्गनादिरूपो य उपाधिर्मिथ्याज्ञानजनितवासनादिकृतसम्बन्धेनाऽऽरोपितस्वत्वविशिष्टः पदार्थः, अस्वोऽपि स्वत्वेन भासमानः पुद्गलादिरूपो धर्म इति यावत् । तस्मात्तमपेक्ष्येत्यर्थः । यब्लोपे पञ्चमी । पूर्णता–स्वस्य वैकल्याऽननुभवः । स्वस्य समग्रताऽनुभव इति यावत् । सा–तादृशी पूर्णता, याचितकमण्डनम्–याचितमेव याचितकम् । स्वार्थे कः । कुत्सितयाचनया प्राप्तमित्यर्थः । क्षणिकाऽभिमानिकतृप्त्यर्थं हि याचनं कुत्सितमेव, तेनोत्तमलाभाऽभावादिति भावः । तादृशं यन्मण्डनं भूषणं तदिवेति लुप्तोपमा । यथा हि विवाहाद्यवसरे निःस्वस्य याचितमण्डनेन मण्डनवत्ताऽऽरोपिता, तत्र स्वत्वाऽभावात् । तेन हेतुना पुनः प्रतिनिवर्त्तनीयतयाऽल्पकालिकी । अत एव मण्डनकृतशोभाद्यपहारेण दुःखदत्वात्परिणामविषमा च । तथा पुद्गलादिसमुपभोगजन्यसुखपूर्णताऽनात्मस्वभावतयाऽज्ञानवशात्स्वीयत्वेन भासमानाऽऽरोपिता, नश्वरतयाऽल्पकालिकी, तन्नाशे तद्वियोगजदैन्याऽवश्यंभावाद्भवानुबन्धितया च परिणामविषमा चेतिभावः । तुर्विशेषे पूर्वस्माद्भेदे च । तदेवाह–या–यादृशी पूर्णता, स्वाभाविकी–स्वभावप्राप्ता, आत्ममात्रसापेक्षा शुद्धज्ञानादिजन्येत्यर्थः । सच्चिदानन्दपूर्णतेति यावत् । सा–तादृशी स्वाभाविक्येव । जात्यरत्नविभानिभा–जात्यमुत्तमजाति यद्रत्नं तद्विभानिभा तत्प्रकाश-

समाना। यथा जात्यरत्नस्य विभा स्वाभाविकी, तत एव च यावद्रत्नस्थायिनी, तथेतरपदार्थस्येव स्वरूपस्याऽपि प्रकाशिका, शुभात्मकत्वाच्छुभपरिणामत्वादविषमा च। तथा स्वाभाविकी पूर्णता शाश्वताऽखण्डस्वरूपा जगत्परिच्छेदप्रभुः सर्वकल्याणैकधाम च। तस्या निर्विकल्पत्वात्केवलत्वात्। अतस्तदर्थमेव यतनीयमिति भावः। एवमत्र विभिन्नोपमया द्वयोः पूर्णतयोर्विवेको ग्राहितः ॥ २ ॥

तदेवमुक्तप्रकारेण विवेके ग्राहितेऽपि स्वरूपाऽज्ञानादपरितोषमिव कलयन्तं जिज्ञासया मुखमीक्षमाणं शिष्यमुपलक्ष्य करुणापरस्ते पूर्णते तात्स्थ्येन लक्षयन्नाह—

अवास्तवी विकल्पैः स्यात्पूर्णताऽब्धेरिवोर्मिभिः।
पूर्णानन्दस्तु भगवान् स्तिमितोदधिसन्निभः ॥ ३ ॥

अवास्तवीति—आत्मन इत्यर्थबलाल्लभ्यते। विकल्पैः—मम धनं दाराः पुत्रा इत्येवमस्वेऽज्ञानाद्वासनाजनितैः स्वत्वारोपणरूपैः सङ्कल्पैः कृत्वा। अब्धेः—समुद्रस्य, उर्मिभिः—तरङ्गैः कृत्वेव। "भङ्गस्तरङ्ग ऊर्मिर्वे"त्यमरः। पूर्णता—समग्रता, अवास्तवी—कल्पिता, असत्स्वरूपेत्यर्थः। आभिमानिकीति यावत्। स्यात्—जायेत। वस्तुतः पूर्णताया अभावात्, तदग्रे स्फुटीभविष्यति। तरङ्गैर्बुत्तालैर्वस्तुतस्तटाऽधःस्थितजलोऽप्युदधिरुच्छलितपयःपूरस्य तटं यावत्प्रसारात्पूर्ण इवाऽऽभाति, ततः सा पूर्णताऽब्धेरवास्तवी, पयःपूराऽपगमे तादृशपूर्णताया अप्यपगमात्। तथाऽऽत्मनोऽप्यज्ञानादिसम्पर्कात्स्वरूपाऽनवभासादपूर्णस्याऽपि विकल्पैराभिमानिकी

पूर्णता, तरङ्गाणामिव धनादीनामपचये तत्पूर्णताया अपि विलयात्, प्रत्युत दैन्याऽवाप्तेश्च । तस्माच्चादृशी पूर्णताऽवास्तव्येवेति भावः । तथा-परोपाधिजन्याऽवास्तवी पूर्णता विकल्पैः स्यादब्धेरूर्मिभिरिव । यथाऽब्धेरवास्तवी पूर्णतोर्मिभिर्जायेत, तथाऽऽत्मनोऽप्यवास्तवी पूर्णता विकल्पैर्जायेतेत्येषोऽप्यर्थः । परोपाधिजन्यायां पूर्णतायां परोपाधौ स्वत्वविकल्पो द्वारभूतः, अत एव विवेकाच्चादृशविकल्पाऽपगमे परोपाधौ सत्यपि तादृशपूर्णताऽवसरो न राजतीति भावः । अत्राऽर्थे तादृशपूर्णताया हेतोः प्रतिपादने तात्पर्यं लभ्यते, पूर्वत्राऽर्थे तु पूर्णतायामवास्तवत्वप्रतिपादने तात्पर्यमवसीयते इति विवेकः । एतेनोपाधिजनितपूर्णतायास्ताटस्थ्येन सहेतुकं स्वरूपमुपदिष्टम् । वास्तवी पूर्णता तु निर्विकल्पाऽवस्थायामेव, अतस्तल्लक्षयति-पूर्णेति । तुः पूर्वतो भेदे विशेषे च । तदेवाह-भगवान्-भगो ज्ञानवैराग्यादिस्तद्वान् । यदुक्तम्-" ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य तपसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणे " ति । अत एव-पूर्णानन्दः पूर्णो ज्ञानादिना निर्विकल्पदशाप्राप्तेरनाभिमानिकः, स्वस्वभावरूपत्वात्कदाचिदप्यनपचयात्कुतोऽप्यन्यूनत्वात्सर्वाधिकत्वादखण्डत्वाच्छाश्वतत्वाच्च पूर्ण इव पूर्णः, समग्र इति यावत् । तादृश आनन्दो यस्य स तादृश आत्मा । एतेन वास्तविक्यां पूर्णतायां भगो हेतुरित्यपि भङ्ग्या सूचितमवगन्तव्यम् । स्तिमितोदधिसन्निभः-स्तिमितस्तरङ्गादिरहितत्वान्निश्चलः, प्रशान्त इत्यर्थः । अथ च विगलितविकल्पत्वात्स्वरूपमात्रविश्रान्तत्वान्निर्विकल्पः । तादृशो य उदधिरब्धितत्सन्निभत्वात्तदृशः । अतिशयेन स्वभावतः पूर्ण एव । तरङ्गैस्तु

स्वाभाविकी पूर्णताऽऽव्रियते, कृत्रिमा च जन्यते। यत्र च मध्यभागादौ न तरङ्गास्तत्राऽब्धेः स्वाभाविकी पूर्णता। सा हि नोपचीयते, न चाऽपचीयते। ततः सैव वास्तविकी। तथाऽऽत्मा स्वभावतः पूर्ण एव। विकल्पैस्तु स्वाभाविकी पूर्णताऽऽव्रियते, आभिमानिकी च जन्यते। ज्ञानादिभिर्निर्विकल्पत्वलाभे च सा स्वाभाविकी पूर्णता स्वतो मेघाऽपगमे सूर्य इव प्रकाशते। सा च नोपचीयते, न चाऽपचीयते। ततः सैव वास्तविकी। तत्सुष्ठूक्तम्–"स्तिमितोदधिसन्निभ" इति। तदेवं तात्स्थ्येन हेतुतश्च द्वे अपि पूर्णते व्याख्याते। अत्र पूर्णतां प्रस्तूय पूर्णस्य प्रतिपादनं धर्मधर्मिणोरभेदनये धर्मिप्रतिपादनं धर्मस्य प्रतिपादनमेवेति मनसा। एवञ्च न प्रस्तावभङ्ग इति बोध्यम्। एतेन विवेकेन द्वयोरवधारणाद्वास्तविकपूर्णतार्थं सोद्यमेन भाव्यमिति सूचितम्। अत्रोपमा स्फुटैव ॥ ३ ॥

शिष्यप्रवृत्तये वास्तविकपूर्णतां स्तौति—

जागर्ति ज्ञानदृष्टिश्चेत्तृष्णाकृष्णाऽहिजाङ्गुली।
पूर्णानन्दस्य तत्किं स्यादैन्यवृश्चिकवेदना ? ॥ ४ ॥

जागर्त्तीति–चेत्–यदि, तृष्णाकृष्णाऽहिजाङ्गुली–तृष्णा विषयाऽभिलाषः, सैव दुःखप्रदत्वाद् भवभयप्रदत्वाच्छुद्धचैतन्यनाशकत्वाच्च कृष्णाहिः–कृष्णसर्प इति प्रसिद्धो महाविषधरः सर्पः, तद्विषये जाङ्गुली विषनाशिका गारुडी विद्या; सेव। तृष्णानाशकत्वादिति भावः। ज्ञानदृष्टिः–ज्ञानाख्या दृष्टिः, "सर्वोपाधिविनिर्मुक्तः सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मे" त्येवं शुद्धज्ञानमित्यर्थः। वास्त-

विकपूर्णताबोध इति यावत्। जागर्त्ति–सम्यग्ज्ञानचारित्रादिनोद्बुध्यते। तत्–तदा, पूर्णानन्दस्य–शाश्वताऽखण्डानन्दमयस्य जीवस्य। तादृशज्ञानोन्मेषे हि स्वरूपसाक्षात्कारात्पौद्गलिकः सर्व एव सम्बन्धो निवर्त्तते, तन्मूलस्य तृष्णाया एव समूलोच्छेदादिति तदानीं जीवः पूर्णानन्दस्वरूप एव भवतीति भावः। दैन्यवृश्चिकवेदना–दैन्यं कार्पण्यम्, अभिलषिताऽप्राप्तिजनिता विह्वलता। स्वस्याऽपूर्णत्वज्ञानजनितं वैक्लव्यं वा। तदेव तीव्रदुःखप्रदत्वाद्वृश्चिक इव, तत्कृता वेदना पीडा। किं स्यात्–काक्वा न स्यादेवेत्यर्थः। यया हि विद्यया विषधरसर्पकृतपीडाऽपि नश्यति, तया वृश्चिककृतपीडा नश्यतीति किं वक्तव्यम्?। तथा शुद्धज्ञाने समुदञ्चति वास्तवपूर्णतैव सदा भवतीति तत्र तृष्णाजनिताऽपूर्णत्वभानकृतदैन्यपीडाया नाऽवसरलेशोऽपि, तृष्णाया एव विलयात्। अवास्तवपूर्णतायां सत्यामपि तृष्णाया अनिवृत्तेस्तदपूर्त्तौ नूतनायास्तस्या आविर्भावे च दैन्यवेदना सदैव जायते। ज्ञानोद्बोधे वास्तवपूर्णतायां सत्यां तु तृष्णाया एव नाशात्तन्नेति वास्तवपूर्णतार्थमेवोद्यमिना भाव्यमिति भावः। परम्परितरूपकाऽलङ्कारः ॥ ४ ॥

तदेवमुक्तप्रकारेण शिष्यस्य विशेषप्रतिपत्तये तटस्थेन हेतुना फलेन च पूर्णतामुपलक्षयित्वा सम्प्रति वास्तवपूर्णतायाः स्वरूपलक्षणमाह—

**पूर्यन्ते येन कृपणास्तदुपेक्षैव पूर्णता।**
**पूर्णानन्दसुधास्निग्धा दृष्टिरेषा मनीषिणाम् ॥ ५ ॥**

पूर्यन्त इति–येन-परोपाधिना स्रक्चन्दनाऽङ्गनादिना धनधान्यादिना, परिग्रहेणेति यावत् । कृपणाः–तृष्णापरवशा अज्ञानिनोऽल्पसत्त्वाः प्राणिनः । पूर्यन्ते=स्वं पूर्णं मन्यन्ते । अज्ञानाद्धनादिसमग्रतयैव स्वं समग्रं मन्यन्ते इति ते धनादिना पूर्यन्त इत्युच्यते । तदुपेक्षा–तस्मिन्न रागो नवा द्वेष इति माध्यस्थ्यभावनैव । रागे सति हि त्यागेऽपि न पूर्णता, तृष्णासद्भावाद्वास्तवपूर्णतायां अनवसरात् । अत एव द्वेषतोऽपि त्यागेऽपि न पूर्णता, द्वेषस्य रागाऽविनाभावित्वात् । तस्मात्सुष्ठूक्तम्–" तदुपेक्षैव पूर्णते" ति । उपेक्षायां हि सत्यां रागद्वेषमूलो विषयविकल्पो विलीयते, ततश्च वास्तवपूर्णताया भानम् । नहि निर्विकल्पतां विना शुद्धात्मस्वरूपभानं सम्भवतीति भावः । एतस्याः पूर्णतायाः केऽधिकारिण इत्यपेक्षायामाह–पूर्णेति । मनीषिणाम्–पण्डितानाम्, सदसद्विवेकवतामित्यर्थः । चारित्रपालनशास्त्राऽभ्याससंस्कृतमतीनामिति यावत् । एषा–विषयेषूपेक्षैव पूर्णतेत्येवं प्रकारा, पूर्णानन्दसुधास्निग्धा–पूर्णः शाश्वताऽखण्डत्वात्समग्रो य आनन्दः, स एव दुर्लभत्वादलौकिकत्वात्तृष्णाया अभावान्मनोहृत्य तृप्तिप्रदत्वाच्चाऽमृतमिव, तेन स्निग्धाऽऽर्द्रा श्लक्ष्णा च, परिष्कृता संस्कृता वेति यावत् । पूर्णानन्दविषयिणीति समुदितसारार्थः । दृष्टिः–अन्तश्चक्षुः, ज्ञानमित्यर्थः । अस्ति जायते वेति शेषः । ये हि सदसद्विवेकभावात्पूर्णानन्दमतयः, तेषामियं दृष्टिर्यत्खलु विषयोपेक्षैव पूर्णता, नतु विषयत्यागमात्रतः कृतकृत्यता । अविवेकिनोऽवास्तवपूर्णताऽऽदरिणां पुनर्नैषा दृष्टिरुद्बुध्यत इति भावः ॥ ५ ॥

अथैतावता प्रबन्धेन यदुक्तम्, स्पष्टप्रतिपत्तये वाक्चातुरी-पूर्वकं तन्निष्कृष्टार्थमाह—

अपूर्णः पूर्णतामेति पूर्यमाणस्तु हीयते ।
पूर्णानन्दस्वभावोऽयं जगदद्भुतदायकः ॥ ६ ॥

अपूर्ण इति । अपूर्णः—उपेक्षया विषयैरसमग्रः, आत्मेत्यर्थ-बलाल्लभ्यते । पूर्णताम्—वास्तवपूर्णताम्, एति—प्राप्नोति, उपे-क्षायां सत्यां निर्विकल्पभावादात्मस्वभावस्य शाश्वताऽखण्डत्वात्पूर्णा-नन्दमयत्वस्याऽनुभवादिति भावः । तुर्विशेषे भेदे च । तदेवाऽऽह—पूर्यमाणः=तृष्णासद्भावात्स्वस्वभावाऽनवभासाद्विषयैरेव स्वं समग्रं मन्यमानः, हीयते—अपचीयते, वास्तवपूर्णतायाः प्रच्यवतीति हीनो जायत इत्यर्थः । अयम्—उक्तप्रकारः, पूर्णानन्दस्वभावः—निश्चय-नयेन पूर्णानन्दस्वरूपस्याऽऽत्मनः स्वभावः, जगदद्भुतदायकः—जगदाश्चर्यकरः । लोके हि रिक्तः कोशादिः पूर्यमाण उपचीयते, पूर्णश्च स व्ययादिना हीयत इति प्रसिद्धम् । आत्मस्वभावश्च तद्विपरीत इति विलक्षणत्वादाश्चर्यकरः, । अत्राऽपूर्णस्य पूर्णता विरुध्यते, तथा पूर्यमाणस्य हानिरपि विरुध्यते । विरोधपरिहारस्तु प्रागुक्तार्थेन कृत एवेति विरोधाऽभासोऽलङ्कारः ॥ ६ ॥

यच्चोक्तमवास्तवी पूर्णता, सा वस्तुतो नास्त्येवेति तत्र पूर्णता-बुद्ध्या शिष्यसम्मोहो मा भूदित्याह—

परस्वत्वकृतोन्माथा भूमाथा न्यूनतेक्षिप्तः ।
स्वस्वत्वसुखपूर्णस्य न्यूनता न हरेरपि ॥ ७ ॥

**परेति।** **परस्वत्वकृतोन्माथाः**—परेषु स्वात्मव्यतिरिक्तेषु धनधान्यपरिजनपरिच्छदादिषु स्वत्वेनेदं ममेत्येवं स्वकीयत्वभावनया कृत उन्माथः स्वचित्तसङ्क्षोभो यैस्ते, तादृशाः। विषयव्यासङ्गादशान्तस्वान्ता इत्यर्थः। **भूनाथाः**—इतरजनाऽपेक्षया सुलभप्रचुरतरविषया नरेन्द्राः, अपीत्यर्थबलाल्लभ्यते। तेन च तदितरजनसमुच्चयः। **न्यूनतेक्षिणः**—स्वस्मिन् परनृपादिभ्यो न्यूनतामपूर्णतामीक्षन्त इत्येवंशीलाः, सन्तीति शेषः। एवञ्चाऽवास्तवपूर्णता काऽपि नास्त्येव, वस्तुतस्त्वपूर्णतैव सर्वत्र। यदुक्तम्—" उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति। अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते " इति भावः। ननु पूर्णतायामपि तारतम्यसम्भवः, न च तावता साऽपूर्णतैवेति युक्तं वक्तुमिति चेन्न। तारतम्यमेव ह्यपूर्णता, न हि पूर्णतायां तारतम्यसम्भवः, तदाह—स्वेति। **स्वस्वत्वसुखपूर्णस्य**—स्वस्मिन् सच्चिदानन्दमये आत्मनि स्वत्वेन विषयानुपेक्ष्य स्वकीयत्वभावनया यत्सुखं शाश्वताऽखण्डानन्दसमुद्भेदस्तेन पूर्णस्य, विषयेषूपेक्षया निर्विकल्पत्वात्स्वसाक्षात्कारात्स्वस्वभावभूताऽऽनन्दमयस्येत्यर्थः। वास्तवपूर्णतावत इति यावत्। जीवस्येत्यर्थबलाल्लभ्यते। **हरेः**—इन्द्रात्। इन्द्रमपेक्ष्याऽपि, **न्यूनता**—असमग्रता, **न**—नैव, **अस्तीति** शेषः। सच्चिदानन्दानां पूर्णानामेव सर्वात्मसु भाव इत्यात्मनां सर्वेषामेव स्वभावतः समानत्वान्न वास्तवपूर्णतायां तारतम्यम्। तस्मादवास्तवी पूर्णता वस्तुतोऽपूर्णतैव, तारतम्यसद्भावादिति नाऽवास्तवी पूर्णता काऽपीति तत्राऽज्ञानात्पूर्णताभ्रम एव। ततस्तदुपेक्ष्य पूर्णतार्थं यतनीयमिति तात्पर्यम् ॥ ७ ॥

तदेवं पूर्णतां विशदं व्याख्याय तत्प्राप्तियोग्यः कः काल इति समुत्सुकं शिष्यमनुगृह्णन्नाह—

कृष्णपक्षे परिक्षीणे शुक्ले च समुदञ्चति ।
द्योतते सकलाऽध्यक्षा पूर्णानन्दविधोः कला ॥ ८ ॥

इति महामहोपाध्याय श्रीमद्यशोविजयोपाध्यायविरचिते ज्ञानसारे पूर्णताऽष्टकं नाम प्रथममष्टकम् ॥ ८ ॥

कृष्णेति। कृष्णपक्षे—चन्द्रपक्षे—कृष्णो वर्णसाम्यालक्षणयाऽन्धकारः, रात्रावादौ तद्भावात्तत्प्रधानः पक्षोऽर्धमासः, कृष्णपक्ष इति लोके प्रसिद्धः। आत्मपक्षे—चाऽर्धपुद्गलपरावर्त्तान्मितान्तरेण पुद्गलपरावर्त्ताद्वाऽधिकोऽवशिष्टः संसारः, तस्मिन् कृष्णपक्षे। परिक्षीणे—चन्द्रपक्षे—अतीते, आत्मपक्षे च भोगचारित्रपालनादिना च क्षयमुपगते सति। शुक्ले—विनाऽपि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्लोपाच्छुक्लपक्षे, तत्र चन्द्रपक्षे—जनप्रसिद्धः शुक्लपक्षः कृष्णपक्षेतरः, यस्मिन् रात्रावादौ चन्द्रोदयो भवति, तस्मिन्। आत्मपक्षे चाऽर्धपुद्गलपरावर्त्तान्मितान्तरेण पुद्गलपरावर्त्तान्न्यूनोऽवशिष्टो भवः, तस्मिन्। च: कृष्णपक्षक्षयसमुच्चये। समुदञ्चति=सम्यगूर्ध्वं गच्छति सति। चन्द्रपक्षे—शुक्लपक्षस्योर्ध्वगमनं प्रतिपद आरभ्य पूर्णिमान्तं क्रमशोऽग्रिमाऽग्रिमतिथेरागमनम्। आत्मपक्षे चोक्तभवस्य क्रमशो न्यूनीभावः। तस्मिन् सति। पूर्णानन्दविधोः—पूर्णः समग्रकलत्वात्सम्पूर्णमण्डलश्चाऽसावानन्दयत्याह्लादयति जनान् शीतलैः करैः सुभगदर्शनेन च स तादृशश्चाऽसौ विधुश्च, तस्य। " चन्द्र इन्दुः

कुमुदबान्धवः । विधुः सुधांशुः शुभ्रांशुरि " त्यमरः । आत्मपक्षे च–पूर्णः शाश्वतोऽखण्डो निर्विकल्पतयाऽनुत्तमश्चाऽऽनन्दो यस्य सः, गुणगुणिनोरभेदपक्षे त्वानन्दमयः । उभयत्र पक्षे सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मेत्यर्थः । तादृशश्चाऽसौ पूर्वोक्तश्लेषवशाद्धर्मसाम्याद्विधुरिव, तस्य । कला–चन्द्रपक्षे–षोडशो भागः, तेषां समुदायोऽपि च कलासमुदायत्वात्कलैव, सा । आत्मपक्षे च–केवलज्ञानाख्यशुद्धचैतन्यात्मकात्मपर्यायः, सा । द्योतते–प्रकाशते । साकल्येन कृष्णसम्पर्काऽपाये पूर्णिमायां जगत्पदार्थसार्थप्रकाशिका चन्द्रस्य कलेव साकल्येन भवक्षये आत्मनः सच्चिदानन्दपूर्णताख्यः पर्यायस्त्रैकालिकसर्वद्रव्यपर्यायपरिच्छेदकः प्रकाशत इत्यर्थः । तस्माद्भवाऽरूपत्वाय ज्ञानचारित्राद्याराधनीयं पूर्णतामभिलाषुकेणेति हृदयम् । श्लेषाऽनुप्राणितोपमाऽलङ्कारः ॥ ८ ॥

इति ज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृ–कविरत्न–पन्न्यासप्रवर–श्रीयशोभद्रविजयजीगणिवरशिष्य-पन्न्यासश्रीशुभङ्करविजयगणिविरचितायां भद्रङ्करोदयाख्यव्याख्यायां प्रथमं पूर्णाऽष्टकं समाप्तम् ॥१॥

---

## अथ मग्नाऽष्टकम् ॥ २ ॥

पूर्णाऽष्टकश्रवणेन जातपूर्णतारुचेः शिष्यस्य केनोपायेन सा पूर्णता साध्येति सोत्साहजिज्ञासां कलयित्वा मग्नस्यैव सा लभ्येति यादृशाऽनुष्ठानपरायणस्य सा लभ्या, तमेव मग्नं सलक्षणमाह—

प्रत्याहृत्येन्द्रियव्यूहं समाधाय मनो निजम् ।
दधच्चिन्मात्रविश्रान्ति मग्न इत्यभिधीयते ॥ १ ॥

प्रत्याहृत्येति । इन्द्रियव्यूहम्–इन्द्रियाणां तथारूपातानां त्वगादीनां व्यूहः समूहस्तम् । न तु कतिपयमेव, किन्तु सर्वाणीन्द्रियाणीत्यर्थः । एकस्य द्वयोर्वा प्रत्याहारेऽपीन्द्रियान्तरस्य स्वविषयेषु प्रसक्तेश्चित्तसङ्क्षोभान्मग्नत्वाऽसम्पत्तेरिति भावः । " सङ्घाते प्रकरौघवारनिकरव्यूहाः समूहश्चय " इति हैमः । प्रत्याहृत्य–सङ्क्षिप्य, नियम्येति वा । वैराग्येणाऽभ्यासेन चेन्द्रियाणां विवेकपूर्वकं विषयेषु प्रसक्तिं निवार्येति सारार्थः । नहि विषयेभ्यः सर्वथा निवृत्तिरिन्द्रियाणां सम्भवति । स्वयं विषयसम्पर्कनिवारणेऽप्यापात्यानां विषयाणां सम्पर्कस्य निवारणाऽसम्भवात् । तस्माद्विवेकतो विषयेषु प्रसक्तिनियमनमेवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः । विषयसम्पर्केऽपीन्द्रियाणां तथास्वभावत्वात्सव्यापारत्वेऽपि विवेकतस्तत्र तस्याऽव्यासङ्गं वैराग्याऽभ्यासादिना संसाध्येति निष्कृष्टोऽर्थः । मग्नतायां नैतावत्पर्याप्तम् , किन्तु मनोनिग्रहोऽपि तत्राऽपेक्ष्यत इत्यत आह–समेत्यादि । निजम्–आत्मीयम् , लोकप्रयोगाऽनुसारेणैतत् । मनः–समाधायेत्येतावताऽपि निजाऽर्थस्य लाभात्, नहि कोऽपि परकीयमनःसमाधानं प्रति प्रवर्त्तते प्रभवति वेति बोध्यम् । मनः–चित्तम् । समाधाय–वैराग्याऽभ्यासाभ्यां वृत्त्यन्तरपरिहारेणाऽऽत्ममात्रोपयुक्तं विधायेत्यर्थः । यदुक्तम्–" यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् । ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेदि "ति, " अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यत " इति च । इन्द्रियप्रत्याहारपूर्वकमनःसमाधानफलमाह–दधदिति । चिन्मात्रविश्रान्तिम्–चिदात्मनःशुद्धचैतन्यस्वभावः, निर्विकल्पं चैतन्य-

मित्यर्थः । इन्द्रियाणां प्रत्याहारसचित्तस्य च समाधानाद्विकल्पस्य सर्वथाऽसम्भवात्स्वयमेवोल्लासमाना या निर्विकल्पस्वभावा शुद्धा चेतना, तत्रैव विश्रान्तिमवस्थानम् । चिन्मयत्वमिति यावत् । विकल्परपरिहारे हि निर्विकल्पं ज्ञानमेवाऽऽत्मनि भासते, चिन्मयो वाऽऽत्माऽवभासते इत्यात्मा चिन्मात्रविश्रान्त इति चिन्मात्रविश्रान्तिं दधतिति चाऽभिधीयते । न त्वात्मा प्रयत्न तां विश्रान्तिं दधाति । किन्तु मेघागमे सूर्यवद्विकल्पनिवृतौ तथास्वभावत्वादात्मा स्वस्वभावावस्थ एव प्रकाशते इत्यवधेयम् । दधत्—धारयन् कुर्वन् वा । शुद्धचित्स्वरूपेण भासमान इति यावत् । यदुक्तम्—" यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता । योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मन " इति । साकाङ्क्षत्वादौचित्यादात्मेति विशेष्यं लभ्यते । स तादृशः किंशब्दाऽभिधेय आत्मेत्याकाङ्क्षापूरणायाऽऽह—मग्नः—लीनः, पूर्णो वा । अभिधीयते—कथ्यते । ततश्च मग्नता पूर्णता च नाऽर्थान्तरम् । एवञ्चेन्द्रियप्रत्याहारमनःसमाधानपूर्वकचिन्मात्रविश्रान्तिगतमनो मग्नता पूर्णता वा । तद्वांश्च मग्नः पूर्णो वा । एतेनेन्द्रियप्रत्याहारमनःसमाधानसाध्या मग्नतेति भङ्ग्या सूचितम् । सच्चिदानन्दमयत्वेन विवक्षायां पूर्ण इति चिन्मयत्वमात्रेण विवक्षायां मग्न इति चाऽभिधीयते आत्मेति विवेकोऽत्र बोध्यः । न तु तावता वस्त्वन्तरता । चिन्मयो हि सच्चिदानन्दमयः, स च स इत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥ १ ॥

एकदा तादृशमग्नतायां लब्धायां न कदापि ततश्च्युतिरिति

मग्नताऽर्थवादम्, तादृशमग्नताऽभिलाषुकेण विषयव्यासङ्गः प्रयत्न निरसनीय इत्यप्रमादोपदेशं च शिष्यहितार्थमाह—

यस्य ज्ञानसुधासिन्धौ परब्रह्मणि मग्नता ।
विषयान्तरसञ्चारस्तस्य हालाहलोपमः ॥ २ ॥

यस्येति । यस्य—यादृशस्य विलक्षणपुण्यशालिन आत्मनः, ज्ञानसुधासिन्धौ-ज्ञानमेवाऽलौकिकतृप्तिप्रदत्वान्मुक्तिरूपाऽमराऽजराऽवस्थाप्रदत्वाच्च सुधाऽमृतम्, तस्य चाऽपरिमितत्वादतिविपुलाधाररूप इति सिन्धुरिव सिन्धुः पारावारः, तस्मिन् शुद्धाऽनन्तचैतन्यात्मके इति यावत् । विशेष्यमाह—परब्रह्मणि—परं निर्विकल्पत्वाद्विशुद्धत्वात्स्वरूपेणाऽवभासमानत्वाच्च सर्वोत्कृष्टं यद्ब्रह्म निश्चयनयाऽभिमतः प्रतिपर्यायव्यापक आत्मा, तस्मिन् । मग्नता—इन्द्रियप्रत्याहारमनःसमाधानपूर्वकचिद्विश्रान्तिः । अस्तीति शेषः । यद्यपि परब्रह्म सच्चिदानन्दपूर्ण आत्मैवेति ज्ञानसुधासिन्धुरूपस्याऽर्थस्य परब्रह्मपदेनैव लाभात्पौनरुक्त्यमापतति । तथाऽपि "सकीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैरि "त्यादिवद्विशेषणवाचकपदसन्निधाने विशिष्टवाचकपदस्य विशेष्यमात्रपरत्वात्कथञ्चित्समाधानीयम् । यद्वा यतो ज्ञानसुधासिन्धुरतः परब्रह्मेति काव्यलिङ्गं वा बोध्यम् । ननु यस्येति किमित्याह—विषयेति । तस्य—ज्ञानमये परब्रह्मणि मग्नस्याऽऽत्मनः । विषयान्तरसञ्चारः—अन्यो ज्ञानालक्षणया ज्ञानोपायभूताच्च ज्ञानमयाद्ब्रह्मणश्च भिन्नो विषयः स्पर्शरसादिस्तत्र । यद्वा विषयाणां स्पर्शरसादीनामन्तरे मध्ये—विभिन्नेषु विषयेष्विति

यावत्। सञ्चारः प्रवृत्तिर्व्यासङ्गो वा। विषयाऽभिमुखतेत्यर्थः। विषयोपभोग इति यावत्। हालाहलोपमः—हालाहलं विषमुपमा यस्य तादृशः। विषं चेतनामिव विषयव्यासङ्गः सम्यग्ज्ञानं विनिहन्तीति न विनेन्द्रियमनोनिग्रहेण मग्नता कथमपि लभ्येति हृदयम्। तस्मात्तन्निग्रहे सदाऽप्रमादिना भाव्यमित्युपदेशो तात्पर्यम्। यद्वा पीताऽमृतस्य यथा न विषाद्भयम्, तथा चिन्मये मग्नस्य न विषयेभ्यो भयम्। अथवा यथा पीताऽमृते न विषाऽऽविष्टत्वं सम्भवति, तथा ज्ञानमये मग्नस्य विषयव्यासङ्गो न सम्भवति। अज्ञानस्य तन्मूलत्वादिति तात्पर्यम्। तस्मात्तादृशमग्नतायां सत्यां न पुनर्विषयेष्वभिष्वङ्गस्ते सम्भवतीति तादृशमग्नतायाः प्रच्युतिं मा शङ्कस्वेति शिष्यसमाश्वासनं मग्नताऽर्थवादश्च तत्र सोद्यमत्वायेति सूच्यते। यद्वा—मग्नतेत्यनन्तरमिष्टेति शेषः। तथा च योऽमृतमिच्छति, तेन प्रागेव विषाद् दूरमपसर्त्तव्यम्। अन्यथा प्रागेव विषसम्बन्धे सद्यो मरणाऽवश्यंभावात्कोऽवतिष्ठेत योऽमृतं पिबेदिति तदिच्छाऽपूर्णैव तिष्ठेत्। तथा यस्य ज्ञानमये मग्नतेष्टा, तेन विषयपराङ्मुखेनैव भाव्यम्। विषयव्यासङ्गे हि तादृशलीनता सर्वथैवाऽलभ्या भवेदिति भावः। ज्ञानमये मग्नतायां सत्यां विषयव्यासङ्गो निवर्त्तते, नहि विना ज्ञानमिन्द्रियनिग्रहादिः साध्य इत्युभयोः सहैव यथाशक्ति विधिरिति ध्वनिस्तु सहृदयहृदयसाक्षीति॥ २॥

ननु शरीरिण ऐन्द्रश्रीसुखमग्नस्य सच्चिदानन्दपूर्णस्य वा विषयान्तरसञ्चारो दुर्निवारः, शरीरयात्रार्थं चारित्राऽनुगुण्येन च क्रियासु प्रवृत्तेरावश्यकत्वात्, तादृशप्रवृत्तेश्च विषयसम्पर्कं विना

कथमप्यसम्भवात् । एवञ्च शुद्धममताऽसम्भविनी कस्याऽपि कदापीति चेन्न । ज्ञानिन आसक्तेरभावादनासक्तिसद्भावे च विषयसम्पर्कस्याऽकिञ्चित्करत्वादित्याह—

स्वभावसुखमग्नस्य जगत्तत्त्वाऽवलोकिनः ।
कर्तृत्वं नाऽन्यभावानां साक्षित्वमवशिष्यते ॥ ३ ॥

स्वभावेति । जगत्तत्त्वाऽवलोकिनः—जगतो लक्षणया तत्स्थपदार्थस्य तत्त्वं याथात्म्यमनित्यत्वादिना दुष्परिणामत्वादिरूपं परमार्थमवलोकते सम्यग्ज्ञानसद्भावात्पश्यति जानातीत्येवंशीलस्तस्य, अवगतसांसारिकपदार्थपरमार्थस्य । सम्यग्ज्ञानिनस्तत्तद्भावकर्तृक एव परमार्थतस्तत्तद्भावानां परिणाम इत्येवं निश्चयदृष्टेरिति यावत् । अत एव, स्वभावसुखमग्नस्य—स्वभाव एव यत्सुखम्, तत्र मग्नस्तदेकतानः, तस्य । आत्मन आनन्दमयत्वात्सुखमात्मनः स्वभाव एव । तत्र ममता च नर्त्ते ज्ञानिनोऽन्यस्येति भावः । तादृशस्याऽऽत्मनः, अन्यभावानाम्—अन्ये स्वभावादितरे ये भावाः शरीरयात्राचारित्राद्यनुगुणक्रियाप्रवृत्त्यादिरूपास्तेषाम्, कर्तृत्वम्—इष्टसाधनतादिज्ञानपूर्वकं निर्वर्त्तकत्वं विधातृत्वं प्रवर्त्तकत्वं वा । न—नैव, सम्भवतीति शेषः । ज्ञानिनो ह्यहं करोमीत्यनभिमानात्, शरीरयात्राद्यर्थप्रवृत्तिश्च शरीरादेरेव नाऽऽत्मनः, निष्प्रयोजनत्वादिति विवेकसद्भावाच्च सर्वथैवाऽऽसक्तेरभावाच्च । आसक्त्यैव हि कर्तृत्वम् । यदुक्तम्—" यस्य नाऽहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते । हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते " इति । तथा—

" तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः । पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिरि "ति च । एवञ्च तत्तद्भावकर्तृक एव भावानां परिणामः । आत्मा तु नित्यशुद्धबुद्धमुक्तपत्त्वस्वभावः पुष्करपलाशवन्निर्लेप एव । ततश्चाऽऽत्मनः कर्तृत्वमज्ञानादहङ्कारादऽसक्त्यादिमूलमेव । तादृशज्ञानवतश्च कर्तृत्वं नैव परमार्थत इति सुष्ठूक्तं कर्तृत्वं नाऽन्यभावानामितीति भावः । नन्वेतावताऽऽत्मनो निष्क्रियत्वमुक्तं भवतीति चेत्, एवमेतत् । तदाह—साक्षित्वम्—साक्षाद् द्रष्टृत्वम्, ज्ञातृत्वं वा । अवशिष्यते-अवशिष्टो भवति । क्रियानिषेधाद्धि द्रष्टृत्वमेव परिशेषादात्मनि लभ्यते । नहि यो निष्क्रियो भवति स निश्चेतनोऽपीति व्याप्तिः । अतः प्रवृत्त्युपरतस्य स्वस्वभावस्थस्य चेतनस्याऽऽत्मनो द्रष्टृत्वं केन वार्यताम् ? । सच्चिदानन्दपूर्णो ह्यात्मा ज्ञानवशात्स्वस्वभावस्थः क्रियासु न प्रवर्त्तते, अत एव न लिप्यतेऽपि । किन्तु चेतनत्वात्तस्य तादृशक्रियाद्रष्टृत्वमात्रमेवाऽशक्यपरिहारत्वादवगन्तव्यम् । एवञ्चाऽज्ञानादेवाऽऽत्मनि कर्तृत्वसन्निपातः, ज्ञाने सति त्वहङ्कारविलयात्साक्षिमात्रं स इति शारीरादिप्रवृत्तौ सत्यामपि स्वभावसुखमग्नोऽलिप्त एव भवतीति भावः । अत्र च प्राग्निन्द्रियनिग्रहादिज्ञानादिना मग्नता, ततो विषयव्यासङ्गभङ्गः, ततोऽहङ्कारविलयादिना कर्तृत्वत्याग इति क्रमोऽपि सूचितो बोध्यः ॥ ३ ॥

ननु पौद्गलिकं सुखमपि सुखमेवेति किमिति ज्ञानिनः स्वभावसुखमग्नस्य तत्राऽनादर इति विपतिपन्नं शिष्यमुपलक्ष्याह—

**परब्रह्मणि मग्नस्य श्लथा पौद्गलिकी कथा ।**
**क्वाऽमी चामीकरोन्मादाः स्फारा दाराऽऽदराः क्व च ॥४॥**

परेति । **परब्रह्मणि**–परे सच्चिदानन्दमयत्वादुत्कृष्टे ब्रह्मण्यात्मनि, **मग्नस्य**–लीनस्य, जातसच्चिदानन्दमयनिजात्मसाक्षात्कारस्य जीवस्येति मिलितार्थः । **पौद्गलिकी**–पुद्गलानां स्रक्चन्दनाऽङ्गनादीनामियं सा, पुद्गलसम्बन्धिनीत्यर्थः । **कथा**–पुद्गलेभ्यः सुखं जायत इत्येवं प्रकारा वार्त्ता, पुद्गलासक्तिर्वा, **श्लथा**–शिथिला, जायत इति शेषः । न रोचत इति यावत् । स्वभावसुखाऽपेक्षया पौद्गलिकसुखस्याऽनित्यत्वदुष्परिणामत्वादिनाऽतिनिकृष्टत्वात् । किञ्च पौद्गलिकतृष्णाक्षय एव स्वभावसुखमग्नता लभ्येति कुतः स्वभावसुखमग्नस्य पुद्गलकथा भवतु ?, पुद्गलतृष्णायाः साकल्येन क्षयात् । नहि लब्धाऽमृतस्य पानीयवार्त्ताऽपि रोचत इति भावः । अत एव–**अमी**–स्वभावसुखमग्नस्य कृतेऽतिनिकृष्टत्वादत्यरुचिविषयत्वाद् दूरवर्त्तिनः, **चामीकरोन्मादाः**–सुवर्णादिलौकिकक्षणिकदुष्परिणामघनकृताश्चित्तविप्लवाः, धनमदा इति यावत् । सुवर्णादिधनाऽऽसक्तिजनितविप्लुतचित्ततेति हृदयम्, **क्व**–कुत्र ? भवन्त्विति शेषः । नैव क्वापि भवन्त्वित्यर्थः । **स्फाराः**–भूयांसो बलवन्तश्च, अधिकमुत्कटाश्चेति यावत् । **दाराऽऽदराः**–दारेषु स्त्रीषु विषये आदरा रुचयः, अङ्गनालिङ्गनाद्यभिलाषा इति यावत् । **क्व**–कुत्र भवन्तु ?, नैव कुत्राऽपि भवन्त्वित्यर्थः । **चः** समुच्चये । यस्य हि पुद्गलेष्वासक्तिस्तत्रैव धनमदोऽङ्गनाद्यभिलाषश्च । स्वभावसुखमग्ने विरक्ते निःस्पृहे च नैतेषामवसरः, सर्वोत्कृष्टस्य शाश्वताऽखण्डस्य

सुखस्यैव सत्त्वात् । हीनोऽधिकमिच्छति, न त्वधिको हीनमिति स्वभावसुखमग्नस्य तेष्वनादर इति तात्पर्यम् । कर्तृत्वभावविलये सति सर्वथा पुद्गलसम्बन्धो निवर्त्तते मूलाऽभावादिति क्रमोऽत्र सूच्यत इत्यपि बोध्यम् ॥ ४ ॥

मग्नताऽवश्यं साध्या, सा हीष्टसाधनमिति शिष्य बुबोधयिषुर्मग्नतामाहात्म्यं कथयिष्यंस्तस्यास्तेजोलेश्यामूलत्वमाह —

तेजोलेश्याविवृद्धिर्या साधोः पर्यायवृद्धितः ।
भाषिता भगवत्यादौ सेत्थंभूतस्य युज्यते ॥ ५ ॥

तेज इति । भगवत्यादौ—भगवतीत्याख्यया ख्याते ग्रन्थे श्रुतविशेषेऽन्यस्मिंश्च तादृशे ग्रन्थे । साधोः—गृहीतचारित्रस्य चारित्रपालनेन गुणकक्षामारोहयतो मुनेः, पर्यायवृद्धितः चारित्राख्यस्य पर्यायस्य मासादिक्रमेण योत्तरोत्तरं कालवृद्धेः, ततो हेतोः । पर्यायः पदार्थस्याऽसहभूयावद्रव्यभावी च धर्मविशेषः । गुणस्तु सहभूयावद्रव्यभावी च धर्म इति विवेकः । तथापि गुणपर्याययोर्लोके समानार्थपरतया बहुशो व्यवहारो दृश्यते. यत्किञ्चिदेतत् । गृहीतायां दीक्षायामात्मनश्चारित्राख्यः पर्यायो जायते, चारित्रं ह्यात्मनः संयमपरिणामः । अत्र च साधुपदसमभिव्याहारमहिम्ना पर्यायशब्देन चारित्राख्यः पर्याय एव गृह्यते । तद्वृद्धेरेव तेजोलेश्यावृद्धिहेतुत्वेन शास्त्रे प्रतिपादनाच्चेति बोध्यम् । यावत्पकारा, तेजोलेश्याविवृद्धिः—तेजश्चित्तसुखलाभलक्षणमित्युक्तेस्तेजो मानसिकसुखविशेषः, तदाख्या या लेश्याऽऽशयविशेषः,

सुखरूपा मनोवृत्तिरिति यावत् । सुखमग्नतेति हृदयम् । तस्या विवृद्धिर्विशेषेणोत्कर्षः । भाषिता–प्रतिपादिता । यथायथा संयमकालो वर्धते, तथातथा तेजोलेश्या विवर्धत इत्यर्थः । तद्विषये विस्तरश्च भगवतीग्रन्थादेवाऽवसेयः । सा–तादृशी तेजोलेश्याविवृद्धिः, इत्थम्भूतस्य–इमं ज्ञानमयपरब्रह्ममग्नताख्यं प्रकारं प्राप्तस्य, युज्यते–सङ्गतिमर्हति नाऽन्यस्येति सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायाल्लभ्यते । तेजोलेश्याविवृद्धये न चारित्रपर्यायवृद्धिमात्रं पर्याप्तम्, ज्ञानमयाऽऽत्ममग्नतां विना केवलया तया तदलाभादिति मग्नतैव सर्वशुभमूलमिति मग्नताया महान् महिमेति साऽवश्यं साध्या सत्प्रयासेनेति भावः ॥ ५ ॥

पौद्गलिकसुखलिप्सया ज्ञानमग्नतासुखाऽनादरो मा भूदिति करुणापरः शिष्यं हितमुपदिशन् ज्ञानमग्नताया अवर्णनीयत्वमनुपमत्वं चाऽऽह—

ज्ञानमग्नस्य यच्छर्म तद्वक्तुं नैव शक्यते ।
नोपमेयं प्रियाऽऽश्लेषैर्नाऽपि तच्चन्द्रनद्रवैः ॥ ६ ॥

ज्ञानेति । ज्ञानमग्नस्य–ज्ञानमये आत्मनि मग्नस्य तदेकतानस्य, शुद्धसम्यग्ज्ञानिन इत्यर्थः । आत्मज्ञानिन इति यावत् । यत्–यत्प्रकारम्, शर्म–सुखम्, " शर्मसातसुखानि चे "त्यमरः । तत्–तादृशं सुखम्, वक्तुम्–वर्णयितुम्, न-नैव, शक्यते । वाचामगोचरं तत्सुखमिति सारार्थः । तादृशसुखप्रतिपादनसमर्थः शब्दो नास्तीति वागतीतं तत्सुखमनुत्तमत्वादिति भावः । ननु वाचकशब्दाऽभावेऽप्युपमया तद्वर्णनीयं स्यादिति चेन्न । तदाह–तत्-तादृशं

ज्ञानमग्नतासुखम्, प्रियाऽऽश्लेषैः–प्रिया प्रियतमा तस्या आश्लेषा आलिङ्गनानि, एकस्य द्वयोर्वा तु कथैव का !, तै र्बहुभिरपीति बहुवचनेन ध्वन्यते । लक्षणया प्रियललनाऽऽलिङ्गनसुखैः, लोकदृष्ट्या सर्वोत्कृष्टत्वेन प्रसिद्धैरपीति हृदयम् । न–नैव, उपमेयम्–उपमातुं योग्यम्, चन्दनद्रवैः–चन्दनस्य द्रवो लेपार्थं घर्षणेन कृतं द्रवद्रव्यम्, तैः । लक्षणया तल्लेपसुखैः, न–नैव, उपमेयमिति सम्बध्यते । अपिना प्रियाश्लेषसमुच्चयः । तद्द्वयस्याऽप्यज्ञानतः सुखबुद्ध्या कल्पितत्वात्क्षणिकत्वाद्दुष्परिणामत्वादितश्च सुखाभासत्वेन वस्तुतः सुखरूपत्वाऽभावादिति भावः । अवर्णनीयमनुपमेयं च यद्भवति तदनुत्तमं भवतीति लौकिकसुखं विहाय तदर्थमेव यतनीयं प्रेक्षाकारिभिरिति हृदयम् ॥ ६ ॥

ज्ञानमग्नतासुखगौरवं हि ज्ञानगौरवादित्युपजीव्यतया ज्ञानं शिष्याऽभिमुखीकरणार्थं स्तौति—

शमशैत्यपुषो यस्य विप्रुषोऽपि महाकथाः ।
किं स्तुमो ज्ञानपीयूषे तत्र मग्नाङ्गमग्नताम् ? ॥७॥

शमेति । यस्य–यादृशस्य, शमशैत्यपुषः–शमस्तृष्णाक्षय एव भवतापशमनाच्छैत्यं शीतलता, तां पुष्णात्युपचाययतीति तत्तस्य ज्ञानपीयूषस्य, अतः शमशैत्यपोषणादेव हेतोः, विप्रुषः–बिन्दोरपि, लवमात्रस्याऽपीत्यर्थः । आत्मलग्नस्येत्यर्थाल्लभ्यते । महाकथाः–महत्योऽतिविस्तृततराः कथाः प्रबन्धग्रन्थाः, महत्यः प्रशस्तयो वा । सन्तीति शेषः । बहवो ज्ञानवर्णनात्मका महाग्रन्थाः सन्ति, मुखेन चाऽपि तैस्तैर्विद्वद्भिरतिविस्तृतं दृष्टान्तादिना ज्ञानमाहात्म्यवार्त्ताः

क्रियन्त इत्यर्थः। अपिना सूचितमर्थमेवाह—तत्र—यस्य बिन्दोरपि महाकथास्तस्मिन्, ज्ञानपीयूषे-ज्ञानमेव शमशैत्यपोषणात्पीयूषममृतं, तत्र। "पियूषममृतं सुधे" त्यमरः। सर्वाङ्गमग्नताम्—सर्वाङ्गैः सर्वप्रकारैः कृत्वा या मग्नता, ताम्। सर्वथा शुद्धचिन्मयाऽवस्थानमित्यर्थः। किं स्तुमः?—नैव स्तुम इत्यर्थः। बिन्दोरपि महाकथाविषयत्वात्समग्रस्य तस्य वर्णनस्याऽशक्यत्वादिति भावः। तादृशज्ञानाऽर्जने सर्वैरेव यतितव्यम्। तत एव तन्मग्नतासुखसम्पत्तेरिति तात्पर्यम् ॥ ७ ॥

तादृशज्ञानवांश्च दुर्लभत्वादुत्तमोत्तमत्वाच्च सर्वैरेव नमस्करणीय इति शिष्यभक्तिविवृद्धये योगिनमस्कारपूर्वकमुपसंहरति—

यस्य दृष्टिः कृपावृष्टिर्गिरः शमसुधाकिरः।
तस्मै नमः शुभज्ञानध्यानमग्नाय योगिने ॥ ८ ॥

इति महामहोपाध्यायश्रीयशोविजयोपाध्यायकृते ज्ञानसारे द्वितीयं मग्नाष्टकं समाप्तम् ॥ २ ॥

यस्येति। यस्य—यत्प्रकारस्य शुभज्ञानध्यानमग्नस्य। दृष्टिः—अवलोकनं तत्साधनं नेत्रं च। कृपावृष्टिः—यत्पश्यति तत्कृपयैवेति सर्वत्र कृपां वर्षयतीवेति कृपावर्षणात्मिका कृपापूर्णा चेत्यर्थः। तथा, यस्य, गिरः—वाचः, शमसुधाकिरः—शम एव सर्वतृप्तिकरत्वात्सुधा, तां किरन्ति प्रतिपादयन्ति सिञ्चन्ति वा प्राणिष्विति तादृश्यः। उपशमप्रदा इत्यर्थः। तत्र भक्त्या हेतुगर्भं विशेषणमाह—शुभज्ञानध्यानमग्नाय—शुभं निरपायं शुद्धं च यज्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानं ध्यानं

च शुक्लध्यानं तत्र मग्नाय, तस्मै-कृपापूर्णदृशे शमप्रदवाचे च, योगिने-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्ययोगवते, अन्यस्याऽतादृशत्वात्, किञ्च शुभज्ञानादिमग्नो योग्येव भवति । तस्यैव च दृष्टिः कृपापूर्णा गिरश्च शमप्रतिपादिका इति भावः । नमः-नमस्कारोऽस्तु । सर्वलोकहितत्वाद्धितोपदेशकत्वाद्धिताऽनुष्ठानप्रवृत्तत्वाच्च लोकगुरुत्वात्सोऽवश्यं नमस्करणीयः । स एव च नमस्करणीय इति तादृशमहिम्नो लाभोऽपि ज्ञानेनेति शिष्यहृदयाऽऽवर्जनेऽपि तात्पर्यम् ॥ ८ ॥

इति ज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृकविरत्नपन्यासप्रवरश्रीयशोभद्रविजयगणिवरशिष्यपन्यासश्रीशुभङ्करविजयगणिविरचितायां भद्रङ्करोदयाख्यव्याख्यायां द्वितीयं मग्नाऽष्टकं समाप्तम् ॥३॥

---

## अथ स्थिरताऽष्टकम् ॥ ३ ॥

ननु सुखार्थमेव यते, न च सफलो भवामि, प्रत्युत विषीदाम्येव । भवता च तदुपायत्वेन मग्नतोपदिश्यते । तत्कारणं चेन्द्रियनिग्रहादिकं प्रयस्याऽपि साधयितुं नाऽलमस्मीति व्यग्रं शिष्यमुपलक्ष्य जातदयः स्निग्धया गिरोपसान्त्वयंस्तदेकोपायं स्थिरतामाह-

वत्स ! किं चञ्चलस्वान्तो भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा विषीदसि ।
निधिं स्वसन्निधावेव स्थिरता दर्शयिष्यति ॥ १ ॥

वत्सेति । कृपया स्नेहेन च कोमलामन्त्रणमिदम् । एतेन स्वस्य शिष्यव्यग्रतोद्धारचिन्ता सूच्यते । चञ्चलस्वान्तः-अस्थिरमनाः सन् । सुखार्थं विषयेष्वितस्ततो व्यासक्तमनाः क्व विषये कथं सुखं लभेयेति व्यग्रमना वेति यावत् । "स्वान्तं हृन्मानसं मन"-

इत्यमरः । भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा—आभीक्ष्ण्येन भ्रमन्, विषयाऽटव्यामित्यर्थाल्लभ्यते । विषयेषु पुनः पुनरिन्द्रियमनःप्रभृतीन् व्यापारयन्निति यावत् । किं विषीदसि—किं दैन्यमनुभवसि ? । न विषादः कार्य इत्यर्थः । कृतश्रमोऽप्यकृतार्थो हि विषीदत्येव, किन्त्वस्थाने श्रमो विषादमात्रफल एव । विषयेषु च सुखेच्छया कृते प्रयासे न तल्लाभः, विषयाणां वस्तुतः सुखजनकत्वाऽभावात् । अत एव दुष्परिणामा एव ते । ननु तर्हि किमन्यत्करोमि ?, इष्टसिद्ध्यर्थमुपायान्तराऽभावादिति चेन्न । तदाह—स्थिरता—विविधविषयेष्विन्द्रियमनःप्रभृतीनां मुहुर्मुहुरनभिनिवेशः, स्थिरेन्द्रियचित्तादिवृत्तितेत्यर्थः । विषयेष्विन्द्रियमनःप्रभृतीनामनादर इति यावत् । उपशम इति सारार्थः । स्वसन्निधौ—स्वसमीपे, स्वात्मस्थमित्यर्थः । एवकारेण स्थानान्तरव्यवच्छेदः । निधिम्—निधानम्, सुखन्यासमित्यर्थः । दर्शयिष्यति—गोचरीकारयिष्यति । सुखं स्वात्मस्थमेव, नाऽन्यत्र विषयादौ । विषयसुखस्याऽज्ञानकल्पितत्वान्मिथ्यारूपत्वात् । अतस्तदर्थं विहितः श्रमो विषादपरिणाम एव । आत्मस्थं सुखं च नोक्तरूपेण भ्रमणेन लभ्यम्, अपि तु मनःप्रभृतीनामन्तर्मुखवृत्त्यात्मकस्थिरतया । तादृशवृत्त्या हीन्द्रियनिग्रहादिपूर्वकमग्नतालाभे शाश्वताऽखण्डानन्दात्मकपूर्णताख्यनिधिलाभः । तस्मात्स्थिरो भव, मा विषीद । एतेन यत्स्वसमीपस्थमेव, तदर्थमन्यत्र भ्रमणं मूर्खतामेव सूचयतीति ध्वन्यते । चञ्चलचित्तस्य न कदापि सुखं किन्तु विषाद एव । स्थिरस्यैव च तदिति सारार्थः । स्थिरतैव सर्वेष्टमूलमिति हृदयम् ॥ १ ॥

अस्थिरतायास्त्यागे प्रवृत्तिर्यथा स्यादिति शिष्यहितचिन्तया-ऽस्थिरताया अपायान्तरमाह—

ज्ञानदुग्धं विनाश्येत लोभविक्षोभकूर्चकैः ।
अम्लद्रव्यादिवाऽस्थैर्यादिति मत्वा स्थिरो भव ॥ २ ॥

ज्ञानेति । अम्लद्रव्यात्—अम्लं स्वनामख्यातो रसविशेषः, तद्वद्द्रव्यमामलक्यादिकम, तत्प्राप्येति यब्लोपे पञ्चमी । तत इव । अस्थैर्यात्—उक्तरूपाच्चाञ्चल्यात्, तत्प्राप्येत्यर्थः । लोभविक्षोभकूर्चकैः—लोभः परस्वग्रहणेच्छा, तज्जनिता ये विक्षोभाश्चित्तविकलतास्ते कूर्चकाः क्षीरविकारविशेषा इव, तैः कृत्वा, तद्रूपेणेत्यर्थः । धान्येन धनवानितिवदभेदे तृतीया बोध्या । ज्ञानदुग्धम्—ज्ञानं शुद्धत्वात्सुखजनकत्वान्नाशसाम्याच्च दुग्धमिव, तत्, विनाश्येत —स्वयमेव नाशं प्राप्नुयात् । विकृतं हि विनष्टमेव कथ्यते इति हृदयम् । यथाऽम्लद्रव्यसम्पर्केण दुग्धं कूर्चकरूपतां प्राप्तं विनश्यति—स्वस्वरूपं गुणांश्च त्यजति, तथाऽस्थैर्यादात्मनो लोभपरिणामात्स सज्ज्ञानरूपं स्वरूपं तादृशस्वरूपजन्यं सुखाऽनुभवं च त्यजतीत्यर्थः । इति—उक्तप्रकारमस्थैर्यदोषम्, मत्वा—विचार्य, स्थिरः—अन्तर्मुखेन्द्रियादिवृत्तिः, भवेति शिष्यमुद्दिश्याऽपायदर्शनद्वारेण हितोपदेशः ॥ २ ॥

सर्वात्मना स्थैर्यार्थं शिष्यप्रवृत्तिमनसाऽन्तःस्थिरतां विना बहिःस्थिरतामात्रेण न निजेष्टफललाभसम्भव इति शिष्यमुपदिशन्नाह—

अस्थिरे हृदये चित्रा वाङ्नेत्राऽऽकारगोपना ।
पुंश्चल्या इव कल्याणकारिणी न प्रकीर्तिता ॥ ३ ॥

अस्थिर इति। हृदये–अन्तःकरणे, चेतसीत्यर्थः। "चित्तं तु चेतो हृदयमि"त्यमरः। अस्थिरे–बहिर्मुखवृत्तिके सति, विषयाऽभिमुखे सतीत्यर्थः। अनुपशान्ते इति यावत्। चित्रा–विविधप्रकारा, वाङ्नेत्राकारगोपना–वाचो नेत्रस्योपलक्षणत्वाद्बहिरिन्द्रियस्याऽऽकारस्येङ्गितस्य–मनोभावप्रकाशकाऽवयवविकारस्य गोपना गुप्तिक्रिया, बहिः स्थिरतेति यावत्। पुंश्चलीपक्षे निलायनक्रिया, अवहित्थेति यावत्। "आकारस्त्विङ्ग इङ्गितमि"ति हैमः। "अवहित्थाऽऽकारगुप्तिरि"त्यमरः। पुंश्चल्याः–कुलटाया इव। पुंश्चल्याश्चित्रा वाङ्नेत्राकारगोपनेवेत्यर्थः। कल्याणकारिणी–मग्नतादिरूपशुभप्रदा, पक्षे सतीत्वयशःप्रभृतिशुभप्रदा, न प्रकीर्तिता–न कथिता। कुलटाया हि वाङ्नेत्राकारगोपनया कुलीनत्वाऽभिनयो न यशसे, प्रत्युतोपहासायैव। तथा मनःस्थैर्यं विना वागादिगोपनामात्रेण बहिःस्थिरतात्मकेन न मग्नतादिरूपकल्याणप्राप्तिरिति भावतः स्थिरताऽवश्यं साधनीया। भावस्थैर्यसहितेनैव द्रव्यादिस्थैर्येणेष्टसिद्धेः। यदुक्तम्–"प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्। उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषमि"ति भावः। उपमाऽलङ्कारः॥ ३॥

ननु तर्हि वागादिगुप्त्यादिक्रिया निष्फलेत्यायातम्, तच्चाऽनिष्टम्। लोकानां तत्राऽप्रवृत्त्यापत्तेरिति शिष्यशङ्कां स्वयमेव समादधदाह—

अन्तर्गतं महाशल्यमस्थैर्यं यदि नोद्धृतम्।
क्रियौषधस्य को दोषस्तदा गुणमयच्छतः॥ ४॥

अन्तरिति । यदि–यदा, अन्तर्गतम्–हृदयस्थम्, पक्षे शरीरान्तर्विद्धम्, महाशल्यम्–महच्च तच्छल्यं शङ्कुकीलकादि च, तदिव । महाशल्यतुल्यमित्यर्थः । "शल्यं शङ्कावि"ति हैमः । अस्थैर्यम्–विषयाऽभिमुखमनोवृत्तिः, नोद्धृतम्–न विशोधितम्, पक्षे नोत्खातम् । तदा–अस्थैर्यशल्याऽनुद्धारदशायाम् । गुणम्–मग्नतासुखादिलाभम्, पक्षे पीडानिवृत्तिम्, अयच्छतः–अप्रददतः, अकुर्वत इत्यर्थः । क्रियौषधस्य–क्रिया कायगुप्त्यादिरावश्यकादि-क्रियौषधमिव, तस्य । को दोषः–कोऽपराधः ? । न कोऽपीत्यर्थः । शल्ये हि विद्धेऽनुद्धृते सत्यौषधस्य गुणाकरणं नौषधस्य दोषः, किन्तु शल्यस्यैव । औषधकृतगुणस्य शल्यकृतपीडया पराभवात् । तथा हृदयेऽस्थिरे क्रियाऽऽवश्यकादिका निष्फला चेन्न सा क्रियाया दोषोऽपि त्वस्थैर्यस्यैव । क्रियाकृतगुणस्याऽस्थैर्येण विलोपनात् । अतः स्थिरो भवेत्युपदेशः ॥ ४ ॥

अथ स्थैर्यमुपादेयमिति शिष्यप्रबोधाय फलमुखेन स्थिरता-मभिष्टौति—

स्थिरता वाङ्मनःकायैर्येषामङ्गाङ्गितां गता ।
योगिनः समशीलास्ते ग्रामेऽरण्ये दिवा निशि ॥५॥

स्थिरतेति । येषाम्–यत्प्रकाराणां योगिनाम्, वाङ्मनः-कायैः–वाचा मनसा कायेन शरीरेण नेत्रादीन्द्रियविशिष्टेन च कृत्वा, स्थिरता–इन्द्रियमनःप्रभृतीनामन्तर्मुखवृत्तिता, अङ्गाङ्गिताम्–अङ्गाङ्गिभावं तादात्म्यं तथापरिणामरूपतां वा । गता–प्राप्ता ।

अङ्गी योग्यात्मा, तस्य वाङ्मनःकायैः कृत्वा स्थिरतापरिणामोऽङ्गमित्येवमङ्गाङ्गिभावो योगिस्थिरतयोरिति बोध्यम् । ते-तादृशाः स्थिरतया प्राप्ताऽङ्गाङ्गिभावाः, योगिनः-मग्नतारूपयोगव्यापृता जीवाः, ग्रामेऽरण्ये दिवा निशि-सर्वत्रस्थले सर्वत्रकाले चेत्यर्थः । समशीलाः-समचित्तवृत्तयः, भवन्तीतिशेषः, सर्वत्रैकस्वभावा एव तिष्ठन्ति, न तु क्वापि कथमपि क्षुभ्यन्ति । एवं च तेषां मग्नतापर्यायः समुदेति । स्थिरतायास्तद्धेतुत्वात्कारणसत्त्वे कार्याऽवश्यम्भावादिति भावः । स्थिरता समताहेतुरिति हृदयम् ॥ ५ ॥

शिष्यं मग्नतास्थिरतयोः कार्यकारणभावं बुबोधयिषुः स्थिरतया मग्नतालाभे विकल्पानामास्रवाणां च निरोधरूपं द्वारमाह—

स्थैर्यरत्नप्रदीपश्चेद्दीप्रः सङ्कल्पदीपजैः ।
तद्विकल्पैरलं धूमैरलं धूमैस्तथाऽऽस्रवैः ॥ ६ ॥

स्थैर्येति । चेद्-यदि, स्थैर्यरत्नप्रदीपः-स्थैर्यमुपशम एव विकल्पात्मकधूमादिरहितत्वात्सदाप्रकाशकत्वान्निर्मलत्वाच्च रत्नप्रदीपो रत्नात्मकप्रदीप इव, सः । दीप्रः-दीपनशीलः, प्रकाशमान इत्यर्थः । आत्मतादात्म्यापन्न इति यावत् । तत्-तदा, सङ्कल्पदीपजैः-सङ्कल्पो विविधमनोवृत्तिः, स एव दीपो विषयविकल्पात्मकधूमजनकत्वात्तज्जैस्तस्माज्जातैः, विकल्पैः-विकल्पात्मकैः, विविधविषयस्मरणात्मकैरिति यावत् । धूमैः-आत्मगृहकालुष्यरूपकज्जलजनकत्वाद्भवपीडाजनकत्वाच्च धूमतया प्रतिराध्यमानत्वाद्धूमैः, तथा-पुनः, अलम्-अत्यर्थम्, धूमैः-अतिशयेनाऽऽत्ममलिनी-

करणाद्भवपरम्परारूपपीडाधिक्यकरणाच्च धूमेभ्योऽप्यतिशयितैर्हेयत्वाद्धूमवन्मलिनैश्च, आस्रवैः—कर्मबन्धप्रयोजककायवाङ्मनोयोगैः, अलम्—कृतम्, न ते भवन्ति, न वा तैः किमपि कर्तुं शक्यमिति चार्थः। स्थैर्ये हि सति विकल्पानामास्रवाणां च निरोधो जायते। तन्मूलस्य चित्तचाञ्चल्यस्याऽभावादिति स्थिरताऽवश्यमुपादेयाऽस्थैर्यं चाऽवश्यं हेयम्। यथा न विकल्पैरास्रवैश्चाऽऽमालिन्यं कर्मबन्धश्च भवेदितिभावः। रूपकमुपमा वा ॥ ६ ॥

शिष्यस्याऽस्थैर्ये विशेषतोऽरुचये ततोऽपायान्तरमाह—

उदीरयिष्यसि स्वान्तादस्थैर्यं पवनं यदि।
समाधेर्धर्ममेघस्य घटां विघटयिष्यसि ॥ ७ ॥

उदीरयिष्यसीति। वत्सेति सम्बोधनं प्रकरणाल्लभ्यम्। यदि, स्वान्तात्—चित्तमवधिं कृत्वा, चित्तवृत्तिरूपमित्यर्थः। अस्थैर्यपवनम्—अस्थैर्यमेव धर्ममेघघटाविघटनात्पवनो वायुरिव, तम्, उदीरयिष्यसि—उत्प्रेरयिष्यसि, प्रकटयिष्यसीत्यर्थः। चित्तचाञ्चल्यं धारयिष्यसीति यावत्। तदेति यद्यर्थबलाल्लभ्यते। धर्ममेघस्य—धर्मस्याऽङ्कुरादेर्मेघवत्प्ररोहपोषवृद्ध्यादिकरत्वान्मेघः, तद्रूपस्य, समाधेः योगत्रयाऽऽत्मैकतानताया मानससर्वप्रकारवृत्तिनिरोधरूपाऽसम्प्रज्ञातसमाधेर्धर्ममेघ इतिख्यातस्येत्यर्थः। घटाम्—समूहम्, समाधिपक्षे तदुत्कर्षं सातिशयत्वं वा, विघटयिष्यसि—नाशयिष्यति। यथा हि पवनेन मेघा विनश्यन्ति, तथाऽस्थैर्येण समाधिर्विनश्यति।

स्थिरतां विना समाधेरनुपपत्तेः। एवञ्च फलतस्तादृशसमाध्यनन्तरभावि कैवल्यप्रतिरोध एव जायते इति महानर्थकरमस्थैर्यं येन केनाऽपि प्रकारेण त्यजैवेति भावः। रूपकमलङ्कारः॥ ७॥

स्थिरता हि सर्वदा सर्वेष्वेवेष्टा, कैवल्याऽनुगुणत्वादिति तदवश्यं साधनीयमिति शिष्यमुपदिशन्नुपसंहरति—

चारित्रं स्थिरतारूपमतः सिद्धेष्वपीष्यते।
यतन्तां यतयोऽवश्यमस्या एव प्रसिद्धये॥ ८॥

इति महामहोपाध्यायश्रीमद्यशोविजयोपाध्यायविरचिते ज्ञानसारे स्थिरताऽष्टकं नाम तृतीयमष्टकम्॥ ३॥

चारित्रमिति। स्थिरतारूपम्—स्थैर्यात्मकम्, चारित्रम्—संयमः, अस्तीतिशेषः। अतः—चारित्रस्य स्थिरतारूपत्वादेव, सिद्धेषु—मुक्तेष्वपि, अमुक्तेषु तु कथैव केत्यपिना सूच्यते। इष्यते—इष्टम्। चारित्रं स्थिरतारूपं क्रियारूपं च। तत्र क्रियारूपस्य चारित्रस्याऽशरीरेषु मुक्तेष्वसम्भवात्स्थिरतारूपमेव तत्तत्र। आत्मप्रदेशस्थिरताया मुक्तात्मस्वभावभूतगुणत्वादिति भावः। अत एव, अस्याः—मुक्ताऽमुक्तसाधारणतयाऽवश्योपादेयायाः स्थिरतायाः, एवकारो भिन्नक्रमोऽवश्यमित्यनेन सम्बध्यते। प्रसिद्धये—प्रकर्षेण सिद्धये लाभाय, यतयः—साधवो यमनियमपराः, अवश्यमेव, यतन्ताम्—सोद्यमा भवन्तु। यतीनामेतदावश्यकमिति शिष्याः! यूयमपि यतयोऽवश्यमेतत्सिद्धये यतध्वम्। यद्धि सर्वत्राऽऽवश्यकं तत्सिद्धौ कः प्रेक्षावानुदासीतेति हृदयम्॥ ८॥

इति ज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृ-कविरत्न-पन्न्यासप्रवर-श्रीयशो-भद्रविजयजीगणिवरशिष्यपन्न्यासश्रीशुभङ्करविजयगणिविरचितायां भद्रङ्करोदयाख्यव्याख्यायां तृतीयं स्थिरताऽष्टकं समाप्तम् ॥ ३ ॥

## अथ मोहत्यागाऽष्टकम् ॥ ४ ॥

स्थिरतासिद्धये यतनीयमित्युक्तम्, उपायस्तु नोक्तः। अतः कथं सा साध्येति किं कर्त्तव्यताविमूढं शिष्यमुपलक्ष्य मोहत्यागरूपमुपायं मोहस्वरूपमुपलक्षयन्नाह—

अहं ममेति मन्त्रोऽयं मोहस्य जगदान्ध्यकृत्।
अयमेव हि नञ्पूर्वः प्रतिमन्त्रोऽपि मोहजित् ॥ १ ॥

अहमिति। मोहस्य-स्वनामख्यातस्य मोहनीयकर्मणः कार्यं कारणोपचारान्मोहनीयविपाकजबुद्धेरपि मोहपदवाच्यतेति त्वन्यदेतत्। मन्त्रपदश्रुत्या तद्रूपस्य देवस्येति ध्वनिः। अहं मम धनादिसम्बन्धित्वेनाऽऽत्मबोधकाहम्पदघटितः परस्मिन्त्स्वत्वबोधकममपदघटितश्चतुरक्षराऽऽत्मकः, इति उक्ताऽनुपूर्वीविशिष्टः, अयम्—सद्य एव कीर्त्यमानः श्रूयमाणश्च। मन्त्रः—मन्त्रपदवाच्यो मोहदेवाऽधिष्ठिताऽक्षरसमूहविशेषः मोहस्याऽक्षरात्मकं शरीरमित्यर्थः। मन्त्रो हि देवाऽधिष्ठितो भवतीति भावः। ननु स मन्त्रश्चेतेन किं साध्यमित्यपेक्षायामाह—जगदान्ध्यकृत्—जगत उपलक्षणत्वात्सर्वजीवस्याऽऽन्ध्यमन्धत्वं स्वस्वरूपाऽनवभासं विपरीतज्ञानजननं ज्ञानचक्षुरावरणं च करोतीति स तादृशः। अन्धो हि न पश्यति, वस्तु च यथास्थितं न जानाति, तिमिराद्यावृतदृष्टिश्च भवति। तथाऽहं ममेति मन्त्राऽभ्यासवशाज्जीवः शुद्धमात्मस्वरूपं न पश्यति, स्वभिन्नं

विषयं च स्वं जानाति, आवृतसम्यग्ज्ञानश्च भवति। तदेतत्सुष्ठूक्तं जगदान्ध्यकृदिति। मोहनीयकर्मविपाके सत्येवाऽहं ममेति बुद्धिः। यदुक्तम्–" अनित्यधनदेहादौ नित्यत्वेन ममेति च। अज्ञानेनावृता बुद्धिर्मोह इत्यभिधीयते " इति। ननु स्थिरता कथं लभ्येति जिज्ञासोर्मोहस्वरूपोपदेशो दीक्षार्थिनो विवाहप्रस्ताव इवाऽनवसरपाठ इत्याक्षेपं निराचिकीर्षुराह–अयमिति। हिः पुनरर्थे। एवञ्च मोहस्वरूपमजानतो मोहजयोपदेश आकाशे चित्रकर्मोपदेश इव मा जनीति पूर्वं मोहस्वरूपोपदेश इति ध्वन्यते। अयम्–स मन्त्र एव, एवकारेण न्यूनाधिक्यस्य भिन्नाक्षरमन्त्रस्य च व्यवच्छेदः। नञ्पूर्वः नञ् शब्दः पूर्वः पूर्वमुच्चारितो यस्य स तादृशः सन्। नाऽहं न ममेत्येवमक्षरात्मकः इत्यर्थः। प्रतिमन्त्रः प्रतिस्पर्धी मन्त्रः। अपिना मन्त्रपरामर्शः। स यथा मन्त्रस्तथा विशिष्टः सन् प्रतिमन्त्रश्चेत्यर्थः। ननु स प्रतिमन्त्र इति कथं ज्ञायते इत्याकाङ्क्षायामाह–मोहजित्–मोहनाशकः। अत एव स प्रतिमन्त्रः, प्रतिकूलकार्यकरणात्। ततश्च मोहरूपकारणाऽभावात्तन्मन्त्रकृतस्याऽन्धत्वस्याऽभावः सुतरामिति बोध्यम्। यदा ह्यहङ्कारो विषयेषु ममत्वं च त्यज्येते, तदा मोहो नश्यति, स्थिरता चोदेति, ततश्च क्रमेण मग्नतादिलाभः। विषयेषु ममत्वेऽहङ्कारे च सति चित्तचाञ्चल्याऽवश्यम्भावान्मोहवशाद्विषयमनुमनसो धावनान्न मग्नतादिलाभसम्भव इति हृदयम्॥ १॥

ननु नाऽहं न ममेति मन्त्रो दुर्जयः, अहं पदवाच्यस्याऽऽत्मनो मम पदवाच्यस्य ज्ञानादिगुणादेश्चाऽपलापप्रसङ्गादित्याशङ्कातङ्कित-

स्वान्तं शिष्यमनुजिघृक्षुर्वास्तवं पदार्थमाह—

**शुद्धात्मद्रव्यमेवाऽहं शुद्धं ज्ञानं गुणो मम।**
**नाऽन्योऽहं न ममाऽन्ये चेत्यदो मोहास्त्रमुल्बणम् ॥ २ ॥**

शुद्धेत्यादि। अहम्—अहमित्येवं साक्षात्कारविषय आत्मा, **शुद्धात्मद्रव्यम्**—कर्मकालुष्यादि धनादिसम्बन्धरहितत्वान्निर्मलं शुद्धनयेष्टं निरुपाधिकं चाऽऽत्मद्रव्यमात्माऽऽख्यं द्रव्यमेव, विकल्परहितचैतन्यविशिष्टसत्तामात्रस्वरूपमित्यर्थः। एवकारेण गुणस्थानाद्यपेक्षयाऽऽरोपित चतुर्दशभेदभिन्नाऽऽत्मद्रव्यव्यवच्छेदः। शुद्धनये आत्मन एकरूपत्वादिति बोध्यम्। तथा, **मम** आत्मनः, **शुद्धम्**—विकल्परहितत्वान्निर्विकल्पकं निरावरणमात्ममात्रविषयत्वान्निर्मलम्, **ज्ञानम्** सम्यग्ज्ञानम्, एवेत्यत्राऽपि सम्बध्यते। यद्वा सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायाच्छुद्धज्ञानमेवेत्यर्थः। **गुणः**—धर्मः, अहं शुद्ध आत्मा स्वामी शुद्धं ज्ञानं च स्वमित्यर्थः। अन्यादृशस्तु कल्पित इति स नाऽहम्, अत एवाऽन्ये उपाधयो न ममेति भावः। तदेवाऽह—**अहम्**, **अन्यः**—अन्यादृशः, धनादिसम्बन्धोपाधिविशिष्टत्वादन्य इवोपलक्ष्यमाणः, **न**—नैव, **चो** हेतौ। यतः, **मम**—मत्सम्बन्धितया मम पदप्रतिपाद्याः, **अन्ये** धनादयो विषयाः न नैव। यतो नाऽन्यो ममाऽतोऽहं नाऽन्यः, किन्तु शुद्धात्मैवेत्यर्थः। **इति**—उक्तस्वरूपम्, **अदः**—सद्यो ज्ञायमानम्। **उल्बणम्**—अतिस्पष्टतया तीक्ष्णतरम्, "स्फुटे स्पष्टं प्रकाशं प्रकटोल्बणे" इति हैमः। **मोहास्त्रम्**—मोहस्य नाशकत्वात्तत्सम्बन्ध्यायुधम्। उक्तप्रकाराऽऽख्यप्रयोगेण मोहस्य निश्चयेन नाशादिति भावः। एवञ्च विषय-

स्वामित्वेन स्वस्य विषयस्य च स्वत्वेन भावनायास्त्यागपरतयैव नाऽहं न ममेति प्रतिमन्त्रोऽभ्यसनीयः । शुद्धात्मनि शुद्धज्ञाने चाऽहं ममेति मन्त्रस्य मोहाऽक्षरशरीरत्वाऽभावात्तत्प्रतिमन्त्रोऽपि न तादृशाऽथाऽक्षरशरीर इति हृदयम् ॥ २ ॥

शिष्याणां मोहे हेयत्वस्य मोहत्यागे चोपादेयत्वस्य दार्ढ्यार्थं फलमाह—

यो न मुह्यति लग्नेषु भावेष्वौदयिकादिषु ।
आकाशमिव पङ्केन नाऽसौ पापेन लिप्यते ॥ ३ ॥

य इति । यः—यत्प्रकारः पूर्णतामभीप्सुः शुद्धबुद्धिर्जीवः, लग्नेषु—सम्बद्धेषु सत्सु, आत्मनस्तत्तद्भावरूपेण परिणतिर्हि तद्भावानां लग्नतेति बोध्यम् । प्राप्तेषु सत्स्वित्यर्थः । विशेष्याकाङ्क्षायामाह—औदयिकादिषु—उदयः कर्मणां स्वविपाकवशात्फलदानाऽभिमुखता, तत्र भव औदयिकः, स आदिर्येषां ते तादृशा औदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकपारिणामिकाः, तेषु तथा ख्यातेषु, भावेषु—आत्मपरिणामविशेषेषु विषये, न—नैव, मुह्यति—मोहं प्राप्नोति । मोहो हि ममत्व बुद्धिरिष्टेऽनिष्टे च द्वेषोऽपि । ततश्च विषयेषु रागद्वेषं न करोति, औदयिकादिभावं च स्वं न मन्यते । अपि तु स्वस्वभावस्थस्तटस्थेन वर्त्तते, कर्मफलस्याऽवश्यभोक्तव्यत्वमवेत्य रागद्वेषौ विनैव तत्तद्भाववशात्प्राप्तं फलं भुनक्ति, स्वयं च तादृशभावेषु न प्रीतो नाप्यप्रीतः समभावेन वर्त्तते इति हृदयम् । असौ—तादृशो विरलो जीवः, पापेन—तदा-

रूपेण कर्मणा, आकाशं पङ्केनेव, न लिप्यते—न बध्यते । विषया-हि सम्पर्कमात्रेण न स्वतः कर्मबन्धप्रयोजकाः, किन्तु तज्जनित-रागद्वेषद्वारा । यदुक्तम्—" युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् । अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यत " इति, " रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् । आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छती " ति, " लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाऽम्भसे " ति, " यो न हृष्यति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिते " ति च । एवञ्चौदयिकादिभावस्थस्य कर्मफलरूपेण विषयोपभोगमात्रेण न कर्मबन्धः, किन्तु तादृशभोगे मोहात्स इति सर्वाऽनर्थमूलतया मोहोऽवश्यहेयः, मोहत्यागश्चाऽवश्यसाध्यः, यथा न कर्मबन्धः स्यादिति भावः ॥ ३ ॥

ननु भवक्लेशेन खेदस्याऽवश्यंभावात्तन्निमित्तेषु द्वेषो दुष्परि-हर इति साशङ्कं शिष्यं तत्त्वमाह—

पश्यन्नेव परद्रव्यनाटकं प्रतिपाटकम् ।
भवचक्रपुरस्थोऽपि नाऽमूढः परिखिद्यति ॥ ४ ॥

पश्यन्निति । अमूढः—मोहरहित; इष्टाऽनिष्टेषु रागद्वेषशून्यः, सम्यग्ज्ञानादिना समत्वसंस्कृतमतिरिति यावत् । भवचक्रपुरस्थः—भवानां कर्मवशाज्जायमानानां तत्तद्योनिजन्मनां चक्रं समूहः, भवपरम्परेति यावत् । तदेव कर्मनृपाऽऽधिवासभूमित्वादेकेन्द्रि-यादिपाटकरथ्यादिसमग्रत्वात्पुरं नगरम्, तत्स्थः कर्मवशाद्भवं प्राप्तः कर्मफलं भुञ्जानः, अपिना भवे खेदाऽवश्यम्भावो भवादन्यत्र

खेदाऽत्यन्ताऽभावश्च कारणाऽभावादिति द्योत्यते । सन्निति शेषः । **प्रतिपाटकम्**—पाटके पाटके, पाटको ग्रामार्धः । उपलक्षणत्वाद्ग्रामभागोऽपि । भवचक्रपुरस्य चैकेन्द्रियादिर्भागः, तत्र प्रतिभागे स्वस्मिंश्च, **परद्रव्यनाटकम्**—पराणि स्वभिन्नानि यानि द्रव्याणि कर्मपुद्गलरूपाणि, तन्निमित्तत्वात्तेषां नाटकं कर्मपुद्गलजनिताऽभिनवविविधजन्ममरणादिरूपदृश्यश्रव्यपरिणामपरम्परारूपत्वान्नाटकप्रकारत्वान्नाटकम् । **पश्यन्**—अनुभवन्, एवकारो हेतौ । यतस्तथा पश्यतः न—नैव, **परिखिद्यति**—खेदाऽतिशयं प्राप्नोति । जन्माद्येव भवक्लेशः, तच्च सर्वसाधारणं पुद्गलकृतं न तु स्वयं कृतम् । यच्च तथा, तत्प्राप्तौ न कस्याऽपि खेदो ज्ञानिनः, आत्मनः शुद्धस्वभावस्य परकृतहर्षविस्मयादेरभावात् । मूढस्यैव तु स जायते । अतो मोहस्त्याज्यः, तत्त्यागे चाऽमूढस्य न खेद इति महाँल्लाभः । अमूढो हि तादृस्थ्येन समभावेन सर्वं पश्यति, न तु क्वापि रज्यति द्वेष्टि वा । अतस्तस्य न खेदोऽपि । यदुक्तम् " इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मन " इति भावः । अतिशयोक्त्यनुप्राणितो रूपकालङ्कारः । क्वचित्परिखिद्यते इति पाठः । परिखिद्यतीति पाठोऽपि साधुरेव " खिद्यति काव्ये न मौख्यें स्वे " इत्यादौ परस्मैपदस्याऽपि दर्शनात् ॥ ४ ॥

सम्प्रति शिष्यस्य मोहे हेयत्वभावनादार्ढ्याय पृथक्तद्विजृम्भितमाह—

**विकल्पचषकैरात्मा पीतमोहाऽऽसवो ह्ययम् ।**
**भवोच्चतालमुत्तालप्रपञ्चमधितिष्ठति ॥ ५ ॥**

विकल्पेति । अयम्–सद्यः स्वस्मिन् परस्मिंश्चाऽनुभूयमानः, आत्मा–जीवः, विकल्पचषकैः–विकल्पा इदमिष्टमिदमनिष्टमित्येवं रागद्वेषाद्युल्लेखिमनोवृत्तयो विषयोल्लेखिमनोवृत्तयो वा, विषयचिन्तनानीति यावत् । त एव मोहासवपानसाधनत्वाच्चषकास्तदाख्यमदिरापानपात्राणि, तैः कृत्वा, विकल्पगल्वर्कैरित्यर्थः । " गल्वर्कस्तु चषकः स्यात्सरकश्चाऽनुतर्षणमि " ति हैमः । पीतमोहासवः–पीतो मतिविषयीकृतः कण्ठादधःकृतश्च मोहो ममत्वमेव सम्यग्ज्ञानतिरोधायकत्वादासवो मद्यं येन स तादृशः सन् । विषयविकल्पतो हि तत्र ममत्वं जायते । यदुक्तम्-" ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते । सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते । क्रोधाद्भवति संमोह " इति । हि–निश्चयेन, भवोच्चतालम्–भवः पुनः पुनर्जन्मग्रहणं तदधिष्ठानं लोकश्चैवोच्चस्तालो हस्ततालो यत्र तादृशः पानगोष्ठी, तम् । उत्तालप्रपञ्चम्–उदुच्चैस्तालो हस्ततालस्तस्य प्रपञ्चो विस्तारो यथा स्यात्तथा, अथ चोत्तालोऽत्युत्कटो बाल्ययुवत्वादिरूपः प्रपञ्चो विस्तारो यथा स्यात्तथा । अधितिष्ठति–आश्रयति । " पानगोष्ठ्यामुच्चतालमि "तिः हैमः । मद्यं पीत्वा हि मत्ताः पानगोष्ठ्यामुच्चैस्तालं दत्त्वा नृत्यादि कुर्वन्ति, तथा विषयचिन्तनेन जातमोह आत्मा बाल्याद्यवस्था बहुलां भवपरम्परां यातीत्यर्थः । तस्माद्विषयवैराग्यपूर्वकं मोहत्यागोऽवश्यं विधेयो भवभीतेन मुमुक्षुणा, मोहस्य भवपरम्परारूपाऽनर्थपरम्पराऽऽपादकत्वादिति भावः । परम्परितरूपकाऽलङ्कारः ॥५॥

नन्वात्मा चेतनः, चेतना च विषयोल्लेखिनीति विकल्पस्य

स्वाभाविकत्वात्तत्त्यागोऽशक्य इति साऽऽशङ्कं शिष्यं तत्त्वमुपदिशन्नाह—

निर्मलं स्फटिकस्येव सहजं रूपमात्मनः ।
अध्यस्तोपाधिसम्बन्धो जडस्तत्र विमुह्यति ॥ ६ ॥

निर्मलमिति । आत्मनः—जीवस्य, सहजम्—स्वाभाविकम्, निश्चयनयेष्टमिति यावत् । रूपम्—स्वरूपम् स्वभाव इत्यर्थः । "रूपं स्वभावे सौन्दर्ये" इत्यमरः । स्फटिकस्य—तदाख्यरत्नविशेषस्येव, निर्मलम्—निर्विकल्पकं शुद्धं च । स्फटिकं यथा स्वभावात्स्वच्छं भवति, तथाऽऽत्माऽपि निश्चयनयेन निर्विकल्पचिदात्मकत्वाच्छुद्धस्वभाव इत्यर्थः । ननु तर्हि कथं तत्र मोहाऽऽविर्भाव इत्याशङ्कायामाह—अध्यस्तेत्यादि । तत्र—तादृशे शुद्धे आत्मनि स्फटिके च, जडः—सम्यग्ज्ञानवञ्चितोऽविवेकी मन्दमतिश्च जनः, वस्तु याथात्म्यानभिज्ञत्वादज्ञानी जन इत्यर्थः । अध्यस्तोपाधि सम्बन्धः—अध्यस्तोऽसत्त्वेऽपि सत्त्वेन कल्पितोऽज्ञानादारोपित उपाधेर्विषयस्य रक्ततादेश्च सम्बन्धः स्वस्वामिभावतादात्म्यादिरूपो येन स तादृशः सन्, विमुह्यति—मोहमेति । अस्वमपि स्वममलमपि मलिनं जानातीत्यर्थः । यथाहि रक्तपुष्पादिसन्निधौ स्फटिके रक्तता मूर्च्छति, अज्ञश्च परमार्थाऽनभिज्ञत्वात्स्फटिकमेव रक्तं मन्यते, तथाऽस्वे विषयादौ स्वत्वाद्यारोप्याऽविवेकी सम्यग्ज्ञानविकलो जनो रागद्वेषादि कुर्वन् मुह्यति । एवञ्चाऽज्ञानादेवाऽऽत्मनि सविकल्पकत्वभानम्, वस्तुतस्तु स निर्विकल्प एवेति सम्यग्ज्ञानेन विषयेषु विवेकं गृहीत्वा मोहमुत्सृजेत् । मोहस्य कृत्रिमतया तत्त्यागस्य सुकरत्वा-

दिति भावः ॥ उपमाऽलङ्कारः ॥ ६ ॥

मोहत्यागसुखं कीदृशमित्यज्ञात्वा कथं मोहत्यागे समुत्सहेत जन इति स्फुरिताऽधरस्य शिष्यस्य मनोभावमनुमाय समाधत्ते—

अनारोपसुखं मोहत्यागादनुभवन्नपि ।
आरोपप्रियलोकेषु वक्तुमाश्चर्यवान् भवेत् ॥ ७ ॥

अनारोपेति । मोहत्यागात्—तथाविधचारित्रपालनादिना मोहनीयक्षयोपशमात्, लक्षणया तज्जन्यसम्यग्ज्ञानात्, अनारोपसुखम्—अविद्यमान आरोप उपाधिसम्बन्धाऽध्यासो यत्र तादृशं सुखम्, स्वाभाविकसुखमित्यर्थः । अनुभवन्—मानसप्रत्यक्षविषयं कुर्वन्नपि कश्चिद्विरलः पुण्यात्मा, अपिनाऽननुभवतस्तु कथैव केति सूच्यते । आरोपप्रियलोकेषु—इदं ममेत्येवमस्वेऽपि स्वत्वारोपः प्रियोऽज्ञानादिष्टो येषां तेष्वज्ञेषु लोकेषु विषये, वक्तुम्—उपदेष्टुम्, अनारोपसुखमिति क्रमाऽऽकाङ्क्षाबलात्सम्बध्यते । आश्चर्यवान्—विस्मितः, भवेत्—जायेत । अनारोपसुखं ह्यनुभूतिविषयो न तु वाग्विषयः । यच्चाऽनुभवति तद्वक्तुं न शक्नोतीति विस्मयते इत्यर्थः । अतोऽनारोपसुखजिज्ञासूनां मोहं त्यक्त्वैव तज्ज्ञातव्यं न तूपदेशादिना, तस्योपदेष्टुमशक्यत्वादित्यनिर्वचनीयत्वं तस्य सूचितमिति ध्येयम् । यदुक्तम्—" ज्ञानमग्नस्य यच्छर्म तद्वक्तुं नैव शक्यते । नोपमेयं प्रियाऽऽश्लेषैर्नाऽपि तच्चन्दनद्रवैरि "ति ॥ ७ ॥

शिष्यं भङ्ग्या मोहत्यागोपायमुपदिशन्नुपसंहरति—

यश्चिद्दर्पणविन्यस्तसमस्ताऽऽचारचारुधीः ।
क्व नाम स परद्रव्येऽनुपयोगिनि मुह्यति ॥ ८ ॥

इति महामहोपाध्याय श्रीयशोविजयोपाध्यायविरचिते ज्ञानसारे मोहत्यागाऽष्टकं नाम चतुर्थमष्टकम् ॥ ४ ॥

य इति । यः—यत्प्रकारः पुण्यात्मा, चिद्दर्पणविन्यस्तसमस्ताऽऽचारचारुधीः—चिदेव निर्विकल्पकत्वान्निर्मलत्वादाचारादिविषयकतया प्रतिबिम्बग्राहितया दर्पण आदर्शः, तत्र शुद्धचिद्दर्पणे विन्यस्तः प्रतिबिम्बितः, स्थापित इत्यर्थः । शुद्धबुद्धिपूर्वकमनुष्ठित इति यावत् । तादृशो यः समस्तः समग्रो न तु कतिपय एव य आचारः प्रसिद्धं ज्ञानाद्याचारपञ्चकम्, निर्व्याज आचार इति समुदितसाराऽर्थः । तेन कृत्वा चार्वी निर्दोषत्वान्मनोज्ञा धीर्बुद्धिर्यस्य स तादृशः, शुद्धबुद्धिपूर्वकाऽऽचारवत्त्वात्प्रशस्यबुद्धिः, सज्ज्ञानोपासनमेव सकलाचार इतीदृशमतिरिति यावत् । शुद्धबुद्धिपूर्वकेणाऽऽचारेणैव सुमतित्वमुपलक्ष्यत इति भावः । सः—तादृशः, चारुबुद्धिजनः। क्व नाम—कस्मिन् खलु, अनुपयोगिनि—उपयोगाऽनर्हे, परद्रव्ये—आत्मभिन्ने द्रव्ये पुद्गलादिरूपे, मुह्यति—काक्वा, नैव मुह्यतीत्यर्थः । न रागद्वेषादिकरोतीति यावत् । शुद्धे ज्ञाने एव सकलाऽऽचारमारोपयतः—ज्ञानोपासनमेव सकलाचार इत्येवं मन्यमानस्य सुमतेर्नाऽऽत्मभिन्ने द्रव्ये मोहो जायते, आत्मज्ञानाऽनुपयोगित्वादिति सम्यग्ज्ञानाराधनमेव मोहत्यागोपाय इति तदर्थमेव सर्वथा सर्वदा च यतनीयमिति भावः ॥ ८ ॥

इति श्रीज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृ-कविरत्न-पन्न्यासप्रवर-श्रीयशोभद्रविजयजीगणिवरशिष्यपन्न्यासश्रीशुभङ्करविजयगणिविरचितायां भद्रङ्करोदयाख्यव्याख्यायां मोहत्यागाऽष्टकं नाम चतुर्थमष्टकम् ॥ ४ ॥

## ॥ अथ ज्ञानाऽष्टकम् ॥ ५ ॥

ज्ञानिनो न मोह इत्युक्तम्। तत्र किं ज्ञानमिति शिष्यस्योत्थितामाकाङ्क्षां कलयित्वाऽऽदौ तटस्थया ज्ञानाऽज्ञाने निरूपयन्नाह।

मज्जत्यज्ञः किलाऽज्ञाने विष्ठायामिव शूकरः।
ज्ञानी निमज्जति ज्ञाने मराल इव मानसे ॥ १ ॥

मज्जतीति। अज्ञः—असम्यक्तयाऽविद्यमानमिव ज्ञानं यस्य स तादृशः। विषयपरतन्त्रो रागादिग्रस्तबुद्धिर्हेयोपादेयविवेकविकल इति वाऽर्थः। ज्ञानफलं विरतिरिति तद्रहित इति यावत्। सम्यग्ज्ञानाऽभावे हि जडत्वमेव वरम्, यदुक्तम्—"शुभोदर्काय वैकल्यमपि पापेषु कर्मस्वि" ति भावः। अज्ञाने—कार्ये कारणोपचारादज्ञानकार्ये विषयाऽऽसेवादौ, शूकरः—स्वनामख्यातः पशुविशेषः किटिः, विष्ठायाम्—पुरीष इव, मज्जति—मग्नो भवति, साभिनिवेशं प्रवर्त्तत इत्यर्थः। किलेति विषयवस्तुत्वे, वास्तवमेतन्नत्वलीकमित्यर्थः यथाः शूकरः स्वादु शुचि च भक्ष्यमुपेक्ष्य विष्ठैकमनाः प्रवर्त्तते, तल्लाभेऽन्यदुपेक्षते च स्वादुत्वशुचित्वजडत्वात्। तथाऽज्ञोऽज्ञानादेव हेतोरज्ञाने प्रवर्त्तते, ज्ञानं चोपेक्षते, ज्ञानाऽपरिचयादिति विशदोऽर्थः। नन्वज्ञ एवम्, ज्ञानी पुनः कीदृश इत्याकाङ्क्षानिवृत्तये आह—ज्ञानी—अज्ञविपरीतः, विषयविमुखो रागादिरहितमतिर्हेयोपादेयविवेकवानिति वाऽर्थः सम्यग्ज्ञानवानिति यावत्। ज्ञाने—ज्ञानकार्ये मोहोन्मूलनादौ, मरालः—हंसः, मानसे—तदाख्यसरसीव, निमज्जति—लक्षणयासर्वथा प्रवर्त्तत

इत्यर्थः। विषयाणां विषमपरिणामत्वज्ञानाद्रागादेः श्रेयः-परिपन्थित्वमवधार्य तत्त्याग एव यतत इति सारार्थः। संयतः संयतो भवतीति न्यायेनाऽज्ञोऽज्ञाने ज्ञानी च ज्ञाने रमत इत्युचितमेव। नाऽज्ञस्य ज्ञाने ज्ञानिनश्चाऽज्ञाने रतिरित्यज्ञो यत्र रमते तदज्ञानं ज्ञानी च यत्र रमते तज्ज्ञानमिति तटस्थेन ज्ञानाऽज्ञानयोरेष विवेक इति समुदिततात्पर्यम्। उपमाऽलङ्कारः॥ १॥

नन्वागमाद्यधिगमपटवो बहवो न च मोहादिशून्या इति ज्ञानिनो ज्ञाने रतिरित्यश्रद्धेयमिति शिष्यनिर्वेदमाकलय्य नाऽऽगमाद्यधिगममात्रेण ज्ञानवान्, किन्त्वल्पाऽक्षरोऽपि निर्वाणपदभावनानिरत एवेत्याह—

निर्वाणपदमप्येकं भाव्यते यन्मुहुर्मुहुः।
तदेव ज्ञानमुत्कृष्टं निर्बन्धो नास्ति भूयसा॥ २॥

निर्वाणेति। **एकम्**-एकमात्रम्. **निर्वाणपदम्**-निर्वाणं मोक्षः, "निर्वाणं निर्वृतिः सुखमि"त्यमरः। तस्य तत्साधनभूतत्वात्तत्सम्बन्धिपदं सामायिकादिरूपाक्षरसमूहः। एतेनाऽऽगमादेरंशोऽशेनाऽप्यधिगमस्याऽऽवश्यकता सूचिता, नह्यन्यथा सामायिकादिपदलाभ इति बोध्यम्। यदित्युद्देश्योपदर्शने, **मुहुर्मुहुः**-पुनः पुनः, भृशमभीक्ष्णं च, न त्वेकवारमेव, **भाव्यते**-युक्तिपूर्वकं मन्यते, साऽनुष्ठानं स्मर्यते च। "ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः" इत्युक्तेरिति ध्येयम्। **तत्**-यत्पदोद्दिष्टमेव, एवकारेण केवलाऽधिकाऽधिगमस्य सकृत्तद्भावनायाश्च व्यवच्छेदः। **उत्कृष्टम्**-

साध्योपायतया पारमार्थिकत्वात्परमम्, ज्ञानम्–ज्ञानशब्दवाच्यम्, तादृशस्यैव तस्य मोक्षकारणत्वेन प्रतिपादनादिति भावः। उक्तं च– " श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः। श्रुत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतव " इति। एवकारव्यवच्छेद्यं स्वयमेव स्पष्टप्रतिपत्तये आह–भूयसा–बहुनाऽऽगमाद्यधिगमेन भावनाशून्येन; निर्बन्धः–अभिनिवेशः, बलवदाग्रह इत्यर्थः। नास्ति। विस्तरेणाऽध्ययनमात्रे नाऽऽग्रहः। किन्त्वल्पेऽपि भावनाऽऽग्रहः। यदुक्तम्–" शास्त्राण्यधीत्याऽपि भवन्ति मूर्खा यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्। अन्धस्य किं हस्ततलस्थितोऽपि प्रकाशयत्यर्थमिह प्रदीपः ? " इति, " श्रूयन्ते चाऽनन्ताः सामायिकमात्रपदसिद्धा " इति चेति भावः ॥ २ ॥

ननु ' निर्बन्धो नास्ति भूयसे ' त्यसमञ्जसम्, ' अधिकस्याऽधिकं फलमि 'त्युक्तेरिति विलक्षं शिष्यमुपलक्ष्यतां निजोक्तिं समर्थयन्नाह—

स्वभावलाभसंस्कारकारणं ज्ञानमिष्यते ।
ध्यान्ध्यमात्रमतस्त्वन्यत्तथा चोक्तं महात्मना ॥ ३ ॥

स्वभावेति। स्वभावलाभसंस्कारकारणम्–स्वभावस्याऽऽत्मस्वरूपस्य सच्चिदानन्दमयत्वस्य लाभाय प्राप्तये, साक्षात्कारायेत्यर्थः। आत्मसाक्षात्कारायेति यावत्। आत्मसाक्षात्कारो हि तत्स्वभावसाक्षात्कार एवेति बोध्यम्। यः संस्कारो हेयानां मोहादीनां त्यागेनोपादेयानां श्रवणमननादीनामुपादानेन च निर्मलीकरणरूप-

गुणान्तराऽऽधानं तस्य कारणं यावन्मात्रं तावदेव । "सर्वं वाक्यं साऽवधारणमितिन्यायादत्राऽवधारणं गम्यते इति बोध्यम् । ज्ञानम्–शास्त्राद्यधिगमः, इष्यते–इष्टम् । उपादेयत्वेनेति शेषः । ननु तावदेव किमितीष्टम् ?, ज्ञानाऽधिक्ये फलाधिक्यसम्भवादिति चेन्न । तदाह ध्यान्ध्यमिति । तुर्विशेषे । तमेवाह–अतः–उक्तप्रकारं ज्ञानमपेक्ष्य, अन्यत्–भिन्नम्, स्वभावलाभसंस्कारकारणज्ञानाधिकज्ञानमिति मिलितार्थः । ध्यान्ध्यमात्रम्–बुद्ध्यन्धतैव । आत्मस्वरूपप्रकाशनमेव बुद्धेः प्रकाशकत्वम्, वादप्रतिवादाद्युपयोगित्वं तस्या अन्धत्वमेव । नहि तादृशेन ज्ञानेन प्रकाशनीयस्याऽऽत्मनः प्रकाशनमित्यनिष्टाऽनुपयोग्यर्थान्तरप्रकाशनं नाऽन्धत्वादतिरिच्यते । वस्तुतः प्रकाशनीयस्याऽप्रकाशनेनेष्टाऽप्रकाशनात् । अन्धत्वेऽपि हीष्टाऽप्रकाशनमिति सुष्ठूक्तं 'ध्यान्ध्यमात्रमि'ति । ननु ज्ञानमनिष्टमित्यतिनवीनमुच्यत इति चेन्न । मदभिप्रेतस्याऽर्थस्य प्राचाऽप्यभियुक्तेन समर्थनादित्याह–तथा–मदुक्तानुगुणमेव, महात्मना–महान् हेयोपादेयविवेकविशेषपरिष्कृतत्वादितरविलक्षत्वादुत्कृष्ट आत्मा यस्य तेन तादृशेन, विशेषज्ञेन पतञ्जलिहरिभद्रसूर्यादिनेत्यर्थः । एतेन तदुक्तौ प्रमाणिकत्वं सूचितम् । महात्मनो युक्तिर्नाऽप्रामाणिकीति बोध्यम् । उक्तम्–प्रतिपादितम् । चो हेतौ, यतो महात्मनोक्तमतः श्रद्धेयं मद्वच इति भावः ॥ ३ ॥

ननु किमुक्तं महात्मनेति शिष्यजिज्ञासायामाह—

वादांश्च प्रतिवादांश्च वदन्तोऽनिश्चितांस्तथा ।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीलकवद्गतौ ॥ ४ ॥

वादांश्चेति । अनिश्चितान्–इदमित्थमेवेत्येवं प्रमाणैरनिर्धारितान्, नहि निर्धारिते वादप्रतिवादाविति भावः । वादान्–वस्तूत्पादव्ययध्रौव्यात्मकमिति क्षणिकं सर्वमिति मधूकोदकगुडादिभ्यो मदवद्भूतेभ्य एव चेतनोत्पत्तिरित्येवमादिप्रकारान् पूर्वपक्षान्, प्रतिवादान्–नैकं त्रयात्मकं विरोधादिति, न वा सत् क्षणिकमननुभवादिति, नाऽपि भूतेभ्यश्चेतनोत्पत्तिस्तेषु चैतन्याऽभावान्मधूकादिषु पुनर्मदशक्तेः सत्त्वादित्याद्युत्तरपक्षान्, चद्वयं समुच्चये । वदन्तः–अनेकशास्त्राऽभ्यासादिजनितबुद्धिवैभवात्प्रतिपादयन्तः पण्डितम्मन्याः, तथा–तेन रूपेण, याथातथ्येन रूपेणेत्यर्थः । तत्त्वान्तम्–तत्त्वपारम्, पारमार्थिकं पदार्थरहस्यम्, पदार्थनिर्णयमिति यावत्, नैव, गच्छन्ति–प्राप्नुवन्ति, द्वयोर्ज्ञानाऽधिक्येन तर्काऽपरिसमाप्तेरिति भावः । यद्वा–वादांश्च प्रतिवादांश्च तथाऽनिश्चितान्–इदमित्थमेवेत्येवं वादिना प्रतिवादिना वाऽनिर्धारितान्, भ्रूणे तृतीये मासि जीवसम्बन्ध इत्येवमादिपदार्थान् वदन्त इत्येवमर्थः । दृष्टान्तमाह–गतौ–गमने, तिलपीलकवत्–तिलान् पीलयन्ति डलयोरैक्यात्तैलार्थं पीडयन्तीति ते तादृशास्तैलिकबलीवर्दास्त इव । यथा तैलिकबलीवर्दा वृत्ताकारेण तिलपीडनार्थं भ्रमन्तो गतावन्तं न यान्ति तथेत्यर्थः । अन्ताऽप्राप्तिमात्रेण साम्यमत्र बोध्यम् । ज्ञानाधिक्यं विवादायैव भवति, न तु तेन तत्त्वनिर्णयः । तस्मात्तावदेव ज्ञानमिष्टं यावताऽऽत्मतत्त्वाऽवभासो भवति । अत्र ह्यधिकस्याऽऽत्मतत्त्वाऽवभासान्तरायरूपवादप्रति-

वादादिरूपमनिष्टमेवाऽधिकं फलमिति ज्ञानाधिक्यं हेयमेवेति तात्पर्यम्। तिलपीलकदृष्टान्तेन च वादप्रतिवादपरायणानां तस्येव जाड्यमपि ध्वन्यते, फलाऽभावाज्ज्ञानस्य जाड्याऽविशेषादिति बोध्यम् ॥ ४ ॥

नन्वेवं तर्हि स्वभावलाभसंस्कारकारणं ज्ञानमुपदिश्यतामिति शिष्यभावं तन्मौनितयाऽनुमायाऽऽह—

स्वद्रव्यगुणपर्यायचर्या वर्या पराऽन्यथा ।
इति दत्ताऽऽत्मसन्तुष्टिर्मुष्टिज्ञानस्थितिर्मुनेः ॥ ५ ॥

स्वेति । मुनेः—आत्मविषयमननप्रवृत्तस्य साधोरन्यस्याऽपि च तादृशस्य, इति—एवंप्रकारेण, दत्तात्मसन्तुष्टिः—दत्तोपलम्भिताऽऽत्मनः सन्तुष्टिः सन्तोषोऽधिकाऽनिच्छा यया सा तादृशी। इतोऽधिकेन न प्रयोजनम्, एतावदेवाऽतिबहित्येवमात्मनोऽन्यव्रतासम्पादिकेत्यर्थः। मुष्टिज्ञानस्थितिः—मुष्टिर्लक्षणया मुष्टिमेयम्, तेन रूपेण। सङ्क्षेपेणेत्यर्थः। तथाभूतं यज्ज्ञानं रहस्यज्ञानम्, ज्ञानसार इति समुदितार्थः। तस्य स्थितिर्मर्यादा, भवतीति शेषः। एतावता ज्ञानेनैव मुनेरात्मपरितोषो जायते, तस्याऽऽत्ममात्राऽभिलाषादात्मनश्च तावता ज्ञानेनैव लाभसम्भवादिति भावः। नन्विति किमिति चेत्तत्राह—स्वद्रव्यगुणपर्यायचर्या—स्वमात्मीयं यद्द्रव्यं निश्चयनयाऽभिमतं निरुपाधिकं शुद्धात्मद्रव्यम्, गुणो दर्शनज्ञानचारित्ररूपः। पर्यायोऽसहभूरर्थपर्यायः, सहभूर्यावद्द्रव्यभावी च व्यञ्जनपर्यायश्च, द्रव्यगुणाऽऽश्रितधर्मसमूह इति यावत्।

स्वशब्दस्य द्वन्द्वादौ श्रूयमाणत्वात्प्रत्येकमन्वयः। स्वं द्रव्यं स्वो गुणः स्वः पर्यायश्च, तेषां चर्या श्रवणमननस्मरणसाक्षात्करणादिप्रवृत्तिः, वर्या—श्रेष्ठा। श्रेयःसाधनत्वादिति भावः। परा—उक्तप्रकारचर्याभिन्नचर्या, परद्रव्यादिचर्येत्यर्थः। अन्यथा—न वर्या, परद्रव्यादिचर्यया मोहादिजयाऽसम्भवात्। तया हि परद्रव्यादिषु रागादेरवश्यम्भावात्। यदुक्तम्—"ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायत" इति भावः। एतावानेव ज्ञानसारः, मुनेश्च तावतैव सन्तोषः। स्वभावलाभसंस्कारकारणत्वात्। अन्यथा ध्यान्ध्यप्रसङ्गात्। तस्मान्निर्बन्धो नास्ति भूयसेति हृदयम्॥ ५॥

ज्ञाने शिष्यश्रद्धादार्ढ्यार्थं तत्स्तुवन्नाह—

अस्ति चेद्ग्रन्थिभिज्ज्ञानं किं चित्रैस्तन्त्रयन्त्रणैः।
प्रदीपाः क्वोपयुज्यन्ते तमोघ्नी दृष्टिरेव चेत्?॥६॥

अस्तीति। चेत्—यदि, ग्रन्थिभित्—ग्रन्थिः—यथाप्रवृत्तिकरणेन पल्योपमाऽसङ्ख्यातभागन्यूनैककोटाकोटिसागरोपमस्थितिकेष्वायुर्वर्जेषु प्रत्येकं सप्तसु कर्मसु सत्सु तादृशकर्मजन्यगाढ़रागादिपरिणतिरेव दुर्भेद्यत्वाद्ग्रन्थिरिव ग्रन्थिः, तद्भिनत्तीति तत्तादृशम्, कार्ये कारणोपचारात्तादृशग्रन्थिभेदजन्यम्, ज्ञानस्य कर्मनाशकत्वात्तादृशग्रन्थिभेदकं वा, यद्, ज्ञानम्—विषयप्रतिभासशून्यशुद्धात्मपरिणामात्मको बोधः। मुष्टिज्ञानमिति यावत्। ग्रन्थिभेदे सति तादृशस्यैव ज्ञानस्योत्पादादिति बोध्यम्। ग्रन्थिभेदश्चाऽपूर्वकरणातिक्रमेण बोध्यः। विशेषतोऽवश्यं तत्त्वं कर्मग्रन्थादवलोकनीयम्।

अस्ति–विद्यते, तदा, चित्रैः–नैकविधैः, तन्त्रयन्त्रणैः–तन्त्राणि शास्त्राणि, उपलक्षणत्वात्तदभ्यासादीनि, तान्येव तत्त्वबोधाऽनुपयोगित्वाच्छ्रममात्रफलत्वाद्वादप्रतिवादाद्युपयोगित्वाच्च दुष्परिणामप्रवृत्तिहेतुत्वाच्च यन्त्रणानि पीडाप्रकाराः, तैः, किम् ?– काक्वा न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः । प्रत्युतोक्तदिशाऽनिष्टहेतव एव तानीति हेयप्रकाराण्येव, ग्रन्थिभिज्ज्ञानमग्नतयैव तत्त्वबोधाद् भावचारित्रसम्पत्तेरिति भावः । तत्र दृष्टान्तमाह–दृष्टिः–नेत्रमेव, तमोघ्नी–अन्धकारभेदसमर्था, चेद्–यदि, तर्हि, प्रदीपाः–स्वनामख्याताः तमोनाशकास्तेजःप्रकाराः, क्व–कुत्र, उपयुज्यन्ते–उपयोगं यान्ति । काक्वा नैव क्वाऽप्युपयुज्यन्त इत्यर्थः । तमोनाशायैव हि प्रदीपानामुपयोगो वस्तुप्रकाशो यथा स्यादिति । नेत्रेणैव चेत्तमोनाशेन वस्तु प्रकाशो जायते, तर्हि प्रदीपार्थं श्रमः पीडामात्रफलः । तथा ग्रन्थिभिज्ज्ञानेनैव तत्त्वप्रकाशे विविधशास्त्राऽभ्यासः पीडायै एवेत्यर्थः । मुष्टिज्ञाने लब्धे नाऽन्यज्ञानेन किमपि प्रयोजनमिति तदेवैकं ज्ञानमन्यद्ध्यान्ध्यमात्रम् । तस्माद्विविधशास्त्राऽभ्यासे समययापनमपेक्ष्य तादृशज्ञानार्थमेव यतनीयम्, यथा श्रेयोलाभ इति हृदयम् ॥ ६ ॥

ज्ञानात्परमानन्दलाभादिष्टसाधनमपि तदित्याह—

मिथ्यात्वशैलपक्षच्छिज्ज्ञानदम्भोलिशोभितः ।
निर्भयः शक्रवद्योगी नन्दत्यानन्दनन्दने ॥ ७ ॥

मिथ्यात्वेति । मिथ्यात्वशैलपक्षच्छिद्–मिथ्यात्वं वस्तु-

याथात्म्यग्राहिमतिविपर्यासहेतुभूतं कर्म, तत्परिणामापन्नं मत्यज्ञानादिकं च, तदेवाऽतिगुरुत्वाद्दुर्लङ्घ्यत्वाच्छैलः पर्वतः, तस्य गतिसहायत्वादसद्भूतोद्भावनसद्भूताऽपलापपरिणामौ पक्षाविव, तौ छिनत्ति समूलं नाशयति, यथा न पुनर्गतिः स्यादिति तादृशः। मिथ्यात्वनाशक इति यावत्। छेदे हेतुगर्भं विशेषणमाह—ज्ञानदम्भोलिशोभितः—ज्ञानमेव मिथ्यात्वशैलपक्षच्छेदकत्वाद्दम्भोलिर्वज्रं तेन शोभितो विराजितः। मुष्टिज्ञानसम्पन्न इति यावत्। "ह्रादिनी वज्रमस्त्री स्यात्कुलिशं भिदुरं पविः। शतकोटिः स्वरुः शम्बो दम्भोलिरशनिर्द्वयो"रित्यमरः। अतएव, निर्भयः—मिथ्यात्वपर्वताक्रमणभयशून्यः। योगी—शुभध्यानादियोगपरिणतः साधुः, शक्रवत्—इन्द्रवत्, आनन्दनन्दने—आनन्दः परमानन्द आत्मस्वभावात्मकः, स एव नन्दनं स्वनामख्यातं दिव्यमुद्यानं, यत्र दुःखवार्त्ताऽपि नास्ति, तस्मिन्। यद्यपि शुद्धात्मस्वभावभूताऽऽनन्दाऽपेक्षया नन्दनस्याऽपकर्षः, तस्य विषयजाऽऽनन्दहेतुत्वात्, तथाप्यात्माऽऽनन्दस्य प्रकारान्तरेणाऽनिर्वचनीयत्वादुपलक्षणतया लोकपरिचयार्थं तादृशं रूपकमित्यवगन्तव्यम्। नन्दति—रमते। यथा शक्रो वज्रेण पर्वतपक्षच्छेदं विधाय पर्वतेन संहारसम्भावनाया अप्यभावान्निर्भयः सन्नन्दने नन्दति, तथा योग्यपि ज्ञानेन मिथ्यात्वमुन्मूल्य तदतिक्रमणसम्भावनाविरहान्निर्भयः शाश्वताऽखण्डमानन्दमनुभवति। तादृशो ज्ञाने लब्धे न पुनर्मिथ्यात्वोन्मेषः कदापीति तत्त्वोद्भेदादात्मसाक्षात्कार एव जायत इति महदिष्टसाधनं तज्ज्ञानमवश्यमुपार्जनीयम्। यदुक्तम्—" ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्ति-

मचिरेणाऽधिगच्छती"ति। "ज्ञानाऽग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन" इति चेति भावः। परम्परितरूपकाऽनुप्राणितोपमाऽलङ्कारः॥ ७॥

सम्प्रत्युपसंहरन् ज्ञानमहिमानमाह—

**पीयूषमसमुद्रोत्थं रसायनमनौषधम्।**
**अनन्याऽपेक्षमैश्वर्यं ज्ञानमाहुर्मनीषिणः॥ ८॥**

इति महामहोपाध्यायश्रीमद्यशोविजयोपाध्यायविरचिते ज्ञानसारे ज्ञानाऽष्टकं नाम पञ्चममष्टकम्॥ ५॥

पीयूषमिति। मनीषिणः—ज्ञानतत्त्वज्ञा ज्ञानिनः, ज्ञानम्—उक्तप्रकारं ज्ञानं कर्म, असमुद्रोत्थम्—समुद्रोत्पन्नविलक्षणम्, देवासुरैर्हि मथित्वा समुद्रात्पीयूषं लब्धमिति पौराणिकाः। पीयूषम्—अमृतम्, लक्षणया तत्तुल्यम्। तद्धि देवत्वमात्रमर्पयति, इदं तु मुक्तिम्। न च समुद्रादुत्पन्नम्, अतः पीयूषमिवेति पीयूषस्याऽसमुद्रोत्थत्वं न विरुध्यते। तथा, अनौषधम्—औषधविलक्षणम्, रसायनम्—सिद्धसुवर्णादिभस्मकल्पितं स्वनामख्यातं रसायनं तदिव धर्मशरीरपोषकत्वान्मिथ्यात्वादिरोगनिवारकत्वाच्च। रसायनमिवेति गौणार्थत्वे रसायनस्याऽनौषधत्वं न विरुध्यते। तथा, अनन्यापेक्षम्—नाऽन्यद् हस्त्यश्वादिवस्त्वपेक्षत इति तादृशम्, अन्यापेक्षारहितमित्यर्थः। ऐश्वर्यम्—महर्द्धिस्वामित्वमिव। ज्ञानेन हि सर्वाः सिद्धयो लब्धयश्च स्ववशा जायन्ते, न च तत्र किमप्यन्यदपेक्ष्यते इति भावः। आहुः—कीर्तयन्ति, ऐश्वर्यस्याऽनन्यापेक्षत्वमिहाऽपि गौणलक्षणया न विरुध्यत इति ध्येयम्। तदेवं

सर्वविलक्षणं ज्ञानम् । यदुक्तम्–" नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यत " इति । तदिदमवश्यमुपार्जनीयमिति हृदयम् । विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ८ ॥

इति ज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृकविरत्न-पन्न्यास-प्रवर-श्रीमद्यशोभद्रविजयजीगणिवर-शिष्य-पन्न्यासश्रीशुभङ्करविजय-गणिविरचितायां भद्रङ्करोदयाख्यव्याख्यायां ज्ञानाऽष्टकं नाम पञ्चममष्टकम् ॥ ५ ॥

## ॥ शमाऽष्टकम् ॥

ज्ञानं तन्महिमानं च श्रुत्वा जातश्रद्धस्य शिष्यस्य ज्ञानजनितानन्दे द्वारजिज्ञासां समाधातुं ' ज्ञानफलं विरति 'रिति प्रसङ्गाच्च शमं निरूपयन्नाह—

विकल्पविषयोत्तीर्णः स्वभावाऽऽलम्बनः सदा ।
ज्ञानस्य परिपाको यः स शमः परिकीर्तितः ॥ १ ॥

विकल्पेति । ज्ञानस्य–निर्वाणपदभावनात्मकस्य मुष्टिज्ञानात्मकस्य, न तु ध्यान्ध्यात्मकस्य । राहोः शिर इतिवदभेदे षष्ठी । ज्ञानात्मक इत्यर्थः । नहि ज्ञानात्तत्परिणामो भिन्न इत्यवधेयम् । यः—यादृशः, विकल्पविषयोत्तीर्णः–विकल्पः सङ्कल्पो विषयाऽभिलाषादिरूपः, तस्य विषयेभ्य उत्तीर्णोऽपेतः । यदभिलष्यते तद्विषयक इत्यर्थः । निष्कामतात्मक इति यावत् । ज्ञानस्य सविषयत्वनियमादाह–सदा–सर्वदा, न तु यदाकदाचिदेव । स्वभावाऽलम्बनः–स्वस्य शुद्धात्मनो यो भावः पर्यायः शुद्धचिन्मयत्वादिस्तदेवाऽऽलम्बनं विषयो यस्य स तादृशः । स्वद्रव्यगुणपर्याय-

मात्रविषय इत्यर्थः। विकल्पविषयत्यागे सति स्वभावादन्यस्य ज्ञानाविषयत्वात्, तादृशस्याऽन्यस्य कस्यचिद्विषयस्याऽभावादिति बोध्यम्। परिपाकः—परिणामः, सः—तादृशः परिणाम एव, शमः—शमशब्दवाच्यः परिकीर्तितः—प्रतिपादितः, तज्ज्ञैरिति शेषः। परिणामश्च सम्यग्ज्ञानादिजनित इत्यन्यदेतत्। निर्विकल्पाऽऽत्मस्वरूपाऽवभासः शम इति निष्कर्षः। तादृशशमलाभे निरतिशयसुखलाभः, लौकिकसुखस्य तत्र भानाऽसम्भवादिति शम एव सर्वप्रयासेन साधनीयः, यद्वक्ष्यति—"असौ मोक्षं गमी शमी"ति भावः॥ १॥

शिष्यप्रबोधाय शमात्परमानन्दमयमुक्तिलाभे प्रकारमाह—

**अनिच्छन् कर्मवैषम्यं ब्रह्मांशेन समं जगत्।**
**आत्माऽभेदेन यः पश्येदसौ मोक्षं गमी शमी॥२॥**

अनिच्छन्निति। यः—यत्प्रकारः, शमी—उक्तलक्षणशमसमन्वितः, निरीहः स्वभावमात्रविश्रान्तबुद्धिर्जीव इत्यर्थः। कर्मवैषम्यम्—कर्मभिः शुभाशुभरूपैर्ज्ञानावरणीयादिभिः कृतं यद्वैषम्यमसादृश्यं गोत्रसंस्थानादितारतम्यं तत्, अनिच्छन्—अस्वीकुर्वन्। कर्मवशतो हि जीवस्योच्चनीचगोत्रैतकेन्द्रियत्वादिश्च, तैरेवोपाधिभिः कृत्वा च जीवानां परस्परमसादृश्यम्। तच्च कर्मकृतत्वात्कृत्रिमं न तु वास्तवमित्यतो ज्ञानिनः शमिनस्तन्न स्वीकार्यम्, वस्तुपरमार्थप्रतिपत्तेरेव ज्ञानफलत्वादिति भावः। ननु तर्हि किं प्रतिपत्तव्यमित्यपेक्षायामाह—ब्रह्मांशेन—ब्रह्म निरुपाधिकः शुद्धचिन्मय आत्मा,

तद्रूपेणांशेन भागेन–द्रव्यात्मकेन कृत्वा, समम्–तुल्यम्, अविषमम्–इत्यर्थः । जगत्–लक्षणया प्राणिमात्रम्, आत्माऽभेदेन–निजाऽऽत्माभिन्नतया, ब्रह्मांऽशेनाऽत्यन्तसादृश्यादभेदाऽऽरोपान्निजात्मतादात्म्येनेति यावत्। पश्येत्–जानीयात् । कर्मकृतवैषम्यस्याऽतात्त्विकस्य व्यवहारनयाऽभिमतस्य सत्त्वेऽपि निश्चयनयेन न वैषम्यम् । सङ्ग्रहनयाऽभिमतस्याऽऽत्मद्रव्यस्य शुद्धचिद्रूपस्य सर्वत्रैव समानत्वात् । एवञ्च द्रव्यपर्यायोभयात्मकस्याऽऽत्मनः पर्यायांशेन वैषम्यसत्त्वेऽपि द्रव्यरूपब्रह्मांशेन वैषम्याऽभावात्तेन रूपेणाऽभेद एवेति ज्ञानिनः शमवतो विकल्पविषयोत्तीर्णत्वात्स्वभावालम्बनत्वाच्च जीवेष्वभेदाऽवभासिन्येव मतिरिति तात्पर्यम् । यदुक्तम्– "विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः" इति । असौ–तादृशमतिमान् निश्चयनयदृष्टिः, मोक्षं गमी–मोक्षं प्राप्स्यति । गमीति भविष्यदिन् प्रत्ययः, अत एव न षष्ठीति बोध्यम् । शमलाभात्कर्मकृतोपाधिदृष्टिविलयः सर्वाऽऽत्माऽभेदाऽवभासश्च, ततश्च मोक्षलाभ इति सारार्थः । यदुक्तम्–"इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः" इति ॥ २ ॥

ननु यदि शमादेव मोक्षस्तर्हि विविधबाह्यक्रियायाः शास्त्रप्रतिपादितायाः क उपयोग इति शिष्यशङ्कां समाधत्ते—

आरुरुक्षुर्मुनिर्योगं श्रयेद् बाह्यक्रियामपि ।
योगारूढः शमादेव शुद्धयत्यन्तर्गतक्रियः ॥ ३ ॥

आरुरुक्षुरिति। **योगम्**–समाध्याख्यं ब्रह्मसाक्षात्काररूपमात्माऽभेदात्मकं समतेत्यपरपर्यायं चतुर्थं योगम्, **आरुरुक्षुः**–आरोढुमिच्छुः, प्रेप्सुरित्यर्थः। **मुनिः**–योगार्थं कृतश्रमो यतमानश्च यतिः, **बाह्यक्रियाम्**–बाह्याम् बहिः शरीरसाध्यत्वेन बहिर्भवां क्रियामावश्यकादिकामपि, अपिनाऽन्तर्गतक्रियासमुच्चयः। **श्रयेत्**–अनुतिष्ठेत्, तस्या योगाऽऽरोहणसाधनरूपत्वात्। अन्यथा ह्यारोहणयोग्यतैव विलीयेतेति भावः। यावद्धि न समाधिमान् भवति, तावत्तत्प्राप्तये शास्त्रोपदिष्टामावश्यकादिक्रियां कुर्यात्। ननु योगारूढस्य तर्हि कथमित्यपेक्षायामाह–**योगारूढः**–योगं समाधियोगमारूढः प्राप्तः, मुनिरिति विशेष्यं सम्बध्यते। सन्निति शेषः। **अन्तर्गतक्रियः**–अन्तर्गता स्वभावमात्राऽऽलम्बनत्वाद्बहिःसाधनाऽसाध्यत्वादन्तःकरणमात्रसाधनत्वादन्तःस्थिता क्रिया समतावृत्त्यादिरूपा सहजवीर्यगुणप्रवृत्तिरूपा वा यस्य सं तादृशः, बाह्यावश्यकादिक्रियारहितो मनोमात्रसाधनध्यानादिक्रियावान्। एतच्च स्वरूपकथनम्, योगारूढ ईदृश एव भवतीति बोध्यम्। **शमात्**–पूर्वोक्तप्रकारान्निष्कामतादिरूपाज्ज्ञानपरिणामादेव, न तु तस्य साधनान्तरमेष्टव्यमित्येवकारेण सूच्यते। आरोहे हि साधनाऽऽवश्यकता, आरूढस्य तु तात्स्थ्यमात्रमपेक्ष्यते, तदाह–**शुध्यति**–विकल्पादिकालुष्यरहितो भवति, मुच्यते इति यावत्। यदुक्तम्–"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते। योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते" इति। समाधिस्थस्य न बाह्या क्रियाऽपेक्ष्यते, शम एव तस्य सर्वा क्रियेति बाह्यक्रियाया योगारोहणं

यावदुपयोगः, नाऽन्यथा तत्सिद्धिरिति न सा निरुपयोगत्वान्निष्प्रयोजनेति भावः ॥ ३ ॥

तादृशशमलाभार्थं शिष्याणां प्रवृत्तिर्यथा स्यादिति तस्य दोषनाशकत्वमाह—

ध्यानवृष्टेर्दयानद्याः शमपूरे प्रसर्पति ।
विकारतीरवृक्षाणां मूलादुन्मूलनं भवेत् ॥ ४ ॥

ध्यानेति । ध्यानवृष्टेः—ध्यानं समाधिर्धर्ममेघस्तस्य वृष्टिरवाऽन्तरध्यानपरम्परा, ततो हेतोः, हेतावत्र पञ्चमी । दयानद्याः—दया कारुण्यभावना सैव शमपूरसमग्रत्वान्नदी, तस्याः, शमपूरे—शम एव पूरो वेगवान् जलप्रवाहः, तस्मिन् । प्रसर्पति—प्रकर्षेण सर्पति वृद्धिं गच्छति सति, विकारतीरवृक्षाणाम्—विकारा रागद्वेषादयस्त एव तीरवृक्षास्तीरोद्भवा वृक्षास्तेषाम्, मूलात्—मूलत एव, उन्मूलनम्—उत्पाटनम्, विनाश इत्यर्थः । भवेत्—जायेत । मेघे वृष्टे नद्यां वारिपूरः प्रसर्पति, तद्वेगाच्च तीरस्थिता वृक्षा वारिपूरवेगेन तीरभङ्गे मूलादुन्मूलिताः पतन्तीति प्रसिद्धम् । तथा ध्यानैकतानस्य योगिनो दयाभावना शमपूर्णाऽहैतुकी भवति, न तु रागादिप्रयोजिता, शमस्यैव सत्त्वात्, तस्मात्कषायादीनां विकाराणां समूलमेव नाशो भवति । रागादिक्षय एव शमप्रादुर्भावः, तत्सद्भावे च दया जीवमात्रविषयिण्यहैतुकी च जायते । तत्क्वाऽवसरो विकाराणामिति शमः सर्वदोषनाशक इति सोऽवश्यमुपार्जनीय इति हृदयम् । परम्परितरूपकाऽलङ्कारः ॥ ४ ॥

न केवलं शमाद्दोषनाशः, किन्तु गुणप्रकर्षोऽपीति शिष्य-प्रवृत्तये शमाऽर्थवादमाह—

ज्ञानध्यानतपःशीलसम्यक्त्वसहितोऽप्यहो ! ।
तं नाऽऽप्नोति गुणं साधु र्यं प्राप्नोति शमाऽन्वितः ॥ ५ ॥

ज्ञानेत्यादि । साधुः—मुमुक्षुर्यति गृहीतचारित्रो वा, ज्ञान-ध्यानतपःशीलसम्यक्त्वसहितः—ज्ञानं तत्त्वज्ञानं निर्वाणपद-भावनात्मकं मुष्टिज्ञानरूपम्, ध्यानमर्हदादौ ध्येये सदृशचित्तवृत्ति-परम्परा, ध्येये स्थिरा चित्तवृत्तिरिति यावत् । तपो रागादिजयार्थ-मनशनादिरूपं, शीलं ब्रह्मचर्यमुपलक्षणत्वात्साधूनामाचारः, सम्यक्त्वं तत्त्वश्रद्धानं, तैः सहितः समन्वितः । ज्ञानादिगुणसमग्र इत्यर्थः । अपिना—तद्रहितस्य तु कथैव केति सूच्यते । तम्—तादृशम्, गुणम्—लाभम्, नाऽऽप्नोति, यम्—यादृशम्, कर्मक्षयरूपं केवल-ज्ञानादिरूपं परमदानादिलब्ध्यादिरूपं च, गुणमिति सम्बध्यते । शमान्वितः—निरीहतया स्वभावमात्रस्थतया च सम्पन्नः सन्, साधुरिति विशेष्यं सम्बध्यते । ज्ञानादिभिः सहितो रहितो वेत्यर्थ-बलाल्लभ्यते । प्राप्नोति । अहो—ज्ञानादीनामपेक्षया शमस्य प्रकृष्ट-गुणहेतुत्वात्तेभ्यः शमस्यैवोत्कर्षः केवलस्याऽपीत्याश्चर्यमित्यर्थः । एवञ्च तादृशशमलाभायाऽवश्यमेव यतनीयं प्रेक्षावद्भिरिति हृदयम् । ज्ञानादिभिः शमलाभतश्च कर्मक्षयादिफललाभ इति शमः साक्षा-द्धेतुर्ज्ञानादीनि च परम्परयेति ज्ञानादीनां तादृशं गुणं प्रति केवलानां बन्ध्यत्वाच्छम एव प्रधानमिति भावः ॥ ५ ॥

अत एव शमिनः सर्ववैलक्षण्यं शिष्यस्य तत्कामनयाऽपि प्रवृत्तिमिच्छन्नाह—

**स्वयम्भूरमणस्पर्धिवर्धिष्णुसमतारसः ।**
**मुनिर्येनोपमीयेत कोऽपि नाऽसौ चराचरे ॥ ६ ॥**

स्वयम्भूरमणेति । **स्वयम्भूरमणस्पर्धिवर्धिष्णुशमतारसः**—स्वयम्भूरमणस्तदाख्यः सर्वान्तिमः सर्वद्वीपसागरेभ्योऽपि महाविस्तारोऽधरज्जुप्रमाणो जलधिस्तं स्पर्धतेऽतिप्रचुरत्वाद्वर्धिष्णुत्वाच्चाऽभिभवितुमिच्छतीत्येवंशीलो वर्धिष्णुर्वृद्धिस्वभावः, उपचीयमानो नाऽपचीयमानः स्थिरो वा । अत एव स्पर्धते इति बोध्यम् । तादृशः, समता चतुर्थयोगात्मकः शम एव रस्यमानत्वाद्रुचिविषयीक्रियमाणत्वान्निरतिशयतृप्तिप्रदत्वाच्च रसो यस्य स तादृशः, सर्वोत्कृष्टशमरसाकर इत्यर्थः । **मुनिः**, **येन**—यत्प्रकारेणोपमानेन, **उपमीयेत**—सदृशीक्रियेत, **असौ**—तादृशः, **कोऽपि**—एकोऽपि, अपिना बहूनां तु कथैव केति सूच्यते । **चराचरे**—स्थावरजङ्गमात्मके सकले जगति, **न**—नास्ति । लोकदुर्लभसमतागुणविशिष्टतया शमी लोकविलक्षण इति सर्वलोकोत्कर्षलाभमनसाऽपि लोकानां शमसाधने प्रवृत्तिरवश्यविधेयेति हृदयम् । शमी शमिनैव तुल्यो नाऽन्येन केनाऽप्यन्यस्य सर्वस्य तदपेक्षया हीनगुणत्वादित्यनन्वयाऽलङ्कारो ध्वन्यते ॥ ६ ॥

ननु भवतु शमस्तादृशः, किन्तु रागादिग्रस्तमनसामस्मादृशां सोऽतिदुर्लभ एव । तत्पूर्वभाविज्ञानादेरपि दुर्लभत्वादिति खिन्नं शिष्यमुपसान्त्वयन् सुकरं रागादिपरिहारप्रकारमाह—

**शमसूक्तसुधासिक्तं येषां नक्तन्दिनं मनः ।**
**कदापि ते न दह्यन्ते रागोरगविषोर्मिभिः ॥ ७ ॥**

शमसूक्तेति । **येषाम्**–यत्प्रकाराणां साधकानाम्, **मनः**–चित्तम् । **नक्तन्दिनम्**–अहोरात्रम्, सन्ततमित्यर्थः । **शमसूक्तसुधासिक्तम्**–शमस्य उक्तप्रकारशमरसवर्णनात्मकत्वाच्छमसम्बन्धीनि यानि सूक्तानि सुभाषितानि आगमादिषूक्तानि तानि सुधा रागोरगविषोर्मिप्रसरप्रतिरोधकत्वादमृतमिव तैः सिक्तमार्द्रीकृतमिव, तदभ्यासादिपरायणमित्यर्थः । **ते**–तत्प्रकाराः शमसूक्तसुधासिक्तचेतसः, **रागोरगविषोर्मिभिः**–राग उपलक्षणत्वादन्तर्मलमात्रम्, तदेवोरगविषोर्मयः सम्यग्ज्ञानादिरूपचैतन्याऽपहारकत्वात्सर्पविषावेगा इव, तैः । **कदापि**–जातुचित्, स्वस्य शमसाधनाद्यशक्तावपि । **न**–नैव, **दह्यन्ते**–परिभूयन्ते । सुधासिक्तस्य विषेणाऽपराभव उचित एव । एवं च येन शमसाधनं दुष्करम्, तेन सुलभानि सुकराणि च शमसूक्तान्येवाऽभ्यसनीयानि, तावताऽपि रागादिदोषप्रमोष इति मम शमो दुर्लभ इति कथं ममोद्धार इति नैव खेदः कार्यः । एवं च शमो महामहिमा, यो वचनमात्रेणाऽप्यभीष्टप्रद इति सोऽवश्यं सर्वथैव साधनीय इति भावः ॥ ७ ॥

ननु शमसूक्ताऽभ्यासेनैव रागादिपरिहार इत्यलं शमेनेति चेन्न । शमिन एव ज्ञानादिसम्भवादिति शिष्यमुपदिशन्नुपसंहरति—

**गर्जज्ज्ञानगजोत्तुङ्गरङ्गद्ध्यानतुरङ्गमाः ।**
**जयन्ति मुनिराजस्य शमसाम्राज्यसम्पदः ॥ ८ ॥**

इति महामहोपाध्यायश्रीयशोविजयोपाध्यायविरचिते ज्ञानसारे शमाष्टकं नाम षष्ठमष्टकम् ॥ ६ ॥

गर्जदिति । **मुनिराजस्य**–मुनिर्ज्ञानिगजादिसमन्वितशमसाम्राज्यसमग्रत्वाद्राजेव, तस्य मुनिश्रेष्ठस्य । अतादृशस्तु सामान्यतो मुनिरेव प्रजातुल्य इति ध्वनिः । **गर्जज्ज्ञानगजोत्तुङ्गरङ्गद्ध्यानतुरङ्गमाः**–गर्जद्भिरतिपुष्टत्वेन गललाटीं कुर्वद्भिर्लक्षणया वस्तुयाथात्म्यं तत्त्वमार्गं च प्रकाशयद्भिर्ज्ञानैरेवोक्तप्रकारगर्जनपरत्वाद्गजैः कृत्वोत्तुङ्गाः प्राप्तोत्कर्षाः, ताश्च ताः, रङ्गन्तो विलसमाना धाराप्रवृत्ततया नृत्यमाना इव च ध्यानान्येव तुरङ्गमा जविनोऽश्वाश्च यासां तास्तादृश्यः, ज्ञानध्यानादिगजाऽश्वादिविराजमाना इत्यर्थः । **शमसाम्राज्यसम्पदः**–शमस्य स्वेनोपार्जितत्वाच्छमसम्बन्धि यत्साम्राज्यं चक्रवर्तित्वं सर्वोत्कृष्टशमस्वामित्वं तस्य सम्पदः समृद्धयः, **जयन्ति**–सर्वोत्कर्षेण वर्त्तन्ते । यथा नृपस्य साम्राज्यस्य गजाश्वादयस्तद्बलादेव सुलभाः समृद्ध्यङ्गानि भवन्ति । तथा शमवतो मुनेः शमसाम्राज्यस्य ज्ञानध्यानादीनि समृद्ध्यङ्गानि शमसाम्राज्यप्रभावात् सुलभानि भवन्तीति शमः सर्वोत्कृष्टो गुण इति तदर्थं सर्वथा यतनीयमेव । तस्मिन्नेकस्मिन्नेव साधिते दुर्लभस्याऽपि ज्ञानादेरनुषङ्गत एव लाभादिति तात्पर्यम् ॥ ८ ॥

इति श्रीज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृकविरत्न-पन्न्यासप्रवर-श्रीमद्यशोभद्रविजयजीगणिवरशिष्य--पन्न्यासप्रवर--श्रीशुभङ्कर-विजयगणिविरचितायां भद्रङ्करोदयाख्यायां व्याख्यायां शमाष्टकं नाम षष्ठमष्टकम् ॥ ६ ॥

## ॥ इन्द्रियजयाऽष्टकम् ॥

यावद्धीन्द्रियाणां विषयेषु सकामं प्रवृत्तिस्तावन्नोक्तशमलाभ

इतीन्द्रियजयात्मकं शमलाभोपायं शिष्यं सुहृद्भूत्वाऽपृष्टोऽप्यभिधत्ते–

**बिभेषि यदि संसारान्मोक्षप्राप्तिं च काङ्क्षसि ।**
**तदेन्द्रियजयं कर्त्तुं स्फोरय स्फारपौरुषम् ॥ १ ॥**

बिभेषीति । यदि, संसारात्–संसरणं पुनः पुनर्भवग्रहणं संसारस्तस्मात्, बिभेषि–भयं गच्छसि, त्वमिति शेषः । तेनोपस्थितस्य शिष्यस्य तादृशस्याऽनुपस्थितस्याऽप्यन्यस्य चोपदेशस्य लोकसामान्यमुद्दिश्य प्रवृत्तेः परामर्शः । पुनः पुनर्भवग्रहणे हि गर्भवासादिमरणान्ता अनन्ताः क्लेशा इति तेभ्यो भयं जीवस्य ज्ञातभवस्वरूपस्य स्वाभाविकम्, अतस्तव यदि भवाद्भयम्, किञ्च, चः पुनरर्थे । मोक्षप्राप्तिम्––मोक्षलाभम्, मोक्षमित्येतावन्मात्रोक्त्यैव विवक्षितार्थप्रतीतिसम्भवे मोक्षप्राप्तिमिति लोकरूढ्योक्तमिति बोध्यम् । काङ्क्षसि–इच्छसि, मोक्षे सत्येव भवभयात्राणं नाऽन्यथेत्यतो यदि मोक्षमिच्छसीत्यर्थः । भीतस्य हि भयहेतोस्त्राणेच्छा भवत्येव । किन्त्वहं बिभेमीत्येतावता न त्राणसम्भवः, अपि तु भयात्राणेच्छया त्रातृसान्निध्यात् । त्रातृसान्निध्यं च तथेच्छया तथोपायप्रवृत्तेर्नाऽन्यथेति कः स उपाय इत्यपेक्षायामाह–तदा–तर्हि, इन्द्रियजयम्–इन्द्रियाणां तथाख्यातानां चक्षुरादीनां जयः स्वस्वविषयेषु सकामं प्रवृत्तेर्निरोधरूपो वशीकारस्तम्, कर्त्तुम्–साधयितुम्, स्फारपौरुषम्–स्फारं महद् बहु च पौरुषं पराक्रमम्, न लघु नाऽल्पं च सोत्साहमुद्योगमित्यर्थः । स्फोरय–आचर, प्रकटयेत्यर्थः । इन्द्रियाणामतिबलवत्त्वात्तन्निग्रहसमर्थेनाऽनल्पेनाऽतिबहुना च पुरुषकारेण प्रवर्त्तितव्यम्, यथा

तज्जयः सुसाधः स्यात् । यदुक्तम्–" बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षती "ति । "इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते । तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाऽम्भसि ॥ तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः । इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिते "ति च । तस्मान्मुमुक्षुणा प्रथमं सर्वेन्द्रियजय एव साध्यः, नाऽन्यथा मोक्षलाभो भवभयभङ्गश्चेति भावः ॥ १ ॥

ननु यद्यशक्तिप्रमादादिनेन्द्रियाणि जितानि न स्युस्तर्हि का हानिरिति नह्युपायमदृष्ट्वा लोकः प्रयतत इति शिष्यप्रतिबोधार्थमिन्द्रियाऽजयेऽपायमाह—

वृद्धाम्तृष्णाजलाऽऽपूर्णैरालवालैः किलेन्द्रियैः ।
मूर्च्छामतुच्छां यच्छन्ति विकारविषपादपाः ॥ २ ॥

वृद्धा इति । विकारविषपादपाः–विकाराः कामक्रोधादय एव सम्यग्ज्ञानरूपचैतन्याऽपहारकसंमोहविषफलत्वाद्विषपादपा विषोपमफलत्वाद्विषवृक्षास्ते, इन्द्रियैः–चक्षुरादीन्द्रियैरेव, आलवालैः–आवापैः, जलादिसङ्ग्रहार्थं वृक्षमूलानि परितो मध्यभागेन निम्नः पर्यन्ते उच्चो मृत्तिकादिनिर्मितवृत्तिविशेष आलवालम् । " स्यादालवालमावालमावापः " इत्यमरः । तृष्णाजलाऽऽपूर्णैः–तृष्णा विषयाऽभिलाष एव विकारविषपादपवर्धकत्वाज्जलं तेनाऽऽपूर्णानि परिपूर्णानि, तैस्तादृशैः सद्भिः कृत्वा, वृद्धाः–वृद्धिंगताः, परं प्रकर्षमाप्ताः सन्तः, जलपूर्णैरालवालैर्वृक्षस्य वृद्धिरुचितैवेति भावः । अतुच्छाम्–अतुलां महतीं च, मूर्च्छाम्–विषयेषु रागद्वेषादिरूपं

सम्मोहात्मकमचैतन्यम्, यच्छन्ति–ददति, फलन्तीति यावत्। तृष्णावद्भिरिन्द्रियैः कृत्वा जलपूर्णैरालवालैर्वृक्षा इव विकारा वर्धन्ते, विषफलानीव महामोहं फलन्ति चेत्यर्थः। अजितैर्हीन्द्रियैः कृत्वा विकारविकृतो महामोहाक्रान्तो भवानन्त्यं यातीतीन्द्रियाण्यवश्यं यथातथा जेतव्यान्येव, अन्यथा महामोहसम्प्राप्त्यादिर्महाननर्थः। इन्द्रियजये तु विकारनाशान्मोहनाश इति शमो मुक्तिश्च। यदुक्तम्–" तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ!। पाप्मानं प्रजहीह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनमि "ति। वक्ष्यति चाऽग्रेऽत्रैव–" पतङ्गभृङ्गमीनेभसारङ्गा यान्ति दुर्दशाम्। एकैकेन्द्रियदोषाच्चेद्दुष्टैस्तैः किं न पञ्चभिरि"ति चेति भावः ॥ २ ॥

किञ्चेन्द्रियाणि दुराराध्यानीत्यतोऽपि तज्जयाय प्रयतेतेति शिष्यमुपदिशन्नाह–

सरित्सहस्रदुष्पूरसमुद्रोदरसोदरः।
तृप्तिमानेन्द्रियग्रामो भव तृप्तोऽन्तरात्मना ॥ ३ ॥

सरिदिति। इन्द्रियग्रामः–इन्द्रियसमूहश्चक्षुरादीनीन्द्रियाणि, सरित्सहस्रदुष्पूरसमुद्रोदरसोदरः–सरितां नदीनां सहस्राणि तैरपि तान् कृत्वा पूर्यमाणेन जलेनाऽपि दुःखेन पूर्यत इति तत्तादृशं पूरयितुमशक्यं यत्समुद्रस्य मुखेन निक्षिप्यमाणानामन्नादीनां पात्रमुदरमिव जलानां निधानत्वादुदरं मध्यम्, अर्थात्समुद्र एव, लोकरूढ्यैव समुद्रोदरेत्युक्तिः। समुद्रेत्युक्त्यैवेष्टार्थसिद्धेरिति बोध्यम्। तस्य सोदरः सदृशः, तद्वदित्यर्थः। तृप्तिमान्–तृप्तः, शान्ततृषः।

समुद्रपक्षे पूर्णः, न-नैव, भवतीति शेषः। यथा समुद्रो नदी-सहस्रजलेनाऽहर्निशं पूर्यमाणोऽपि पूर्णो न भवति, तथाऽहर्निशं क्रियमाणेन विषयभोगोपभोगेनेन्द्रियग्रामस्तृप्तो न भवतीत्यर्थः। यदुक्तम्-"न यातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धत" इति। अतः; आत्मना-आत्मस्वरूपाऽनुभवात्मकेन सम्यग्ज्ञानसहितेन शमादिना, आत्ममग्नतामात्रेण वा, अन्तः-आत्मनि, शुद्धचिदात्मनीत्यर्थः। तृप्तः-तदेकमग्नत्वादुपशान्ततृषः, भव। यो हि दुस्तर्पस्तत्तर्पणप्रयासैरलम्, तुषकण्डनवद्धि तत्। आत्मा तु सम्यग्ज्ञानादिना झटित्येव तृप्यतीति तदेवाऽनुतिष्ठ। आत्मनि च तृप्ते नेन्द्रियतृप्त्यादिभिः प्रयोजनम्, इन्द्रियाणां तदानीं स्ववशत्वात्। यदुक्तम्-"आत्मन्येवाऽऽत्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते" इति, "मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः!" इति चेति भावः॥३॥

नन्वात्मा विषयविमुखश्चेदलमिन्द्रियजयप्रयासेनेति शिष्यव्यामोहं निराकर्त्तुमाह—

आत्मानं विषयैः पाशैर्भववासपराङ्मुखम्।
इन्द्रियाणि निबध्नन्ति मोहराजस्य किङ्कराः॥ ४॥

आत्मानमिति। मोहराजस्य-मोहोऽस्वे स्वबुद्धिरेव चौरादीनामिवात्मनो राजेव निग्राहकत्वाद्बन्धाद्यधिकृतत्वाद्राजा, तस्य। किङ्कराः-भृत्या इव, तद्वदनुजीवित्वादनुकूलकरत्वाच्चाऽऽज्ञाकारिण इव, ते तादृशाः। इन्द्रियाणि-चक्षुरादीनीन्द्रियाणि, भववास-

पराङ्मुखम्–भवो दुःखबहुलत्वाद्बन्धनसाधनत्वाच्च कारेव, तत्र वासः स्थिति–स्ततः पराङ्मुखं विमुखम्, दुःखमयत्वादिकं समीक्ष्य संसारवासविरक्तमित्यर्थः आत्मानम्–जीवम्, विषयैः–लक्षणया विषयेच्छारूपैः, पाशैः–बन्धनसाधनरज्जुरूपैः, निबध्नन्ति–बद्धवत्स्ववशं कुर्वन्ति, भवकारायामेव यथाऽवतिष्ठते नतु बहिर्निर्गच्छतीति भावः। यथा हि राज्ञो भृत्याश्चौरादीन् स्वयं कारावासमनिच्छूनपि पाशैर्बध्नन्ति, बलाच्च कारायां निक्षिपन्ति, तथा मोहप्रभावात्तदनुकूलप्रवृत्तिमन्तीन्द्रियाणि भवविरक्तमप्यात्मानं विषयभोगेच्छया कृत्वा भवे एव क्षिपन्तीत्यर्थः। विषयभोगेच्छया हि भवे रज्जत्यात्मा, सा चेन्द्रियेष्ववशेषु भवति, इन्द्रियाणां विषयेषु प्रवृत्तेः स्वाभाविकत्वात्। तस्मान्मोहजयेनेन्द्रियाणि जेतव्यानि। विषयेषु मोहे सत्येवेन्द्रियाणां तदनुधावनम्। मोहे च राजनीव जिते राजपुरुषा इवेन्द्रियाण्यपि जितान्येव भवन्तीति मोहत्यागद्वारेन्द्रियजयः साधनीय इतीन्द्रियजयरीतिरपि प्रदर्शितेति बोध्यम् ॥ ४ ॥

शिष्यस्येन्द्रियजये प्रवृत्तिर्यथा स्यादितीन्द्रियाणामनर्थमूलत्वं प्रतिपिपादयिषुरादौ तेषां दृष्टिव्यामोहकरत्वमाह—

**गिरिमृत्स्नां घनं पश्यन् धावतीन्द्रियमोहितः।**
**अनादिनिधनं ज्ञानघनं पार्श्वे न पश्यति ॥ ५ ॥**

गिरिमृत्स्नामिति। इन्द्रियमोहितः–इन्द्रियैः कृत्वा मोहितो मूढतां प्रापितः, इन्द्रियग्राह्यविषयव्यासक्तव्यग्रमना हेयोपादेय–

सदसद्विवेकवैकल्यकवलितमतिर्लोक इत्यर्थः । अत एव, गिरिमृत्स्नाम्–गिरेः पर्वतादेरुपलक्षणत्वादाकरादे मृत्स्नां लोके उत्तमतया दुर्लभतया च स्वीकृतत्वाच्छुभां मृत्तिकां सुवर्णादिरूपाम्, सुवर्णादिकं पार्थिवमेव न तु तैजसमिति स्याद्वादिनयेनेत्थमुक्तिरिति बोध्यम् । धनम्–धिनोति लौकिकार्थोपार्जनेन प्रीणयतीत्यन्वर्थतया धनपदवाच्यम्, पश्यन्–जानन् । सुवर्णादिना ह्यभीष्टं लौकिकं वस्तु क्रयादिना सौकर्येण सुलभं लोके । इन्द्रियमोहितानाञ्च लौकिकार्थेनैवाऽर्थ इत्यतो गिरिमृत्स्नामेव तादृशार्थोपायत्वाद्धनं जानन्नित्यर्थः । गिरिमृत्स्नेति पदेन तद्धनं मृत्तिकैव नतु सारं किञ्चिदिति तस्याऽतितुच्छत्वं ध्वन्यते । तेन चेन्द्रियमोहितस्य शोचनीयत्वमिन्द्रियाणां च बुद्धिव्यामोहमूलत्वान्महानर्थकरत्वं च ध्वन्यते । धावति–तदुपार्जने कालक्षेपमसहिष्णुः सद्य एव प्रवर्त्तते । तत्रैव सर्वस्वबुद्धेः परमार्थतो हानिलाभमविचार्यैव तदुपार्जनाय सहसा प्रवर्त्तत इत्यर्थः । अत एव, पार्श्वे–समीपे, स्वात्मन्येव, स्थितमित्यर्थाल्लभ्यते । ज्ञानम्–सम्यग् ज्ञानम्, तदाख्यम्, तद्रूपमित्यर्थः । येन मृत्तिकायां तद्बुद्धिस्तादृशं वस्तुयाथात्म्यप्रकाशकत्वेन सदसत्त्वग्राहकतया हेयोपादेयविवेकात्मकं परमपुरुषार्थोपयोगितया लौकिकधनापेक्षयाऽत्युत्कृष्टमतिदुर्लभमपि पार्श्वे स्थितत्वात्सुलभमिति भावः । आत्मस्वभावभूतं शुद्धं चैतन्यमिति वा, तदेव विशिनष्टि–अनादिनिधनम्–न आदिर्निधनं नाशश्च यस्य तत्तादृशम्, अनाद्यनन्तमित्यर्थः । तादृशस्य ज्ञानस्य शुद्धात्मस्वरूपभूतत्वादात्मनोऽनाद्यनन्तत्वात्तस्याऽपि तत्त्वम् ।

सत्तारूपेण तादृशस्य ज्ञानस्य सर्वाऽवस्थायामेवाऽऽत्मनि सत्त्वस्य श्रुते प्रतिपादनात्। ज्ञानावरणसत्त्वे न तत्प्रकाश इत्यन्यदेतदिति भावः। धनम्–शाश्वताऽखण्डतृप्तिप्रदत्वात्परमार्थतो धनपदवाच्यम्, न–नैव, पश्यति–जानाति। अनेन 'हा! इन्द्रियमोहितमि' ति शोको व्यज्यते। ज्ञानधनेऽनादिनिधनविशेषणेन च गिरिमृत्स्नाधनमनित्यमिति सूच्यते। एवञ्चेन्द्रियाणां दृष्टिव्यामोहद्वारा महानर्थहेतुत्वात्तज्जयाय सर्वदा सर्वथा च प्रयतनीयं प्रमादं विहायेति तात्पर्यम्॥ ५॥

इन्द्रियाणि दृष्टिव्यामोहद्वाराऽनर्थमूलानीति शिष्यमतिदार्ढ्यायोक्तमेवाऽर्थं प्रकारान्तरेण पुनराह—

पुरः पुरः स्फुरत्तृष्णा मृगतृष्णाऽनुकारिषु।
इन्द्रियार्थेषु धावन्ति त्यक्त्वा ज्ञानाऽमृतं जडाः॥ ६॥

पुर इति। जडाः–अज्ञानिनः, इन्द्रियमोहिता इति हृदयम्। अत एव, पुरःपुरः–उत्तरोत्तरम्, स्फुरत्तृष्णाः–स्फुरन्त्यो विकासं प्रादुर्भावं गच्छन्त्यस्तृणाः कामा विषयाऽभिलाषा येषां ते तादृशाः, वर्धमानकामाः सन्त इत्यर्थः। जितेन्द्रियस्य ज्ञानिनस्तु नैव कामस्फूर्त्तिः, कारणाऽभावादिति भावः। इन्द्रियार्थेषु–इन्द्रियाणामर्थेषु विषयेषु रूपरसादिषु तत्साधनेषु सुवर्णादिषु च विषये, मृगतृष्णाऽनुकारिषु–मृगतृष्णा मरीचिका ग्रीष्मे जलभ्रमकारिणी मध्याह्ने निर्जलप्रदेशे जलपूरवद्दृश्यमाना सूर्यकिरणतापजनिता भूमेरूष्मसन्ततिः, तामनुकुर्वन्तीति तेषु मृगतृष्णातुल्येषु, यथा हि

मृगतृष्णया न पिपासोपशान्तिः, प्रत्युतोपशान्तेरभावाद् वृद्धिरेव, तथेन्द्रियार्थैर्नेन्द्रियतृष्णाया उपशमः, प्रत्युत वृद्धिरेवेति सुष्ठूक्तं 'मृगतृष्णाऽनुकारिष्वि' ति। ज्ञानाऽमृतम्–ज्ञानमेव शाश्वताऽखण्डतयाऽलौकिकतृप्तिरूपमुक्तिप्रदत्वादमृतं तत्, त्यक्त्वा–विहाय, इन्द्रियकृतदृष्टिव्यामोहात्तददर्शनादिति भावः। धावन्ति–सरभसं सहसा च प्रवर्त्तन्ते, अत्र धावन्तीत्यनेन धावन्त्येव, न तु तृष्णोपशमं यान्ति, मृगतृष्णावदिन्द्रियार्थानां तृष्णावृद्धेरेव प्रयोजकत्वात्। तथाप्रवृत्तिश्च तेषामिन्द्रियपारतन्त्र्यात्मकाज्ञानादेवेति न तेषां केवलं धावनक्लेशो वृथा, किन्त्वनर्थपरम्पराऽपीति ध्वन्यते। तस्मादिन्द्रियजयोऽवश्यविधेय इति हृदयम्॥ ६॥

शिष्यप्रबोधाय प्रत्येकं सोदाहरणमिन्द्रियाणामनर्थमूलत्वमाह

पतङ्गभृङ्गमीनेभसारङ्गा यान्ति दुर्दशाम्।
एकैकेन्द्रियदोषाच्चेद् दुष्टैस्तैः किं न पञ्चभिः॥ ७॥

पतङ्गेति। चेत्–यदि, पतङ्गभृङ्गमीनेभसारङ्गाः–पतङ्गाः शलभाः, भृङ्गा भ्रमराः, मीना मत्स्याः, इभा गजाः, सारङ्गा हरिणाः, ते सर्वे। "पतङ्गः शलभ" इति हैमः, "द्विरेफपुष्पलिड् भृङ्गषट्पदभ्रमराऽलयः" इति "पृथुरोमा झषो मत्स्यो मीनः" इति चामरः। "हस्तीमतङ्गजगजद्विपकर्यनेकपाः....इभः करेणुर्गर्ज" इति हैमः। "सारङ्गश्चातके भृङ्गे कुरङ्गे च मतङ्गजे" इति विश्वः। एकैकेन्द्रियदोषात्–एकस्यैकस्येन्द्रियस्य चक्षुरादेर्दोषाद्रागात्स्वस्वविषयप्रवृत्तिरूपादपराधाद्धेतोः, अन्यान्यप्रादु-

र्भाववत्समासः । दुर्दशाम्-दुरनिष्टां दशामवस्थाम्, मरणादिरू-
पामवस्थामित्यर्थः । तादृशावस्थाया अनिष्टत्वं सर्वलोकप्रसिद्ध-
मेवेति भावः । यान्ति-प्राप्नुवन्ति, तथाहि-पतङ्गा रूपलौल्या-
द्दीपेषु प्रवर्त्तमानाः प्रदीपवह्निना दह्यन्ते, भृङ्गाश्च गन्धलोभान्मद-
स्रावितु गजगण्डस्थलेषु प्रवर्त्तमाना गजेन कर्णतालेन हन्यन्ते,
मीनाश्च रसलोभाद्बडिशादिषु प्रवर्त्तमाना धीवरादिभि र्गृहीत्वा
गतासवः क्रियन्ते, गजाश्च स्पर्शलोभात्करिणीषु प्रवर्त्तमाना
हस्तिपकादिभिर्बध्यन्ते, हरिणाश्च शब्दलोभात्तदाविर्भावदिशं
प्रति प्रवर्त्तमानाः पाशेषु गर्त्तेषु पातयित्वा वा बध्यन्ते चेति
लोकप्रतीतमेव । ननु भवत्वेवम्, तेन मनुष्यस्य किमिति
चेत्तत्राह-पञ्चभिः-इदमेकमिदमेकमित्येवं सङ्कलनया पञ्च-
सङ्ख्याकैः, तैः-इन्द्रियदोषैः, पञ्चभिरिन्द्रियैः कृत्वैकव्यक्ता-
वेव समाहृतैः पञ्चभिर्दोषैरित्यर्थः । हेतौ गुणात्पञ्चमी विकल्प्यत
इति तैरिति तृतीया बोध्या । किं न ?-कुतो न ?, अपि तु
विशेषेणाऽवश्यमेव च दुर्दशां यान्तीति काका व्यज्यते । जना
इति शेषः । यत्रैकैकेन्द्रियदोषाद्दुर्दशा, तत्र पञ्चेन्द्रियदोषपञ्च-
कात्मेति किमु वक्तव्यमिति भावः । यदुक्तम्-"कुरङ्गमातङ्गपतङ्ग-
भृङ्गमीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च । एकः प्रमादी स कथं न हन्यते
यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्चे"ति ॥ ७ ॥

उक्तप्रकारोपदेशेनेन्द्रियजये जातां शिष्यस्य श्रद्धां दृढयितु-
काम उक्तार्थसङ्ग्रहपूर्वकं जितेन्द्रियं स्तुवन्नुपसंहरति—

विवेकद्विपहर्यक्षैः समाधिधनतस्करैः ।
इन्द्रियैर्न जितो योऽसौ धीराणां धुरि गण्यते ॥ ८ ॥

इति महामहोपाध्यायश्रीमद्यशोविजयोपाध्यायविरचिते ज्ञानसारे इन्द्रियजयाऽष्टकं नाम सप्तममष्टकम् ॥ ७ ॥

विवेकेति । यः–यत्प्रकारो जनः, विवेकद्विपहर्यक्षैः–विवेको हेयोपादेययोः सदसतोर्भेदेन ग्रहः, स एवेन्द्रियहर्यक्षघात्यत्वाद् द्वाभ्यां शुण्डया मुखेन च पिबतीति द्विपो गजस्तस्य तन्नाशकत्वात्तत्सम्बन्धिनो हर्यक्षाः सिंहास्तैस्तद्रूपैः । यदुक्तमिहैव–" वृद्धास्तृष्णाजलाऽऽपूर्णैरि "त्यादिनेति बोध्यम् । " सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्यक्षः केसरी हरिरि "त्यमरः । तथा–समाधिधनतस्करैः–समाधिर्ध्यानलयः, स एव सर्वेष्टप्रत्वाल्लौकिकेष्टप्रदसुवर्णादिधनरूपं धनं तस्य तदपहारकत्वात्तत्सम्बन्धिरूपैस्तस्करैश्चोरैः । यदुक्तं प्रकारान्तरेण पूर्वमिहैव–" गिरिमृत्स्नां धनं पश्यन्नि "त्यादिनेति बोध्यम् । तैस्तादृशैः, विवेकनाशकैः समाधिपरिपन्थिभिश्चेतिसमुदितसारार्थः । इन्द्रियैः–चक्षुरादिभिः पञ्चभिरिन्द्रियैः कर्तृभिः, न जितः–न स्वाधीनीकृतः, असौ–तादृशो विरलो जनः, धीराणाम्–धैर्यवतां दृढस्थिरचित्तानां योगिप्रभृतीनाम्, धुरि–अग्रे, गण्यते–कीर्त्यते । एतेन योगिनामपीन्द्रियजयो दुर्लभ इति ध्वन्यते । जितेन्द्रिय एव सर्वोत्कृष्टो धीर इति भावः । तस्मात्सर्वोत्कर्षलाभतोऽपीन्द्रियजयार्थमवश्यं सोद्यमेन भाव्यमिति तात्पर्यम् ॥ ८ ॥

इति ज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृ–कविरत्न–पन्न्यासप्रवरश्री-

यशोभद्रविजयजीगणिवरशिष्य——पन्न्यासश्रीशुभङ्करविजयगणिविरचितायां भद्रङ्करोदयाख्यायां व्याख्यायामिन्द्रियजयाऽष्टकं नाम सप्तममष्टकम् ॥ ७ ॥

## ॥ त्यागाऽष्टकम् ॥

इन्द्रियजयफलं श्रुत्वा सहर्षमुत्कर्णं तदभिमुखं शिष्यं सावधानीकुर्वन्निन्द्रियजयान्न साक्षादेव फलसम्पत्तिः, किन्तु त्यागद्वारा। स च धर्मसंन्यासो योगसंन्यासश्चेति द्विविधस्त्यागः कथं साध्य इति जिज्ञासाधीनतत्प्रकारबुबोधयिषया प्राथम्याद् धर्मसंन्यासं विवक्षुर्मातापितृसम्बन्धस्य सर्वसम्बन्धमूलत्वात्तत्त्यागमेवादावाह——

संयमाऽऽत्मा श्रये शुद्धोपयोगं पितरं निजम् ।
धृतिमम्बां च पितरौ तन्मां विसृजतं ध्रुवम् ॥ १ ॥

संयमात्मेति । संयमात्मा—संयमश्चारित्रम्, सर्वसावद्यविरतिः। स एवात्मा स्वरूपं यस्य स तादृशः, गृहीतचारित्रः सन्नित्यर्थः। निश्चयनयेन ह्यात्मनः सर्वसावद्यविरतिरूपशुद्धचिन्मयादित्वमेव स्वभावः, असंयमस्त्वज्ञानादिति गुणगुणिनोरभेदात्संयमात्मैवात्मा । आत्मनोऽसंयतस्य संयमपरिणामश्च सम्यग्ज्ञानादिना, तादृशसंयमश्च नैकदैव साध्यः, किन्त्वभ्यासादिना चारित्रादिलिङ्गप्रतिपत्तिपूर्वकं क्रमश एवेति ' चलन् चलित ' इति न्यायेन संयमसाधनप्रवृत्तः साकल्येन तदनवाप्तावपि संयमात्मैवेति बोध्यम्। अहमित्यर्थबलाल्लभ्यते। निजम्—स्वकीयम्, वस्तुतः स्वसम्बन्धिनम्, शुद्धोपयोगम्—शुद्धं मिथ्यात्वादिमोहादिलेश-

स्याऽप्यभावात्सम्यञ्चमुपयोगमात्मपरिणामरूपं ज्ञानमेव, पितरम्–भवभयादिरूपाऽपायादिभ्यः पालकत्वात्सकलेष्टप्रदत्वाच्च पातीति पितेति तादृशं परमार्थतः पितरम्, धृतिम्–धृतिः सन्तोषः, प्राप्तेतराऽनीहा, यत्प्राप्तं तावतैव तृप्तिश्च, विषयभोगोपभोगाऽलाभेऽप्यात्मनो ऽव्यग्रतारूपं स्वास्थ्यमिति यावत्। तां तद्रूपाम्, अम्बाम्–मातरम्, सांसारिकमातृवत्संयमात्मकमज्जननपोषणादितत्परत्वाद्धस्तुतो जननीम्। अत्राऽपि निजमिति लिङ्गव्यत्ययेन सम्बध्यते। चः समुच्चये। धृतिर्हि संयमं जनयति, नहि कदाप्यधीरस्य विषयाऽलाभे क्लिश्यतः संयमसिद्धिरिति बोध्यम्। "धृतिः सन्तोषः स्वास्थ्यं स्यादि" ति हैमः। श्रये–सेवे, यथा संयमात्मनो मम ताभ्यां लाल्यमानस्य पाल्यमानस्य च पोषो वृद्धिश्च स्याता मिति भावः। तत्–तस्मात्संयमात्मनो मम धृत्युपयोगरूपमातापित्रोराश्रयणाद्धेतोः, माम्–संयमात्मानं सांसारिकपुत्रसम्बन्धवत्त्वेनेष्टम्, पितरौ–सांसारिकसम्बन्धाऽपेक्षया मातापितरौ, ध्रुवम्–निश्चयेन, विसृजतम्–त्यजतम्, परमार्थतस्तावेव पितरौ, सांसारिकौ तु तौ तदभावे मोहकल्पितताविति वास्तवनिजमातापितृलाभे न्यासीभूत इव पुत्रः सांसारिकपितृभ्यां त्याज्यः। औचित्यात्तथैव लोकव्यवहाराच्च। नहि लोके न्यासं कोऽपि स्वायत्तीकरोतीति सम्प्रति निजपुत्ररूपेण मां न गणयतम्। मम धृत्युपयोगपुत्रत्वादिति निजपदेन ध्वन्यते। गृहीतसंयमस्य हि सांसारिकः सम्बन्धोऽकिञ्चित्करः, तस्याऽवास्तवत्वात् तादृशसम्बन्धस्य भवाऽनुबन्धित्वेनाऽनिष्टत्वाच्च। एवं च संयमं गृहीत्वा

भृत्यादिभिरेव सम्बन्धो वास्तव उपादेयः, सांसारिकश्च कल्पितोऽनिष्टश्च हेय इति हृदयम्। सांसारिकपितापुत्रादिसम्बन्धस्य कल्पितत्वे च धारिणीवज्रजङ्घपुत्रसुभानुकुमारकथानुसन्धेया। अत्र च विस्तरभिया तन्नोपन्यस्यते ॥ १ ॥

न मातापितृसम्बन्धत्यागमात्रेणेष्टसिद्धिरिति शिष्यं बुबोधयिषुर्बन्धुसम्बन्धत्यागमाह—

युष्माकं सङ्गमोऽनादिर्बन्धवोऽनियताऽऽत्मनाम्।
ध्रुवैकरूपान् शीलादिबन्धूनित्यधुना श्रये ॥ २ ॥

युष्माकमिति। बन्धवः—स्वजनाः!, आमन्त्रणमेतत्। पितृव्यमातुलादयो बान्धवा इत्यर्थः। "स्वो ज्ञातिः स्वजनो बन्धुरि"ति हैमः। अनियतात्मनाम्—न नियतो निश्चित आत्मा स्वरूपं बन्धुत्वरूपं येषां ते तादृशानाम्, हेतुवशाद्बन्धवोऽपि शत्रूयन्त इति न नियमेन ते बन्धव एवेत्यनियमेन बन्धुभूतानामित्यर्थः। एतच्च तत्सम्बन्धत्यागे बीजमुक्तम्। हेतुवशादेव ते बन्धवः, किञ्च भवान्तरे तेऽन्यादृशा अपीति तेषां कृत्रिमा बन्धुतेति तत्र को मोह इति तत्सम्बन्धस्त्याज्य एवेति भावः। युष्माकम्-बन्धु पदवाच्यानां भवताम्, सङ्गमः—सम्बन्धः, सङ्गतिर्योगो वा। अनादिः—प्रवाहरूपेणाऽनादिकालमारभ्य प्रवृत्तः, भवस्याऽनादित्वाद्भवे भवे च बन्धुसङ्गमादिति भावः। इति—भवद्भिः सङ्गमस्याऽनादित्वाद्धेतोः, अधुना—साम्प्रतम्, तं सङ्गमं विहाय, भवतो बन्धून्विहाय वेत्यर्थबलाल्लभ्यते। तत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह—

ध्रुवैकरूपान्–ध्रुवं निश्चितं यथास्यात्तथा, एकरूपान् तुल्यस्वभावान्। न तु कदापि कुतोऽपि हेतोः सांसारिकबन्धुवद्विभिन्नरूपान्, शीलादिबन्धून्–शीलं ब्रह्मचर्यं तदादीन् तत्परिपालनहिंसाऽस्तेयापरिग्रहसत्यादीन् सांसारिकबन्धुवत्सदैव भवव्यसनसहायत्वाद् बन्धून् परमार्थतो बन्धुपदवाच्यान्। श्रये–आश्रयामि। अध्रुवत्यागेन ध्रुव एवाऽऽश्रयणीयः, अन्यथाऽनर्थसम्प्राप्तेः। यदुक्तम्–" यो ध्रुवाणि परित्यज्याऽध्रुवाणीह निषेवते। ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति नष्टान्येवाऽध्रुवाणि तु " इति। सांसारिकसम्बन्धोऽध्रुवश्चिरात्प्रवृत्तत्वाज्जीर्णत्वादुद्वेगजनकश्च, किञ्चाऽनादिरित्यतो भवपरम्पराऽनुबन्धक एव न तु भवोच्छेदसहायः। कथमन्यथाऽनादिः स्यादित्यतस्तदुपेक्ष्य भवोच्छेदसहायत्वात्सदा बन्धुभावेनाऽवस्थानाद्ध्रुवत्वाच्च शीलादिबन्धव एवाऽऽश्रयणीयाः प्रेक्षावतेति सांसारिकबन्धुसम्बन्धोऽवश्यहेय इति शीलादिष्वेव बन्धुबुद्धिं कृत्वा सांसारिकांस्तांस्त्यजेदिति भावः ॥ २ ॥

बाह्यवर्गत्यागेनैव धर्मसंन्यासलाभ इति सङ्क्षेपेण शिष्यं बुबोधयिषुराह—

कान्ता मे समतैवैका ज्ञातयो मे समक्रियाः।
बाह्यवर्गमिति त्यक्त्वा धर्मसंन्यासवान् भवेत् ॥ ३ ॥

कान्तेति। मे–मम, एका–अद्वितीया, समता–सुखदुःखादिषु तद्धेतुषु च समाना ममत्वादिरहित्वान्मध्यस्था चित्तवृत्तिरेव, एवकारेण सांसारिकव्यवहारप्रसिद्धस्त्रीव्यवच्छेदः। एवञ्चैकेति

पदं लोकप्रयोगरूढ्योपात्तमवगन्तव्यम्, एवकारेणैव गतार्थत्वात् । कान्ता–मुक्त्याद्यलौकिककामनापूर्त्तिसाधनत्वात्स्त्री । सांसारिकी कान्ता तु दुष्परिणामेति सा न कान्ता भवितुमर्हतीति भावः । यस्य कान्ताऽस्ति, तस्य ज्ञातयोऽपि स्युरित्यत आह–मे–मम, समक्रियाः–समास्तुल्याः क्रियास्त्यागादिका येषां ते तादृशाः साधवः, एवकारोऽत्राऽपि सम्बध्यते । तेन लौकिकगोत्रादिप्रयुक्त ज्ञातिव्यवच्छेदः । ज्ञातयः–सगोत्राः, त्यागिनो हि त्यागिन एव ज्ञातयः, तेषां सांसारिकसम्बन्धत्यागात्तादृशसम्बन्धमूलकज्ञातीनामसम्भवात् । इति–उक्तप्रकारेण, समता कान्ता, साधवो ज्ञातयः, शीलादयो बन्धवो धृत्युपयोगौ पितरा वित्येवंप्रकारां बुद्धिं स्वसृमातुलादिष्वप्यनुकूलतयाऽऽस्थाय, बाह्यवर्गम्–आत्मसम्बन्धस्याऽनात्मधर्मेऽसम्भवाच्छरीरसम्बन्धमेव प्राधान्येनोपादाय प्रवृत्ततया बहिर्भवं पित्रादिकमन्यदपि स्वस्रादिकं सर्वपरिच्छदम्, परिवारपरिजनमित्रधनधान्यादिकमित्यर्थः । त्यक्त्वा–तेषु ममत्वं संहृत्य, धर्मसंन्यासवान्–धर्मो गृहिधर्मस्तस्य संन्यासस्त्यागस्तद्वान्, भवेत् । गृहिधर्मात्मकं पित्रादिसम्बन्धमुपलक्षणत्वाच्छरीरमूलवस्तुमात्रसम्बन्धं स्वस्वामित्वादिकमपि त्यजेदित्यर्थः । पित्रादिसम्बन्धस्याऽनादिवासनया दृढ़बद्धमूलत्वात्सर्वथैव सहसा तत्त्यागाऽसम्भवात्प्रथमं धृतिशुद्धोपयोगादीन् पित्रादिरूपत्वेनोपकल्प्य लौकिकपित्रादिसम्बन्धं त्यजेत् । स एषोऽतात्त्विको धर्मसंन्यासो बुद्धिपूर्वकत्वादिति बोध्यम् । अत्र चेदमवधेयम्–योगदृष्टिसमुच्चये सामर्थ्ययोगस्य धर्मसंन्यासो योगसंन्यासश्चेति द्वैविध्यमुक्तम् । तत्रोपाध्या-

येन धर्मसंन्यासस्य गृहिधर्मसंन्यास उत्तमधर्मसंन्यासश्चेति द्वैविध्यं स्वबुद्ध्योपकल्पितम्। कथमन्यथाऽत्राऽग्रिमश्लोके च विभिन्नप्रकारेण धर्मसंन्यासवर्णनं सङ्गतं स्यात्?। युक्तं चैतत्प्रतिभाति, क्रमेणैव हि त्यागो गुणवृद्ध्या साध्यो न तु युगपदेव, त्यागविषयभेदाच्च। यदुक्तम्—"अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा, यद्विरुद्धधर्माऽध्यासः कारणभेदश्चे" ति ॥ ३ ॥

तदेवं गृहिधर्मसंन्यासेन क्रमशो गुणवृद्ध्या तात्त्विकं धर्मसंन्यासं शिष्यमुपदिशन्नाह—

धर्मास्त्याज्याः सुसङ्गोत्थाः क्षायोपशमिका अपि।
प्राप्य चन्दनगन्धाभं धर्मसंन्यासमुत्तमम् ॥ ४ ॥

धर्मा इति। चन्दनगन्धाभम्—चन्दनस्य स्वनामप्रसिद्धस्य गन्धः सौरभः, स इव स्वाभाविकत्वादाभातीति तं तादृशं चन्दनगन्धवत्सहजम्, अत एव, उत्तमम्-गृहिधर्मसंन्यासाऽपेक्षयोत्कृष्टम्, स्वाभाविकत्वात्तात्त्विकमित्यर्थः। स्वाभाविकं ह्युत्तमं कृत्रिमं चाऽपकृष्टमिति लोकप्रसिद्धमिति भावः। धर्मसंन्यासम्-धर्मत्यागम्, तदाख्यं योगमित्यर्थः। धर्मत्यागजन्यं निर्विकल्पात्मकमात्मपरिणाममिति यावत्। प्राप्य—उपलभ्य, क्षायिकभावस्थः सन्नित्यर्थः। सुसङ्गोत्थाः-सु सतां देवगुर्वादीनां सङ्गात्तदुपासनादिरूपसम्पर्कादुत्तिष्ठन्ति कर्मक्षयोपशमत आविर्भवन्तीति ते तादृशाः, सुसङ्गजनितकर्मक्षयोपशमजन्याः। अत एव, क्षायोपशमिकाः—कर्मणां क्षयोपशमयोर्भवा इत्यतः क्षायोपशमिकशब्दवाच्याः, क्षायोप-

शमिकभावसहचारिण इति यावत्। अपिना गृहिधर्मसमुच्चयः। धर्माः—क्षमाशीलादयः, त्याज्याः—परिहरणीयाः, भवन्तीति शेषः। अत्रेदं बोध्यम्—यदा देवगुरूपासनादिना कर्मक्षयोपशमतः शीलादिपरिग्रहस्तदा स पित्रादिसम्बन्धत्यागेनैव भवतीति बाह्यवर्गत्यागो गृहिधर्मसंन्यासः। किन्तु सोऽतात्त्विकः, तस्याऽऽत्मस्वभावत्वाऽनापन्नत्वात्, तदानीं दर्शनज्ञानादेरर्हदाद्यालम्बनेन प्रवृत्तेरिदं त्यागादिकं ममेत्येवं भेदबुद्धेर्नागरूकत्वात्कृत्रिमत्वात्। यदा त्वभ्यासादिना गुणवृद्ध्याऽऽत्मा निर्विकल्पो जायते, तदाऽनालम्बनदर्शनज्ञानादिस्वरूप आत्मेत्यात्मस्वभावभूतत्वाद्दर्शनादेस्तदनुकूलक्रियामात्रनिवृत्तिरात्मनो निर्विकल्पत्वादिति तत्र यतिधर्माणां शीलादीनामपि देवगुर्वाद्यालम्बनानां निवृत्तिः। सहजशीलादेरेवतदानीं सत्त्वात्। अत एव तत्र यतिधर्मसंन्यासोऽपि। अतश्च स चन्दनगन्धवत्स्वाभाविक इत्युत्तमो धर्मसंन्यास इति तस्मिन् लब्धे क्षायोपशमिका भावास्त्याज्या इत्युच्यते। परमार्थतस्तु ते स्वयमेव निवर्त्तन्ते, निमित्ताऽभावादिति ॥ ४ ॥

ननु सर्वे धर्मास्त्याज्या इत्युच्यते, तर्हि किं गुरवोऽपि त्याज्याः? इति शिष्यशङ्कां समाधित्सुराह—

गुरुत्वं स्वस्य नोदेति शिक्षासात्म्येन यावता।
आत्मतत्त्वप्रकाशेन तावत्सेव्यो गुरूत्तमः ॥ ५ ॥

गुरुत्वमिति। यावता—यत्परिमाणेन कालेन कृत्वा, स्वस्य—मुमुक्षोर्जीवस्य, शिक्षासात्म्येन—शिक्षाभ्यां ज्ञानस्य ग्रहणरूपया

तदनुकूलाऽऽचरणाऽऽत्मकाऽऽसेवनारूपया च यत्सात्म्यं तन्मयत्वेनाऽऽत्मपरिणतिस्तेन कृत्वा, शिक्षयोरात्मसात्करणेनेत्यर्थः। न केवलमधिगममात्रेण कृतकृत्यता, किन्तु तथाऽनुष्ठानेन। यदुक्तम्—ज्ञानं भारः क्रियां विने"ति, "यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वानि"ति, "गुरुशुश्रूषया विद्ये"ति च। तदपि च न यान्त्रिकप्रवृत्तिवत्, अपि त्वात्मनस्तन्मयत्वमिष्टम्, तस्यैव फलसाधनप्रत्यलत्वादिति भावः। आत्मतत्त्वप्रकाशेन—आत्मनस्तत्त्वं सच्चिन्मयत्वमात्मैव तत्त्वमिति वा तस्य प्रकाशेन प्रबोधेन हेतुना, सच्चिन्मयात्मज्ञानेनेत्यर्थः। आत्मस्वरूपप्रकाशो हि शुद्धात्मप्रकाश एव, धर्मधर्मिणोरभेदादिति बोध्यम्। गुरुत्वम्—परप्रबोधयोग्यता, नोदेति—नाऽऽविर्भवति। एतेन हि यो ज्ञानं लब्ध्वा तथाऽनुष्ठानेनाऽऽत्मज्ञः स एव गुरुः परप्रबोधयोग्यः। स्वयं तीर्णस्यैव परतारणाऽधिकारात्स्वयमसिद्धस्य परसाधनाऽशक्तेश्चेति सूच्यते। यदुक्तम्—"परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्। धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः" इति। तावत्—तदवधि, गुरूत्तमः—आत्मबोधप्रदत्वादुत्तमो गुरुः, स एव ह्युत्तमो गुरु र्य आत्मबोधप्रद इति भावः। सेव्यः—परिचरणीय आश्रयणीयश्च। न तु त्याज्यः, धर्मसंन्यासवताऽपीति प्रस्तावाल्लभ्यते। जाते ह्यात्मबोधे सम्बन्धमात्रस्य निवृत्ते र्गुरुशिष्यसम्बन्धोऽपि निवर्त्तते स्वतः। आत्मज्ञानात्पूर्वं गुरुत्यागे तु यदर्थं सर्वारम्भ स्तन्मूल एव कुठाराघातः स्यात्, गुरुं विना ज्ञानलाभे साधनान्तरविरहाद् धर्मसंन्यासमात्रेण कृत—

कृत्यत्वासम्पत्तेश्चेति धर्मसंन्यासमाप्य वरं सर्वे धर्मास्त्यज्यन्ताम्, गुरुस्त्वात्मज्ञानाऽवधि सभक्ति सेवनीय एव। अनन्तरं तु कृतकृत्यतया तत्त्यागः सहजत एवेत्यन्यदेतदिति भावः ॥ ५ ॥

तदेवं गुरुत्यागमुक्त्वा गुरुत्वलाभार्थं सेवनीयानां ज्ञानाचारादीनां कदा त्याग इति शिष्यमनस्युन्मिषन्तीं जिज्ञासामुन्नीय समाधत्ते—

ज्ञानाऽऽचारादयोऽपीष्टाः शुद्धस्वस्वपदावधि ।
निर्विकल्पे पुनस्त्यागे न विकल्पो न च क्रिया ॥ ६ ॥

ज्ञानाचारादय इति । **ज्ञानाचारादयः**—ज्ञानस्य ज्ञानलाभोपयुक्तत्वात्तत्सम्बन्धी य आचारो ज्ञानग्रहणगुरुशुश्रूषादिः, स आदि र्येषां ते तादृशाः ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचाराः, अपिना पूर्वोक्तगुर्वादिसमुच्चयः । **शुद्धस्वस्वपदावधि**—शुद्धं शुद्धात्मस्वभावभूतत्वान्निरुपाधिकं यत्स्वंस्वं प्रतिस्वं पदं स्थानम्, स्वरूपमित्यर्थः । तदवधि तत्प्राप्ति यावदेव । तत्र ज्ञानाचारस्य केवलज्ञानं दर्शनाचारस्य केवलदर्शनं ( क्षायिकसम्यक्त्वम् ) चारित्राचारस्य क्षायिकं यथाख्यातचारित्रं तपआचारस्य परमं शुक्लध्यानं वीर्याचारस्य च सर्वथा—वीर्यशुद्धिरूपमकरणवीर्यं शुद्धं पदमिति बोध्यम् । विशेषं जिज्ञासुभिरागमोऽवलोकनीयः । **इष्टाः**—सेवनीयाः, तादृशपदलाभे तु कृतकृत्यत्वान्निष्प्रयोजनत्वादेतेषां त्यागो विधेयः । अत्रैव विशेषान्तरमाह—पुनरिति त्वर्थे । स च भेदो विशेषश्च । तदाह—**निर्विकल्पे**—इदं त्याज्यमित्येवमादि-

विकल्पशून्यतादशायां स्वभावादेव सर्वत्याग इति तादृशे विकल्परहिते, स्वाभाविके इति यावत्। त्यागे—त्यागदशायाम्, यदा तु निर्विकल्पस्त्यागः सिद्धो भवति, तदेत्यर्थः। न—नैव, विकल्पः—त्यागग्रहणादिसङ्कल्पः। चो हेतौ, यतो न विकल्पोऽतः, न—नैव, क्रियाः—ज्ञानाचारादिरूपाः प्रवृत्तयः। प्रवृत्तीनां सङ्कल्पप्रभवत्वात्कारणाऽभावात्तत्कार्यरूपायाः क्रियायाः सुतरां स्वत एव निवृत्तेः। एवञ्चाऽऽत्मज्ञानेऽपि सर्वाः क्रियाः शुद्धस्वस्वपदार्प्ति यावदासेवनीया एव, तथैव गुणवृद्धया शुद्धस्वस्वपदलाभात्। अत एव सविकल्पदशायां शुद्धस्वस्वपदमाचारमर्यादा। निर्विकल्पदशायां तु न काऽपि मर्यादा, विकल्पाऽभावादेव क्रियानिवृत्तेः। नहि मर्यादा विकल्पाऽभावेऽपि क्रियां निर्वर्तयेत्। अतो यदैव निर्विकल्पस्त्यागः प्राप्यते, तदैव क्रियानिवृत्तिरिति स एव क्रियानिवृत्तिमर्यादा। यदुक्तम्—"नैव तस्य कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चने"ति हृदयम् ॥ ६ ॥

तदेवं त्यागक्रमेण धर्मसंन्यासतो गुणवृद्धयाऽऽत्मनः स्वस्वरूपमात्रेणाऽवस्थानात्मकं योगसंन्यासरूपं चरमं त्यागं शिष्यप्रतिबोधाय न्यूनतापरिहाराय चाऽऽह—

योगसंन्यासतस्त्यागी योगानप्यखिलांस्त्यजेत्।
इत्येवं निर्गुणं ब्रह्म परोक्तमुपपद्यते ॥ ७ ॥

योगेति। त्यागी—उक्तप्रकारेण धर्मसंन्यासेन त्यक्तक्षायोपशमिकधर्मो मुनिः, योगसंन्यासतः—योगसंन्याससामर्थ्यं धर्मसं-

न्यासेन कृत्वा गुणवृद्ध्या प्राप्य, अखिलान्–सकलान्, न तु कतिपयानेव, योगान्–कायवाङ्मनोव्यापाररूपान् ज्ञानाचारादीन्, अपिना क्षायोपशमिकधर्मसमुच्चयः। त्यजेत्–निरुन्ध्यात्। केवलज्ञानेन कृत्वा ह्यचिन्त्यवीर्यशक्त्या भवोपग्राहिकर्मक्षयरूपाऽऽयोज्यकरणादूर्ध्वं शैलेशीदशायां योगसंन्यासो लभ्यते। तत्र च कायादिसर्वयोगानां रोधादयोगाख्यः सर्वसंन्यासरूपः सर्वोत्कृष्टो योगः प्राप्यते। एष हि निर्विकल्प स्त्यागः। इतः प्रागपि तथाविधाऽध्यवसायवशात्स प्राप्य इतित्वन्यदेतत्। तदेवं सर्वौपाधिकगुणरोधादात्मनि निर्गुणत्वमाविर्भवति, स्वस्वरूपमात्रेण शुद्धसच्चिदानन्दरूपेण च तदानीमात्माऽवभासते। एवं च शैलेशीदशायां यदौपाधिकगुणराहित्यमात्मनस्तदेवाऽऽदाय निर्गुणं ब्रह्मेति परतीर्थिकप्रवादः कथञ्चिदुपपद्यते। परमार्थतस्तु निर्गुणत्वमात्मनि न सम्भवत्येव। तस्य शुद्धसच्चिदानन्दगुणात्मकत्वात्तादृशगुणाऽभावे गुणिनोऽप्यभावाऽऽपत्तेरित्येतत्सर्वं मनसि कृत्वाऽऽह–इति–अनेन कायादियोगत्यागेन हेतुना, एवम्—उक्तप्रकारेण, परोक्तम्–परतीर्थिकैः प्रतिपादितम्, ब्रह्म–शुद्धसच्चिदानन्दमय आत्मा, निर्गुणम्–गुणरहितम्, उपपद्यते–युक्तिमद्भवति। निर्गुणपदे हि गुणपदेन कायाद्यौपाधिकयोग एव गृह्यते, योगसंन्यासेन तत्त्यागादेव च ब्रह्मणो निर्गुणत्वम्, न तु स्वभावभूतचिन्मयादित्वत्यागात्। तथा सति हि गुणमात्राऽभावे गुणिनः सत्त्वे प्रमाणाऽभावान्निर्गुणशब्दस्यैव निर्गुणत्वाऽऽपत्तेः, सत्यर्थे हि शब्दप्रयोग इति हृदयम्॥ ७॥

ननु निर्विकल्पे आत्मनि कुतो गुणसम्भवः, गुणानां विकल्पेन विना भावाऽप्रसिद्धेरिति शिष्यजिज्ञासां समाधित्सुस्त्यागफलमुपदर्शयन्नुपसंहरति—

वस्तुतस्तु गुणैः पूर्णमनन्तै र्भासते स्वतः ।
रूपं त्यक्तात्मनः साधो र्निरभ्रस्य विधोरिव ॥ ८ ॥

इति महामहोपाध्यायश्रीयशोविजयोपाध्यायविरचिते ज्ञानसारे त्यागाऽष्टकं नामाऽष्टममष्टकम् ॥ ८ ॥

वस्तुतस्त्विति । तुः परोक्तं निर्गुणं ब्रह्माऽपेक्ष्य विशेषं द्योतयति । औपाधिकगुणशून्यतयैव निर्गुणः, वस्तुतः—परमार्थतस्तु सगुण एव सदा भवत्यात्मा, न तु परमार्थतः कदापि निर्गुण इति तात्पर्यम् । तथाहि—त्यक्तात्मनः—त्यक्तं त्यागः, नपुंसके भावे क्तः । तदात्मक आत्मा स्वरूपं यस्य तस्य तादृशस्य सर्वसंन्यासपरिणतस्याऽऽत्मनः । योगनिरोधस्वभावत्वाद्योगयोगिभावाऽभावादात्मन इत्थमुक्तिरिति ध्येयम् । योगसंन्यासवत इति यावत् । सर्वावरणशून्यस्येति तु परमार्थः । साधोः—साधकस्य, रूपम्—स्वरूपम्, अनन्तैः—अन्तरहितैः, नत्वेकेन द्वाभ्यां बहुभिर्वा । गुणैः—ज्ञानादिगुणैः, पूर्णम्—सम्भृतम्, तन्मयमित्यर्थः । आत्मनस्तत्स्वभावत्वात् । एवं च दूरे निर्गुणत्ववार्त्ता, प्रत्युताऽयमात्माऽनन्तगुणपूर्ण इत्याकूतम् । ननु ज्ञानाद्यात्मनस्तस्य तादृशस्य कथं भासनम्, ज्ञानसाधनाऽभावादिति चेत्तत्राह—निरभ्रस्य—मेघाद्यावरणरहितस्य, "अभ्रं मेघो वारिवाह" इत्यमरः । विधोः—चन्द्रस्येव, यथा

निरभ्रश्चन्द्रस्तथेत्यर्थः । " चन्द्र इन्दुः कुमुदबान्धवः । विधुः सुधांशुः शुभ्रांशुरि " त्यमरः । स्वतः—स्वयमेव, भासते—प्रकाशते । आत्मा हि स्वप्रकाश एव, नहि तत्र साधनान्तरमपेक्ष्यते । आवरणभावात्तदवबोधो नेति त्वन्यदेतत् । एवञ्च यथा मेघाद्यावरणे सति चन्द्रो न प्रकाशते, तदपगमे तु साधनान्तरं विनैव स प्रकाशात्मनैव स्वत एव प्रकाशते, तस्य प्रकाशात्मकत्वात् । तथा त्यागेन सर्वावरणविलये चिदाद्यात्माऽऽत्मा स्वतः प्रकाशते, तस्य चिदाद्यात्मकत्वादिति भावः । एवञ्च तादृशसच्चिदानन्दमयस्वप्रकाशदशालाभाय शमं साधयित्वा क्रमशस्त्यागं साधयन् सर्वसंन्यासं साधयेदिति हृदयम् ॥ ८ ॥

इति ज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृकविरत्नपन्यासप्रवरश्रीयशोभद्रविजयजीगणिवरशिष्यपन्यासश्रीशुभङ्करविजयगणिविरचितायां भद्रङ्करोदयाख्यायां व्याख्यायां त्यागाऽष्टकं नामाऽष्टममष्टकम् ॥८॥

---

## ॥ क्रियाऽष्टकम् ॥

ज्ञानिनो धर्मसंन्यासमात्रेण न कृतकृत्यता, अपि तु ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष इति ज्ञानिनोऽपि क्रियाऽवश्यमपेक्षिता । नाऽन्यथोक्तत्यागादिसम्भव इति ज्ञाने सति क्रियासु प्रमादो नैव इति शिष्यं प्रबोधयितुं क्रियावानेव ज्ञानी कृतकृत्य इत्याह—

ज्ञानी क्रियापरः शान्तो भावितात्मा जितेन्द्रियः ।
स्वयं तीर्णो भवाम्भोधेः परांस्तारयितुं क्षमः ॥ १ ॥

ज्ञानीति । शान्तः–शमाऽष्टकोक्तोपशमगुणविशिष्टः समतामति र्विषयविमुखश्चेत्यर्थः । तत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह–भावितात्मा–भावितः सम्यक्त्वादिशुभाध्यवसायादिवासित आत्मा यस्य स तादृशः, शुभाध्यवसायपरिणत इत्यर्थः । आत्मनः शुभविचारपरतयैवोपशमसिद्धिरिति भावः । एतत्सर्वं चेन्द्रियवृत्त्यनिरोधे हस्तिस्नानमिवेत्यत आह–जितेन्द्रियः–स्ववशेन्द्रियः, निरुद्धेन्द्रियवृत्तिरित्यर्थः । अन्यथोपशमो लब्धोऽप्यकिञ्चित्करः स्यादात्मनश्चेन्द्रियाधीनतया कालुष्यं स्यादिति भावना वाङ्मात्रमेव स्यादिति सर्वमेव कृतं शमादिकं निष्फलं स्यात् । यदुक्तम्–" नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चाऽयुक्तस्य भावना । न चाऽभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ! पाप्मानं प्रजहीह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनमि "ति भावः । एवमेतावता बहिर्विषयेषु सर्वथा व्यासङ्गराहित्यं प्रतिपादितम् । उक्तगुणत्रयविशिष्टस्यैव सर्वथा विषयवैराग्याऽधिकृतत्वादिति बोध्यम् । तदेतादृशः, ज्ञानी–सम्यग्ज्ञानवान् मुनिः । क्रियापरः–क्रिया आवश्यकादिकाः, तत्परः कायेन मनसा वाचा च तादृशक्रियाऽऽराधने विहितप्रयत्नः सन् । स्वयम्–आत्मना, भवाऽम्भोधेः–भवः संसारोऽनेकजन्ममरणाद्यावर्त्तबाल्यजरादितरङ्गाऽनेकव्याध्यादिजलजन्तुकर्मजलराशिसम्पन्नत्वादम्भोधिः सागर इव, तस्मात्, तीर्णः–निष्क्रान्तः, परं पारं प्राप्त इत्यर्थः । भवतीति शेषः । अत एवोक्तं " ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष " इति । तथा, परान्–भवाम्भोधिपतितान् स्वभिन्नान् भवदुःखार्त्तान् प्राणिनः, तारयितुम्–ज्ञानक्रियाऽनुष्ठानो-

पदेशादिना भवाम्भोधेः परंपारं प्रापयितुम्, क्षमः–समर्थो योग्यश्च । भवतीति शेषः । वचनाऽनुकूलक्रियावत एव वचनमुपादेयम् । अन्यथा तु परोपदेशे पाण्डित्यबुद्ध्या लोकानां तदुक्तेष्वनादरात्तै-र्ज्ञानक्रिययोरनाराधनात्तेषां तारणं न स्यादेवेति लोकै र्ग्राह्यवचनः स्यामित्येवं लोकोपकारः स्वस्य च लाभ इति द्वयोः करयोर्मोदकं ज्ञानिनः क्रियापरस्येतिभावः ॥ १ ॥

ननु मा भूत्परतारणम्, स्वयं तीर्ण इत्येतावदेव पर्याप्तमिति चेन्न। क्रियां विना स्वयमपि तरणाऽसम्भवादिति शिष्यं प्रबोधयति–

क्रियाविरहितं हन्त ! ज्ञानमात्रमनर्थकम् ।
गतिं विना पथज्ञोऽपि नाऽऽप्नोति पुरमीप्सितम् ॥ २ ॥

क्रियेति । क्रियाविरहितम्–क्रियया शास्त्रोपदिष्टमोक्षाऽनु-गुणाऽऽवश्यकादिक्रियया विरहितं विनाकृतम्, क्रियासाहचर्य-शून्यमित्यर्थः । अतएव, ज्ञानमात्रम्–ज्ञानमेव ज्ञानमात्रम्, गुर्वा-द्यधिगतमेकं नवरमात्मतत्त्वबोधकं सम्यग्ज्ञानम्, हन्त–निश्चयेन, अनर्थकम्–न अर्थो यतस्तादृशम्, प्रयोजनसम्पादनाऽसमर्थम्, न मुक्तिपदमित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तमाह—पथज्ञः–पथं मार्गं जानातीति सः, तादृशो मार्गज्ञोऽपि, अपिना–मार्गज्ञानशून्यस्य तु कथैव केति सूच्यते । " वाटः पथश्च मार्गश्चे"त्यमरः । गतिम्–पादविहरणात्मकक्रियाम्, विना–ऋते, ईप्सितम्–इच्छाविषयम्, गन्तुमिष्टमित्यर्थः । पुरम्–उपलक्षणत्वान्नगरग्रामादिकं गन्तव्य-स्थानम् । " पूः स्त्री पुरी नगर्यौ वे"त्यमरः । न–नैव, आप्नोति–

प्राप्नोति। एवञ्च मार्गज्ञस्याऽपि यथा गतिं क्रियां विना न गन्तव्यदेशप्राप्तिः, तथा ज्ञानिनोऽपि क्रियां विना न मुक्त्याद्यीष्टप्राप्तिः। ज्ञानेन हि प्रापयितव्यायां मुक्तौ क्रिया द्वारम्। क्रियैवाऽऽत्मनि मुक्त्यनुगुणगुणाधानात्। यदुक्तम्—"ज्ञानं भारः क्रियां विने"ति। यत्र क्रियां विना स्वस्यैव तारणमसम्भवम्, तत्र परतारणस्य का वार्ता?। न हि स्वयमसिद्धः परान् साधयितुं क्षमो भवतीति भावः ॥ २ ॥

ननु ज्ञानं स्वयमेवाऽऽत्मतत्त्वप्रकाशने समर्थमिति तस्य कृते क्रियासाहचर्येणेति शिष्यव्यामोहं निराकुर्वन्नाह—

स्वाऽनुकूलां क्रियां काले ज्ञानपूर्णोऽप्यपेक्षते।
प्रदीपः स्वप्रकाशोऽपि तैलपूर्त्यादिकं यथा ॥ ३ ॥

स्वेति। काले—गुरुपर्युपासनव्रतानुष्ठानादिना ज्ञानलाभानन्तरम्, ज्ञानपूर्णः—ज्ञानेन सम्यग्ज्ञानेन कृत्वा पूर्णः समग्रः, अविकलसम्यग्ज्ञानवानित्यर्थः। अपिनाऽपूर्णज्ञानस्य तु कथैव केति सूच्यते। स्वानुकूलाम्—स्वस्य ज्ञानपूर्णस्याऽनुकूलाऽनुरूपा पातनिवारणगुणोत्कर्षणाऽधिकृतत्वादनुगुणा च, तां तादृशीम्, स्वयोग्यां स्वपोषिकां चेत्यर्थः। क्रियाम्—आवश्यकादिक्रियाम्, अपेक्षते—कर्त्तव्यत्वेनाऽऽकाङ्क्षति, अन्यथा हि निष्क्रियस्य गुणोत्कर्षाऽसम्भवात्कदाचित्पातसम्भावनाच्च। एवञ्च यावन्नाऽऽत्मसाक्षात्कारस्तावदवश्यं क्रियावता भाव्यं ज्ञानिनाऽपीति हृदयम्। ज्ञानपूर्णोऽपि काले स्वानुकूलामित्यादिप्रकारेणाऽन्वयस्तु न रोचते। ज्ञानपूर्णस्य

काले क्रियाऽपेक्षिता न सर्वदेत्यनिष्टार्थस्य सम्भावनादिति विचारणीयम्। दृष्टान्तमाह–यथेति दृष्टान्तोपनिदर्शने। प्रदीपः–स्वनामख्यातः प्रकाशसाधनं दीपः, स्वप्रकाशः–स्वेनैव साधनान्तरनैरपेक्ष्येण प्रकाशते प्रकाशात्मना वर्त्तते, परं प्रकाशयति च, तथा स्वाभाव्यादिति सः, स्वयमेव प्रकाशमानोऽत एव परप्रकाशकोऽपि सन्। दीपः स्वोत्पत्तावेव साधनमपेक्षते, न तु प्रकाशने, तद्धि तस्य सहजः स्वभावः, नहि कस्यचित्स्वभावः साधनान्तरमपेक्षते। अन्यथा स स्वभाव एव न स्यात्। अकृत्रिमधर्मस्यैव सहजस्वभावत्वात्। ज्ञानेऽप्येतद्विशेषणम्, ज्ञानपूर्णो हि स्वप्रकाश एव, ज्ञानेनैव स्वस्य प्रकाशनादिति बोध्यम्। अपिना परप्रकाश्यस्य तु प्रकाशार्थं क्रियां विना नैव निर्वाह इति सूच्यते। तैलपूर्त्यादिकम्–तैलस्य स्नेहस्य या पूर्तिर्दीपाधारशरावे प्राङ्निक्षिप्ततैलव्ययाऽनन्तरं पुनःप्रक्षेपः, आदिना दशापूर्त्यादिर्गृह्यते। तैलवर्त्यादिकमिति पाठे तु वर्तिर्दशा, आदिना निर्वाताऽऽवृतगृहादिः। तैलपूर्तिरादिर्यस्य तत्तादृशं कर्मेति समासः, अपेक्षते इति सम्बध्यते। अन्यथा तैलाद्यभावात्स्वप्रकाशोऽपि दीपो विध्यातः स्यात्, स्थितिसाधनाभावात्, कारणनाशे कार्यनाशाऽवश्यंभावात्। तथा ज्ञानपूर्णः स्वस्वभावस्थत्वात्स्वप्रकाशोप्यावश्यकादिक्रियामवश्यं कुर्यात्। ज्ञानं हि क्रिययोपजीवति, ततः क्रियाऽभावे ज्ञानमात्रं न पर्याप्तमिति तात्पर्यम् ॥ ३ ॥

क्रिया बाह्यप्रवृत्तिरिति सा ज्ञानिनामनुपादेया, ध्यानाद्यन्तः–क्रिययैव तेषां क्रियाकाङ्क्षापूरणादिति शिष्यशङ्कां समाधित्सुर्बाह्य-

क्रियां विना न कृतकृत्यत्वसम्भव इत्याह—

बाह्यभावं पुरस्कृत्य ये क्रियां व्यवहारतः ।
वदने कवलक्षेपं विना ते तृप्तिकाङ्क्षिणः ॥ ४ ॥

बाह्यभावमिति । ये—यत्प्रकारा जनाः, बाह्यभावम्—बहिः शरीरादिसाध्यत्वादात्मभिन्ने भवो बाह्यः, सचाऽसौ भावः परिणाम आवश्यादिक्रियारूपश्च, तम्, आवश्यकादिका क्रिया बहिःसाधनसाध्येत्यतो ज्ञानिनोऽनुपादेयेत्येवमित्यर्थः । पुरस्कृत्य—अग्रेकृत्वा, युक्तिरूपेणोपादाय समर्थ्य वा, व्यवहारतः—व्यवहारो विवादस्तमाश्रित्येति यञ्लोपे पञ्चमी । ज्ञानिनो ह्यान्तरेण भावेन प्रयोजनं न बाह्येन भावेन शैक्षानुरूपेण । बाह्यभावप्रयोजनस्य ज्ञानस्य सम्पन्नत्वादित्येवं विवादमाश्रित्येति तात्पर्यम् । "व्यवहारो विवादः स्यादि"ति हैमः । क्रियाम्—आवश्यकादिकां क्रियाम्, विना—ऋते, तृप्तिकाङ्क्षिणः—तृप्तिं श्लेषाऽनुरोधाल्लक्षणया शाश्वताऽखण्डसुखं ज्ञानफलं काङ्क्षन्त इत्येवं शीलाः, ज्ञानेन परमसुखलिप्सव इत्यर्थः । ते—तादृशा जनाः, वदने—मुखे, "वक्त्राऽऽस्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखमि"त्यमरः । कवलक्षेपम्—कवलस्य भक्ष्यस्याऽन्नादेर्ग्रासस्य क्षेपो न्यासस्तम्, कवलभक्षणमित्यर्थः । "ग्रासो गुडेरकः पिण्डो गडोलः कवको गुडः । गण्डोलः कवल" इति हैमः । विना, तृप्तिकाङ्क्षिणः—क्षुदुपशमजन्यसुखविशेषेच्छवः । "तृप्तिः सौहित्यमाघ्राणमि"ति हैमः । यथा कवलभक्षणरूपं बाह्यभावं विना न क्षुधितस्य ज्ञानेन कवलचिन्तनेऽपि क्षुदुपशम इति न

तस्य वृष्टिः, तथा विवादबलात्क्रियाया बाह्यभावत्वं समर्थ्य तत्त्यागे न ज्ञानिनो ध्यानादिमात्रेण परमसुखप्राप्तिः, बाह्यक्रियां विना ध्यानाद्यन्तःक्रियाया अप्यसाध्यत्वात् । तथा च क्षुन्निवृत्तिपूर्वकमनस्तृप्तये बाह्यभावस्य कवलस्याऽपेक्षावत्स्वाभाविकसुखार्थं बाह्यभावस्य क्रियाया अप्यपेक्षा । नहि फलं विवादेन साध्यम्, किन्तु साधनेनेति गूढाकूतम् ॥ ४ ॥

ननु क्रियां विना न निर्वाहो ज्ञानिनोऽपीति मुहुर्मुहुरुच्यते, न पुनस्तस्य क्रिया कथं कृत्वोपयोगिनीति प्रतिपाद्यते इति शिष्याऽप्रीतिं सम्भाव्य क्रियोपयोगमेव प्रपञ्चयन्नाह—

गुणवद्बहुमानादे र्नित्यस्मृत्या च सत्क्रिया ।
जातं न पातयेद्भावमजातं जनयेदपि ॥ ५ ॥

गुणवदिति । सत्क्रिया—सती शुभपरिणामत्वान्निरवद्या या क्रियाऽऽवश्यकादिका, सा । गुणवद्बहुमानादेः—गुणाः सम्यग्दर्शनादयस्तद्वतां प्रशस्तगुणसमग्राणां यो बहुमानो मान्यबुद्ध्या सादरसप्रेमसत्कारशुश्रूषादयः, आदिना पापजुगुप्साऽतिचाराऽऽलोचनादेवगुरुभक्तिप्रभृतयः, तस्माद्धेतोः, नित्यस्मृत्या-नित्यमनिशमहरहर्वा या स्मृति र्गृहीतव्रतस्मरणम्, तया हेतुना, उपलक्षणत्वान्नवीनप्रत्याख्यानसामायिकादिना च, चः समुच्चये । जातम्—उत्पन्नमाविर्भूतं वा, भावम्—पर्यायं सम्यग्दर्शनादिरूपम्, न-नैव, पातयेत्-च्यावयेत्, प्रतिपातं प्रयोजयेत्, पातं ह्रासं प्रतिरुन्ध्यादिति यावत् । तथा, अजातम्—अनुत्पन्नं धर्मध्यानादिकं

भावम्, जनयेत्-उत्पादयेत्। अपिश्चाऽर्थे। शुभक्रिया हि क्रियमाणा गुणवद्बहुमानादिरूपा गृहीतव्रतस्मृतिनवीनप्रत्याख्यानसामायिकादिरूपैव च भवति। अत एव च तादृशक्रियावशादुत्पन्नो भावः स्थिरो भवति, प्रमादश्च परिहीयते। क्रियावशादुत्तरोत्तरगुणवृद्ध्या शुभोत्कृष्टभावान्तरप्राप्तिरपि भवति। तस्माज्ज्ञानिनाऽपि क्रिया विधेयैव, न तु विवादबलाद्धेया। नहि विवादो जातं भावं न पातयेदजातं जनयेच्चाक्रियाया एव तत्राऽधिकृतत्वात्। क्रियासाहचर्यं विना ज्ञानमात्रस्योक्तयुक्त्याऽकिञ्चित्करत्वादिति तात्पर्यम्। अत्र नित्यस्मृत्यादिना प्रमादपरिवर्जनं ततश्च गृहीतव्रतसंरक्षणादिना जातभावपातनिरोधः, गुणवद्बहुमानादिना तत्सम्पर्कान्नवनवशुभभावप्राप्तिरिति तात्पर्यं प्रतिभाति, पृथगुपादानात्। वस्तुतस्तु सर्वैव क्रिया पातनिरोधिका गुणवर्धिका च। पृथक्कथनं चोपलक्षणत्वादादिना च सर्वशुभक्रियासङ्ग्रहायैव। शास्त्रे पातवृद्ध्योः क्रियाणां विवेकेनाऽप्रतिपादनादिति विभावनीयम्॥ ५॥

क्रियासु श्रद्धाऽतिशयो यथा स्यादिति क्रिया न केवलं पातनिरोधभावोत्पादप्रयोजिका, अपि तु पतितस्याऽपि भाववृद्धिहेतुरिति शिष्यं प्रबोधयन्नाह—

क्षायोपशमिके भावे या क्रिया क्रियते तया।
पतितस्याऽपि तद्भावप्रवृद्धि र्जायते पुनः॥ ६॥

क्षायोपशमिक इति। क्षयोपशमिके-क्षय उदयावलिकाप्रविष्टानां कर्मणामनुभवादिना परिशाटः, उपशम उदयावलिका-

प्रविष्टानां तदन्येषां च कर्मणां विपाकतो निरोधः, ताभ्यां निर्वृत्तः क्षायोपशमः परिणामविशेषः, तत्र भवः क्षायोपशमिक आत्मपरिणाम-विशेषः, तस्मिन् तद्रूपे, भावे–पर्याये, सतीति शेषः । कर्मणां क्षयोपशमयोः सतो विशिष्टसम्यक्त्वादिपरिणामपरिणते आत्मनि सतीत्यर्थः । या–यादृशी, क्रिया–आवश्यकादिका शुभक्रिया, तस्या एव भाववृद्ध्यादावधिकृतत्वादिति बोध्यम् । क्रियते–अनुष्ठीयते, क्षायोपशमिकभावस्थेन जीवेनेत्यर्थवशाल्लभ्यते । तया–तादृश्या शुभक्रियया क्षायोपशमिकभावस्थेनाऽऽत्मना क्रियमाण–या कृत्वा, पतितस्य–कथञ्चित्प्रमादादिना पूर्वलब्धाद्गुणाच्च्युत–स्याऽपि, पुनः–भूयोऽपि, तद्भावप्रवृद्धिः–तस्य पूर्वं प्राप्तस्य भावस्य सम्यक्त्वादिगुणपरिणामस्य प्रकर्षेण वृद्धिरुत्कर्षः, जायते–निष्पद्यते । न केवलं तद्भावलाभ एव, अपि तु ततोऽप्युत्कर्षो जायत इति प्रोपसर्गार्थः । यत्र पतितस्याऽपि भावप्रवृद्धिः, तत्रो-त्तरोत्तरं गुणकक्षामारोहतो भावप्रवृद्धि र्जायत इति किमु वक्तव्य-मित्यपिना सूच्यते । एवञ्च क्रिया महाप्रभावा गुणोत्कर्षहेतुश्चेति साऽवश्यं ज्ञानिभिरप्यनुष्ठेयैव न तु हेयेति भावः ॥ ६ ॥

तदेवमेतावता प्रबन्धेनोपपादितं क्रियाया विधेयत्वमुपसंह-रन् जिनानामपि क्रिया विधेयैवेति शिष्यव्यामोहो मा भूदित्यर्था-पत्त्या तेषां न तया प्रयोजनमित्याह—

गुणवृद्ध्यै ततः कुर्यात्क्रियामस्खलनाय वा ।
एकं तु संयमस्थानं जिनानामवतिष्ठते ॥ ७ ॥

गुणवृद्ध्यायिति । ततः–क्रियाया जातभावपातनिरोधाऽजातभावोत्पादपतितभावप्रवृद्धिसमर्थत्वाद्धेतोः, गुणवृद्धयै–सम्यक्त्वादिगुणवृद्धिनिमित्तम्, यथा क्रमात् क्षायिकभावलाभः स्यात्तदर्थमित्यर्थः । अस्खलनाय–लब्धगुणाऽप्रपातायं, वेति चार्थे, क्रियाम्–आवश्यकादिकां शुभक्रियाम् । कुर्यात्–अनुतिष्ठेत्, विधौ सप्तमी बोध्या । ज्ञान्यपीति शेषः । ज्ञानिनोऽपि हि गुणवृद्धे रिष्टत्वात्प्रमादादिना गुणहानिसम्भवाच्चेति भावः । ननु कोऽपीदृशोऽस्ति न वा, यस्य क्रियया न प्रयोजनमितिशिष्यजिज्ञासानिवृत्तये आह–एकम्–केवलम्, "एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथे"त्यमरः । जिनानाम्–जयन्ति रागादीनरीनिति जिनाः क्षायिकज्ञानादिमन्तो वीतरागास्तेषाम्, आदरार्थं बहुवचनं जिनानां बहुत्वाद्वा । यद्यपि तज्जिनादयोऽपि प्रसिद्धाः, तथाऽपि तेऽत्र नेष्टाः । तेषां क्षायोपशयिकभावस्थतया संयमस्थानस्य प्रतिपातसम्भवात्क्रियाऽधिकारादित्यवधेयम्, केवलेन जिनपदेन तत्तत्स्थले वीतरागग्रहणस्यैव व्यवहारप्रसिद्धत्वाच्चेति बोध्यम् । तुः पूर्वस्माद्विशेषे भेदे च । तदाह–संयमस्थानम्–संयमपरिणामपर्यायः, अवतिष्ठते–स्थिरो भवति, न प्रतिपततीत्यर्थः । जिनानां संयमपरिणामधारा स्वभावभूतत्वान्निरन्तरं निरवच्छिन्नं च प्रवर्त्तते । यद्वैकमिति संयमस्थानमित्यस्यैव विशेषणम्, समानप्रकारमिति च तदर्थः । नोपचीयते नचाऽपचीयते इति यावत् । एवञ्च अवतिष्ठत इत्यस्याऽवस्थितो भवतीत्यर्थः । तेषां गुणापचयोपचयहेतुभूतकर्मण एवासम्भवाद्गुणानां परांकाष्ठामितत्वाच्च । एवञ्च तेषां क्रियया न प्रयोजनम्,

अन्येषां तु तदवश्यमपेक्ष्यत उक्तयुक्तेरिति भावः ॥ ७ ।

ननु यदि क्षायिकभावस्थस्य क्रियया न प्रयोजनं तर्हि ज्ञानान्मुक्तिरित्येवाऽऽयातम्, क्रिया च ज्ञानादिगुणोत्कर्षहेतुरिति मुक्तिं प्रत्यन्यथासिद्धम् । एवं च ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष इति स्वसिद्धान्तो विरुध्यत इति शिष्यविप्रतिपत्तिं निराकरिष्णुः क्रियायाः पारमार्थिकं तत्त्वमुपदर्शयन्नुपसंहरति—

वचोऽनुष्ठानतोऽसङ्गक्रियासङ्गतिमङ्गति ।
सेयं ज्ञानक्रियाऽभेदभूमिरानन्दपिच्छिला ॥ ८ ॥

इति महामहोपाध्यायश्रीमद्यशोविजयोपाध्यायविरचिते
ज्ञानसारे क्रियाऽष्टकं नाम नवममष्टकम् ॥ ९ ॥

वच इति । वचोऽनुष्ठानतः—वचस आज्ञारूपस्य वचनस्योपलक्षणत्वात्तत्प्रतिपादितक्रियाया अनुष्ठानतः पालनतः, आराधनत इत्यर्थः । असङ्गक्रियासङ्गतिम्—अविद्यमानः सङ्गो विकल्पसम्पर्को यस्यां तादृशी निर्विकल्पसमाधिरूपा स्वाभाविकी क्रिया, आत्मस्वभावभूतनिर्विकल्पसमाध्यात्मकक्रियेत्यर्थः, तया सह सङ्गतिर्युक्तता ताम्, असङ्गक्रियात्मकाऽऽत्मपरिणतिमित्यर्थः । अङ्गति—प्राप्नोति, प्रयतमानो जन इति शेषः । वचनाऽनुसारिक्रियाऽनुष्ठानात्क्रमशोऽसङ्गक्रियाप्राप्तिरिति निष्कृष्टोऽर्थः । सा तादृशी, इयम्—सद्यः प्रतिपाद्यमानाऽसङ्गक्रिया, ज्ञानक्रियाऽभेदभूमिः—ज्ञानं च क्रिया च तयोरभेदस्तादात्म्यम्, तस्य भूमिः स्थानम् । इदं ज्ञानमियं क्रियेत्येवमादिविकल्पाऽभावाद्भेदकाऽभावात्तत्र ज्ञानक्रिययोरैक्यं

जायते । सा च, आनन्दपिच्छिला–आनन्देन स्वाभाविकेन शाश्वताऽऽखण्डरूपेणाऽऽनन्देन कृत्वा पिच्छिला विज्जिला, रसार्द्रेत्यर्थः । आनन्दमयीति यावत् । सैव मोक्षदशेति तात्पर्यम् । " पिच्छिलं तु विजिविलं विज्जलं च तदि "ति हैमः । एवञ्च ज्ञानक्रिययोरभेदात्कथञ्चिज्ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष इति ज्ञानान्मोक्ष इति च द्वयमप्युपपद्यते । तथा, क्षायिकभावस्थस्य द्रव्यक्रिया निष्प्रयोजनिका, भावक्रिया तु तत्राऽपि वर्त्तत एव । सा च विकल्पाऽभावाज्ज्ञानतादात्म्यापन्नेत्यन्यदेतदिति क्रिया न कदापि हेया, अपि तु यथाकथञ्चित्सर्वदैवोपादेयैवेति भावः ॥ ८ ॥

इति श्रीज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृकविरत्न-पन्न्यासप्रवर-श्रीयशोभद्रविजयजीगणिवरशिष्यपन्न्यासश्रीशुभङ्करविजयगणिकृतायां भद्रङ्करोदयाख्यव्याख्यायां क्रियाऽष्टकं नाम नवममष्टकम् ॥ ९ ॥

## ॥ तृप्त्यष्टकम् ॥

ननु शमो ज्ञानं क्रिया चाऽऽराधनीयानीत्युपदिश्यते, न च तैः किं प्रयोजनमित्युच्यते । प्रयोजनमनुद्दिश्य च मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते इति शिष्यजिज्ञासां समाधातुकामस्ततो लभ्यमनुत्तरसुखमित्याह—

पीत्वा ज्ञानाऽमृतं भुक्त्वा क्रियासुरलताफलम् ।
साम्यताम्बूलमासाद्य तृप्तिं याति परां मुनिः ॥ १ ॥

पीत्वेति । मुनिः–शमज्ञानक्रियाराधनदत्तचित्तः साधुः । एतेन

नह्यमुनिः शमादिसम्पन्नो भवितुमर्हतीति सूच्यते। क्रियासुरलता-फलम्–क्रियाऽऽवश्यकादिक्रियैव पीडाप्रदरागद्वेषादिक्षुन्निवर्त्तकत्वात्सुरलतायाः कल्पवल्ल्याः फलम्, तत्, भुक्त्वा–आराधनेन भुक्तान्नपानादिवत्स्वतादाम्येन परिणमय्य। अत्र फलभक्षणं नामोदराऽधीनीकरणेन फलस्य परिणामादिना स्वतादात्म्यापादनम्, क्रियायाश्च भक्षणं नामाऽऽराधनेनाऽऽत्मतादात्म्यापादनमिति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदरूपाऽतिशयोक्तिनिर्वाह्यं क्रियासुरलताफलमिति रूपकम्। भुक्तस्य पानाऽऽवश्यकत्वादाह–ज्ञानाऽमृतम्–ज्ञानं ज्ञानाऽष्टकप्रतिपादितस्वरूपं सम्यग्ज्ञानमेव स्वस्वरूपादिज्ञानतृष्णानिवर्त्तकत्वादमृतं पीयूषं जलं च, तत्। "पीयूषममृतं सुधे"ति, "सलिलं कमलं जलम्। पयः कीलालममृतमि"ति चाऽमरः। पीत्वा–अधिगमादिनाऽऽत्मसात्कृत्य। यथा जलं गलविलाऽधःकरणादिनाऽऽत्मसात्क्रियते तथा ज्ञानमप्यधिगमादिनाऽऽत्मसात्क्रियत इति जलपानज्ञानपानयो र्भेदेऽप्यभेदाऽध्यवसायरूपाऽतिशयोक्तिजीवितं ज्ञानामृतमितिरूपकम्। भोजनपानाऽनन्तरं मुखशुद्धिचर्वणमिति भोजनतन्त्रमित्यत आह–साम्यताम्बूलम्–साम्यमुपकारिष्वपकारिषु च समताबुद्धिः, रागद्वेषरहिततेति यावत्। तदेव मुखदोषतुल्याऽऽत्मदोषभूतकषायादिनिवारकत्वात्ताम्बूलं सुधादिसंस्कृतं नागवल्लीदलम्, तत्, आस्वाद्य–चर्वयित्वा। अत्र ताम्बूलस्य चर्वणमन्यत्, साम्यस्य च चर्वणं मुखे ताम्बूलमिवाऽऽत्मनि साम्यभावनमिति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदाध्यवसायरूपाऽतिशयोक्त्यनुप्राणितं साम्यताम्बूलमितिरूपकम्। ननु ततः किमित्याकाङ्क्षानिवृत्तये आह—पराम्–सर्वोत्कृष्टत्वादनु-

त्तमाम्. शाश्वतिकीमखण्डां चेति यावत् । तृप्तिम्–इच्छानिवृत्तिजन्यं सुखविशेषम्, तृप्तिजन्यं शरीरस्येवाऽऽत्मनः पोषं च, याति–प्राप्नोति । भोजनानन्तरं पानं ततस्ताम्बूलचर्वणमिति नागरवृत्तम् । तथा च क्षुत्तृष्णामुखदोषनिवृत्त्या मनसस्तृप्तिः शरीरस्य पुष्टिश्च जायत इति प्रसिद्धम् । कल्पवल्लीफलभक्षणज्ञानाऽमृतपानसाम्य-ताम्बूलचर्वणेन च सा परेत्युचितमेव, कार्यगौरवस्य कारणगौरवाऽधीनत्वादिति भावः । एतेन परा तृप्तिरेव शमज्ञानक्रियाणां प्रयोजनम्, नचैकेन भक्षणादिना तृप्तिरिति समुदितैरेव तैस्तत्साध्यमिति सूच्यते । यद्यपि भोजनानन्तरं पानमिति क्रमस्तथापि तादृशतृप्तिविषये ज्ञान-प्राधान्यख्यापनार्थं व्युत्क्रमेणोक्तिः । शमक्रिययो र्ज्ञानसाध्ये सहकारित्वेनैवाऽपेक्षणाज्ज्ञानं विना तयोरप्यसाध्यत्वाच्चेति बोध्यम् ॥ १ ॥

ननु विषयैरपि तृप्तिरिति त एव किं नोपादेयतयोपदिश्यन्त इति शिष्यशङ्कामनुमाय समाधत्ते—

स्वगुणैरेव तृप्तिश्चेदा कालमविनश्वरी ।
ज्ञानिनो विषयैः किं तै र्यैर्भवेत्तृप्तिरित्वरी ॥ २ ॥

स्वगुणैरेवेति । चेद्–यदि, ज्ञानिनः–सम्यग्ज्ञानवतः, स्व-गुणैः–स्वस्याऽऽत्मनो गुणैः शमज्ञानक्रियादिभिः स्वभावभूतैः परिणामैः, एवकारेण विषयव्यवच्छेदः । आकालम्–आङभिविधौ, कालमभिव्याप्येत्यर्थः । अनन्तं कालं यावदिति यावत् । तत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह–अविनश्वरी–न विनश्यतीत्येवंशीला, अविनाशिनीत्यर्थः । शाश्वताऽखण्डरूपेति यावत् । यद्धि न विनाशि

तदाकालं भवति, अन्यथा तदविनाश्येव न स्यादिति भावः। तादृशतृप्तेर्निरुपाधिकतया शुद्धात्मस्वभावभूततया च नित्यत्वमिति ध्येयम्। तृप्तिः—इच्छानिवृत्तिजन्यं सुखादि, स्यादिति शेषः। तर्हीति चेच्छब्दबलादाक्षिप्यते। यैः—यत्प्रकारैर्विषयैः, इत्वरी—एत्यपगच्छतीत्येवंशीला, विनाशिनीत्यर्थः। विषयजतृप्तेर्हि विषयवियोगेऽभावादितिभावः। तृप्तिः—उक्तप्रकारसुखादि, स्यादिति शेषः। तैः—तादृशैरित्वरतृप्तिजनकैः, विषयैः—शब्दस्पर्शादिरूपैर्विषयशब्दवाच्यत्वेन प्रसिद्धैर्लौकिकोपभोगसाधनैः, किम्?—काक्वा न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः। सर्वोत्कृष्टं यत्स्वेनैव साध्यम्, तत्राऽधमस्य तस्य लाभार्थं परमुखापेक्षणं न ज्ञानिजनाऽनुरूपमपि तु तदबुधजनकर्म। यदुक्तम्—"अङ्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेदि"ति, "सिद्धमन्नं परित्यज्य भिक्षामटति दुर्मतिरि"ति चेति भावः। स्वपुरुषार्थेनैवोत्कृष्टफललाभः, परप्रार्थनया तु कृच्छ्रालब्धमप्यधममेव भवति। यदुक्तम्—"सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखमि"ति गूढाकूतम्। विषया विनश्वरतृप्तिप्रदा इति ज्ञानिनो हेया एव, ज्ञानादयश्च स्वगुणा अविनश्वरतृप्तिप्रदा इति ज्ञानिनस्त एवोपादेयाः, तथैव ज्ञानित्वनिर्वाहात्। विषयजतृप्त्यर्थं विषयाऽऽसेवनं ह्यबुधजनकर्मेति स्वपरयोरुपादेयत्वहेयत्वयोरेष विवेक इति हृदयम्॥ २॥

शिष्यं सम्यग्बोधयितुं तृप्त्योर्विशेषतस्तारतम्यमाह—

**या शान्तैकरसास्वादाद् भवेत्तृप्तिरतीन्द्रिया।**
**सा न जिह्वेन्द्रियद्वारा षड्रसाऽऽस्वादनादपि॥ ३॥**

येति । शान्तैकरसाऽऽस्वादात्—शान्तः शमस्थायिभावकसुखात्मकाऽऽत्मपरिणामविशेषः, यत्र शम एव निरन्तरमलौकिकाऽऽनन्दाऽनुविद्धमनुभूयते तादृश आत्मपरिणाम इत्यर्थः । स एवैकोऽद्वितीयो रसाऽन्तराऽसम्भिन्नतयाऽसहायोऽलौकिकः सर्वरसानां तत्र लयात्सर्वप्रधानश्च, रस्यते खाद्यतेऽनुभूयत इति रसोऽनुभवविशेषोऽनुभवमात्रसाक्षिकः, तस्याऽऽस्वादादा समन्तादात्मस्वभावतया स्वादादनुभवाद्धेतोः, तादृशरसास्वादजन्येत्यर्थः । या—यत्प्रकारा, अतीन्द्रिया—इन्द्रियाऽग्राह्याऽलौकिकी शुद्धात्मस्वभावतयाऽऽत्मज्ञमात्रसंवेद्याऽनुभवमात्रसाक्षिणी, तृप्तिः—उक्तप्रकारसुखादिरूपा, भवेत्—जायते । सा—तादृशी तृप्तिः, जिह्वेन्द्रियद्वारा—जिह्वेन्द्रियरूपेण करणेन कृत्वा, षड्रसास्वादनात्—षण्णां मधुरादिभेदैः षट्सङ्ख्यकानां रसानां वृत्तौ तद्वदुपलक्षणतया रसवतां विषयाणामास्वादनादुपभोगात्, न—नैव । अपिनैकस्य द्वयोर्वा रसयोरास्वादनादनास्वादनाच्च नेति किमु वक्तव्यमिति सूच्यते । इन्द्रियद्वारा हि लौकिक्येव तृप्तिर्नित्वतीन्द्रिया । अन्यथा द्वयोः साम्यमेवाऽऽपद्येत । एवञ्चेन्द्रियद्वारा सम्भवन्त्यपि तृप्तिर्लौकिक्येव, शमज्ञानादिभिस्त्वतीन्द्रिया तृप्तिरितीन्द्रियजशमजतृप्त्योर्महदन्तरं लौकिकाऽलौकिकयोरिवेति भावः । अत्र शमजतृप्तेरन्यादृशतृप्त्यपेक्षयाऽतिशयो दर्शित इति व्यतिरेकाऽलङ्कारः, स चाऽतीन्द्रियेत्युक्त्या सहेतुकः । एतेन शमजतृप्त्यर्थमेव यतनीयमिति सूच्यते ॥ ३ ॥

ननु तृप्तिश्चेद्भवतु सा विषयजन्यापि । आम्रं रसवच्चेत्, तत्कस्य वृक्षस्येत्यचिन्तनीयम् । फलेन हि प्रयोजनमिति शिष्य-

व्यामोहाऽपोहायाऽऽह—

संसारे स्वप्नवन्मिथ्या तृप्तिः स्यादाभिमानिकी ।
तथ्या तु भ्रान्तिशून्यस्य साऽऽत्मवीर्यविपाककृत् ॥४॥

संसार इति । संसारे—संसाररूपेण निमित्तेन कृत्वा जायमाना, निमित्तसप्तम्यत्र बोध्या । उपलक्षणत्वात्सांसारिकविषयसम्पर्कजन्येत्यर्थः । तृप्तिः—सुखादिरूपा तृप्तिः, आभिमानिकी—अनेन मे तृप्तिरिदं मम सुखमित्येवमाद्यभिमानेन तथाविधेनाऽऽरोपात्मकेन सङ्कल्पेन निर्वृत्ता, स्याद्—भवेत् । अत एव, सा तृप्तिः, स्वप्नवत्—स्वप्न इव, मिथ्या—अवास्तवी । यथाहि मोदकभक्षणादिकस्वप्नो न तृप्तये, स स्वप्नो हि मिथ्यैव, वस्तुतो मोदकभक्षणाद्यभावात् । तस्य तथाविधमनःसङ्कल्पप्रभवत्वात् । तथाऽभिमानजन्या तृप्तिरपि तथाविधमनःसङ्कल्पकल्पितेति सा मिथ्यैव, वस्तुत इच्छानिवृत्त्यादेरभावात् । कथमन्यथा पुनस्तथेच्छा स्यादिति भावः । ननु तर्हि का तथ्येत्युच्यतामित्यत आह—तथ्येति । तुर्विशेषे भेदे च । तदाह—भ्रान्तिशून्यस्य—भ्रान्ति र्मिथ्यामतिः, "भ्रान्तिर्मिथ्यामति र्भ्रम" इत्यमरः । तया शून्यस्य रहितस्य जनस्य, विषयास्तृप्तिजनका इत्येवं मिथ्याज्ञानविरहवतो विषया विषमपरिणामा इत्येवंसम्यग्ज्ञानवत इत्यर्थः । आत्मवीर्यविपाककृत्—आत्मनो यद्वीर्यं गुणविशेषाविर्भावाऽनुकूलं सामर्थ्यं तस्य विपाकं परिपाकं पुष्टिं करोतीति सा तादृशी । आत्मनो गुणविशेषलाभाऽनुकूलशक्तिविशेषाऽनुग्राहिकेत्यर्थः । सा—तृप्तिः, तथ्या—वास्तवी, सैव हि तृप्तिर्यया ऽऽत्मवीर्यं पुष्यति, अन्यादृशी तु नेदृशीति सा मिथ्यैव,

बन्धादिप्रयोजकत्वादात्मशक्त्यपचयनिमित्तत्वात् । साऽपि तृप्तिश्चेद-तृप्तिः का नाम स्यात् ? । तस्मात्स्वाभाविकी ज्ञानादिसाध्यैव तृप्ति-र्याऽऽत्मवीर्यं पुष्णाति । आत्मवीर्यपोष एव तृप्तिलक्षणमित्यतो विषयजतृप्तिः सर्वथैवाऽनुपादेया, तस्या वस्तुतस्तृप्तिभावाभावादिति हृदयम् ॥ ४ ॥

ननु तृप्तिराभिमानिकी भवतु स्वाभाविकी वा, साऽऽत्मनश्चेदु-पादेयैव । अन्यथा तृप्तेरनुपादेयत्वेऽतृप्तेरेवोपादेयता पारिशेष्या-त्समापतेदिति शिष्यतर्कं सम्भाव्य तद्विघटयन्नाह—

**पुद्गलैः पुद्गलास्तृप्तिं यान्त्यात्मा पुनरात्मना ।**
**परतृप्तिसमारोपो ज्ञानिनस्तन्न युज्यते ॥ ५ ॥**

पुद्गलैरिति । **पुद्गलाः**—स्वनामख्याता देहेन्द्रियादिरूपा द्रव्य-विशेषाः, अचेतनानि मूर्त्तानि द्रव्याणि पुद्गला इति शास्त्रविदः । यदुक्तम्—" रूपिणः पुद्गला " इति, " शब्दस्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गला " इति च । ते तादृशाः, **पुद्गलैः**—सजातीयै रसादिमद्भि-र्द्रव्यैः, आहारादिनेति बोध्यम् । **पुनः**—तथा, **आत्मा**—जीवः, **आत्मना**—गुणगुणिनोरभेदोपचारादात्मस्वभावभूतेन शमज्ञान-क्रियादिना, **तृप्तिम्**—तृष्णोपरमजं सुखम्, कार्ये कारणोपचारात्तृप्ति-जन्यमवयवोपचयादिरूपं गुणवृद्ध्यादिरूपं च पोषं च, **यान्ति**—प्राप्नुवन्ति । व्यक्तिभेदापेक्षया बहुवचनं बोध्यम् । भवति हि ते च स चेति तानीति । सजातीयैः सजातीयस्य तृप्तिर्न तु विजाती-यैर्विजातीयस्य, विरोधादयोग्यत्वाद् । एवञ्च पुद्गलतृप्तेरात्मीयत्वेन

ग्रहोऽभिमानेनैवेत्यत एव तन्मिथ्येति भावः । ननु भवत्वात्मनि पुद्गलैराभिमानिकी तृप्तिः, यथाकथञ्चित्तृप्तेरप्युपादेयत्वादिति चेद्, अज्ञानां तावदेतदेवं न तु ज्ञानिन इत्याह—तत्—तस्मात्पुद्गलानां पुद्गलैरात्मन आत्मना तृप्तेर्हेतोः, ज्ञानिनः—सम्यग्ज्ञानवतः, उपलक्षणत्वाज्ज्ञानादिना स्वाभाविकतृप्तिलाभभाग्यशालिन इत्यर्थः । परतृप्तिसमारोपः—परेषामात्मभिन्नानां पुद्गलानां या तृप्तिस्तस्या आत्मनि समारोपोऽभिमानेनाऽऽत्मधर्मत्वाऽऽपादनम्, पुद्गलैरात्मनस्तृप्तत्वाऽनुभव इति यावत् । न—नैव, युज्यते—युक्तम् । अन्यथा को नामाऽज्ञज्ञानिनोर्विशेषः स्यात् ? । ज्ञानी ह्यभ्रान्त इति तत्र भ्रमो न युज्यते । अन्यथा ज्ञानमनर्थकमेव । ज्ञानादिजन्यतृप्तिसत्त्वे च तादृशतृप्तेर्निष्प्रयोजनत्वाच्च । एवञ्च पौद्गलिकतृप्तिपरित्याग एव ज्ञानवत्त्वनिर्वाहो नाऽन्यथेति तादृशतृप्तिर्हेयैव ज्ञानिनो न तु जातुचिदुपादेयेति हृदयम् ॥ ५ ॥

ननु किमिति ज्ञानादिमत एव तादृशतृप्तिर्न पुनः साधारणजनानामपीति शिष्यशङ्कां समाधित्सुराह—

मधुराज्यमहाशाकाऽग्राह्ये बाह्ये च गोरसात् ।
परब्रह्मणि तृप्तिर्या जनास्तां जानतेऽपि न ॥ ६ ॥

मधुराज्येति । मधुराज्यमहाशाकाऽग्राह्ये—मधु प्रियत्वान्मधुतुल्यं मधुवदिन्द्रियतृप्तिसाधनत्वादभीष्टं च यद्राज्यं राजयोग्यसुखसाधनं स्रक्चन्दनाऽञ्जनादिकं तस्मिम् विषये महती बलवत्याशा प्राप्तीच्छा येषां ते तादृशास्तैरग्राह्येऽप्राप्येऽगम्ये च, पौद्गलिकसुख-

मेव बहुमन्यमानानामनात्मज्ञानामलभ्य इत्यर्थः । गोरसाद्–गौर्वाणी धाराप्रवृत्तत्वाद्रसो द्रवद्रव्यपदार्थ इव, "अर्जुनीनेत्रदिग्बाणभूवाग्वारिषु गौर्मते "त्यमरः । तत्सकाशाद्, बाह्ये–बहिर्भूते । अवाच्ये इति सारार्थः । अनिर्वचनीय इतियावत् । वागगोचर इति परमार्थः । चः–समुच्चये । तथा–मधुरं मिष्टान्नं मोदकादि, आज्यं घृतं, महाशाकं शाकविशेषः, अतिप्रियतया महदिव यच्छाकं व्यञ्जनमिति वा, तैरग्राह्यमननुमेयम्, तस्मिन् । मधुरादितोऽपि तृप्तिः परब्रह्मतोऽपीति मधुरादिसादृश्येन तस्य ग्रहो न सम्भवति, मधुरादिजन्यब्रह्मजन्यतृप्त्योरतिविसदृशत्वादिति भावः । ननु तर्हि गोरसो लोके तृप्तिजनकत्वेन सर्वमुख्य इति तत्सादृश्यादेव तद्ग्राह्यमिति चेन्न, तदाह–गोरसात्–गो र्गोसम्बन्धी यो रसो दुग्धादिस्ततोऽपि, बाह्ये–बहिर्भूते, विलक्षणे इत्यर्थः । तृप्तिरूपकार्यवैलक्ष्यादिति भावः । किञ्च यतो गोरसाद्ग्राह्यमतो मधुराद्यग्राह्यमित्यपि तात्पर्यम् । "भोजने व्यञ्जनोपेते को रसो गोरसोज्झिते" इत्यादिना गोरससहितस्यैव मधुरादेर्विशिष्टतृप्तिप्रदत्वाऽवगमाद् यद्वोरससादृश्येनाऽग्राह्यं तस्य मधुरादिसादृश्यादिना कथं ग्राह्यत्वं भवत्विति भावः । एवञ्च तृप्तिजनकपुद्गलादिविलक्षणे वागतीते विषयव्यासक्तमनसामगम्ये इति समुदायार्थः । परब्रह्मणि–परे शुद्धसच्चिदानन्दमयत्वात्सर्वोत्तमे ब्रह्मण्यात्मनि, या–यादृशी, तृप्तिः–इच्छानिवृत्तिसुखं गुणोत्कर्षश्च, ताम्–तादृशीं तृप्तिम्, जनाः–अनात्मज्ञा विषयेष्वेव बहुमानिनः साधारणा जनाः, जानतेऽपि न–जानन्त्यपि न, प्राप्तिकथा तु दूरे इत्यपिना सूच्यते ।

ज्ञानिन एवात्मतत्त्वप्रकाशात्तज्जन्यतृप्तिमनुभवन्ति, तस्मात्त एव तां तृप्तिं जानन्ति। अत एव तदर्थं प्रयतन्ते। ततस्तादृशतृप्तिं जिज्ञासुभिरादौ ज्ञानाद्येवाऽऽराधनीयम्। अन्यथा तादृशतृप्तेर्ज्ञानमपि न स्यादिति कुतस्तल्लाभः। तस्मादज्ञानिनां तदज्ञेयमप्राप्यं चेति तात्पर्यम् ॥ ६ ॥

नन्वेवं तर्ह्यज्ञानां पुद्गलतृप्तिप्रवृत्तिर्निरपाया, अन्यथा सर्वथाऽतृप्तिरेव स्यादिति तत्त्यागोपदेशो न समीचीन इति शिष्याऽश्रद्धामुद्धर्त्तुकामः पुद्गलानां दुष्परिणामहेतुत्वं ज्ञानस्य शुभपरिणामजनकत्वं च शिष्यप्रबोधायाऽऽह—

**विषयोर्मिविषोद्गारः स्यादतृप्तस्य पुद्गलैः।**
**ज्ञानतृप्तस्य तु ध्यानसुधोद्गारपरम्परा ॥ ७ ॥**

विषयोर्मीति। पुद्गलैः-स्वकचन्दनाऽङ्गनादिरूपैर्विषयैः पुद्गलात्मकैः कृत्वा, **अतृप्तस्य**-तृप्त्यभिमानतोऽप्येकान्ततृप्त्यभावादजातसन्तोषस्य जनस्य। यदुक्तम्-"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते" इति। **विषयोर्मिविषोद्गारः**-विषयैः कृत्वा य ऊर्मिर्विषयेषु व्यासङ्गान्मनःक्षोभ उच्छृङ्खलाऽऽसक्तिपरम्परा च, स एव विषोद्गारो भवपीडापरम्पराऽनुबन्धित्वात्सम्यग्ज्ञानविरहप्रयोजकत्वाच्च विषतुल्य उद्गारो ढेकारः, **स्यात्**-भवेत्। विषयतृष्णावतां विषयेष्वेवाऽऽसक्तिर्दुष्परिणामा जायते, नत्वात्मोत्कर्षसाधने शुभक्रियादाविति भावः। तुर्विशेषे, तदाह-**ज्ञानतृप्तस्य**-ज्ञानेन सम्यग्ज्ञानेन कृत्वा तृप्तस्य

वितृष्णस्य, ज्ञानेन हि तृष्णोपशम एकान्तेन भवतीति ज्ञानतृप्तो न कदाप्यतृप्तो भवतीति ज्ञानतृप्तस्येत्युक्तमिति ध्येयम् । ध्यान-सुधोद्गारपरम्परा–ध्यानं शुभध्यानमेव सुधोद्गारः सर्वथा निरपायत्वाच्छुभप्रदत्वाच्चाऽमृतपानोत्थोद्गारः, तस्य परम्परा सन्ततिः, स्यादिति सम्बध्यते । विषयैषिणां दुष्परिणामा विषयासक्ति र्ज्ञानिनां शुभपरिणामा ध्यानासक्तिरित्यर्थः । तस्माद्विषयान् विहाय ज्ञानाद्याराधने सयत्नो भवेदिति तात्पर्यम् ॥ ७ ॥

शिष्यस्य श्रद्धाऽतिशयार्थं ज्ञानतृप्तं स्तुवन्नुपसंहरति—

सुखिनो विषयाऽतृप्ता नेन्द्रोपेन्द्रादयोऽप्यहो ।
भिक्षुरेकः सुखी लोके ज्ञानतृप्तो निरञ्जनः ॥ ८ ॥

इति महामहोपाध्यायश्रीयशोविजयोपाध्यायविरचिते ज्ञानसारे तृप्त्यष्टकं नाम दशममष्टकम् ॥ १० ॥

सुखिन इति । लोके–संसारे, इन्द्रोपेन्द्रादयः–इन्द्रः शक्र उपेन्द्रो विष्णुरादिना नरेन्द्रादयस्तेऽपि, लौकिकसर्वोत्तमविषय-सुखसामग्रीसमग्रोऽपीत्यपिना सूच्यते । विषयातृप्ताः–विषयैः पुद्गलैरतृप्ता अवितृष्णाः, तादृशसर्वोत्तमविषयभोगोपभोगेऽपि न विषयेषु वितृष्णाः, कथमन्यथा पुनः पुनस्तत्रैव प्रवर्त्तमाना भवेयुरितिभावः । अतएव, न–नैव, सुखिनः–सुखसम्पन्नाः । अपि तु विषयलाभार्थं सततं प्रवर्त्तमाना अपि तृप्तिमनाप्नुवन्तो दुःखिन एव । यदुक्तम्–" अशान्तस्य कुतः सुखमि "ति । तदेतद्, अहो–आश्चर्यम् । लौकिकसर्वोत्तमसुखसामग्रीसमग्रस्याऽपि न सुखमित्या-

श्चर्यमित्यर्थः। ननु तर्हि कः सुखीत्यपेक्षायामाह–एकः–अद्वितीयः, केवलमित्यर्थः। निरञ्जनः–निष्कलुषः, विषयविरक्तः कर्ममलरहितश्च, भिक्षुः–भिक्षामात्रोपजीवी साधुरेव, ज्ञानतृप्तः–ज्ञानेनकृत्वा तृप्तो वितृष्णः, सच्चिदानन्दात्मकपरब्रह्मणि मग्नः, अत एव, सुखी–भूमप्रशस्तसुखसम्पन्नः। स एव सुखी यो ज्ञानी विषयवितृष्णः, अन्यस्तु सुख्यपि सतृष्णत्वाद् दुःख्येव। तादृशसुखस्य दुःखसम्भिन्नत्वात्सुखाभासत्वादिति भावः। तस्मात्सर्वात्मना ज्ञानतृप्तो भवेदिति हृदयम् ॥ ८ ॥

इति ज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृकविरत्नपन्यासप्रवरश्रीयशोभद्रविजयजीगणिवरशिष्यपन्यासश्रीशुभङ्करविजयगणिविरचितायां भद्रङ्करोदयाख्यायां व्याख्यायां तृप्त्यष्टकं नाम दशममष्टकम् ॥ १० ॥

## अथ निर्लेपाष्टकम् ॥ ११ ॥

अतीतेऽष्टके "भिक्षुरेकः सुखी लोके ज्ञानतृप्तो निरञ्जन" इत्युक्तम्। तत्र निरञ्जनो–निष्कलुषो–निर्लेपः–कर्ममलरहितो–रागादिरहितो–वीतराग इत्यनर्थान्तरम्। आत्मनि कर्मादिलेपस्यैव सत्त्वात्सम्भवाच्च। तत्र लेपे को हेतुः कश्च निर्लेपः, कथं वा निर्लेपता साध्येति शिष्यजिज्ञासां नातिसङ्क्षिप्तेन प्रकारेण समाधातुकामः कस्य लेपो न वा कस्येत्यादावाह—

संसारे निवसन् स्वार्थसज्जः कज्जलवेश्मनि।
लिप्यते निखिलो लोको ज्ञानसिद्धो न लिप्यते ॥ १ ॥

संसार इति । **निखिलः**—सर्व एव, न तु कतिपय एव, **लोकः**—जनः, आढ्यो वा दरिद्रो वा, यः कोऽपि वा भवतु स सर्व एवेति वाग्वैचित्र्यार्थं निखिलेति विशेषणम्, लोक इति सामान्योक्त्याऽपि निखिललोकेत्यर्थाऽवगमात् । **कज्जलवेश्मनि**—कज्जलमञ्जनम्, कालुष्याऽऽपादकत्वसाधर्म्यात्कर्म तन्मूलो रागादिश्चेति सादृश्यात्कज्जलपदस्य कर्मणि रागादौ वा वृत्तिर्बोध्या, एवञ्च श्लेषोऽत्र । "अञ्जनं कज्जलमि"ति हैमः । तस्य तन्मयत्वात्तत्सम्बन्धिनि वेश्मनि गृहे, तत्तुल्ये इत्यर्थः । **संसारे**—भवे, **निवसन्**—स्थितिं कुर्वन् सन्, **स्वार्थसज्जः**—स्वस्याऽऽत्मनो योऽर्थः प्रयोजनम्, तच्च संसारपदप्रत्यासत्तिमहिम्ना सांसारिकमेव बोध्यम् । अन्यथा परमपुरुषार्थोऽपि स्वार्थ एवेत्यनिष्टार्थ एवाऽऽपद्येतेत्यवधेयम्। तस्य साध्यसाधनभावसम्बन्धेन तत्सम्बन्धी सज्जः सन्नद्धः, कृतोद्यम इत्यर्थः । शेषे षष्ठी । चेदित्यर्थबलाल्लभ्यते । वस्त्रादिभिः कृतनेपथ्यश्च सज्ज उच्यते । **लिप्यते**—कज्जलेन कर्मादिभिश्चोपदिह्यते संश्लिष्यत इत्यर्थः । यथा कज्जलवेश्मनि निवसन् लोको वस्त्रादिसज्जः कज्जलेनाऽयत्नमेव लिप्यते, गृहस्य कज्जलमयत्वात् । तथा संसारे निवसन् स्वार्थसज्जो जनः कर्मादिभिः सम्बध्यत एव, संसारस्य कर्ममूलत्वात्कर्ममयत्वाच्चेति तात्पर्यम् । नन्वेवं तर्हि कोऽपि निरञ्जनो न स्यादिति लुप्ता भिक्षोः सुखित्वकथेति चेन्न, तदाह—**ज्ञानसिद्धः**—ज्ञानेन सम्यक्प्रतिपदा सिद्धो विहितसंस्कारः, ज्ञानवानित्यर्थः । स्वार्थरहित इति यावत् । **निपुणश्च** । चेदित्यत्राऽप्यर्थबलाल्लभ्यते । **न लिप्यते**—नोपदिह्यते । यथाहि निपुणोऽ-

प्रमादी कज्जलगृहे निवसन्नपि स्वनैपुण्यात्सावधानत्वाच्च कज्जल-सम्पर्कस्थानपरिहारेण न लिप्यते, तथा संसारे निवसन्नपि ज्ञानेन कृत्वा सांसारिकस्वार्थपरिहारेण चेष्टमानः संवृतात्मा न कर्मादिभि-र्लिप्यत इत्यर्थः। एवञ्चाऽज्ञानेन स्वार्थाऽऽसङ्गाल्लिप्तो ज्ञानेन स्वार्थपरिहारतश्च निर्लेपः। अत एव निरञ्जनस्य निरुपाधिकं सुख-मिति स एव सुखीति ज्ञानसाहाय्येन निर्लेपताऽवश्यं साध्येति भावः। अत्र कर्मलेपः कज्जललेपश्च भिन्न इति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदाऽ-ध्यसायरूपाऽतिशयोक्तेरङ्गमुपमा, सा च कज्जलेति सिद्धेति च श्लेषेणाऽनुप्राणितेति सङ्करः ॥ १ ॥

"ज्ञानसिद्धो न लिप्यत" इति यदुक्तम्, तदेव शिष्यस्य स्पष्टं प्रतिपत्तिर्यथा स्यादिति प्रपञ्चयन्नाह—

नाऽहं पुद्गलभावानां कर्ता कारयिता च न ।
नाऽनुमन्ताऽपि चेत्यात्मज्ञानवान् लिप्यते कथम् ? ॥२॥

नाहमिति। अहम्–अहमित्याकारकज्ञानगोचरो द्रव्यास्तिक-नयेनाऽविवक्षितसकलपर्यायः शुद्धसच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा, पुद्गलभावानाम्–पुद्गला रूपिद्रव्याणि तेषां ये भावा गुणात्मकाः पर्यायात्मकाश्च धर्माः स्पर्शादयो देहादयश्च, तेषाम्। कर्त्ता–पुद्ग-लभावोत्पादने स्वतन्त्रो व्यापारवान्, न–नैव, अस्मीत्याक्षेपाल्लभ्यते। शुद्धसत्स्वरूपस्याऽऽत्मनो निर्विकारत्वान्निर्विकल्पत्वान्निष्क्रियत्वाच्च तस्य कर्तृत्वाद्यसम्भवात्, आरम्भं प्रति विकल्पस्य कारणत्वात्। यदुक्तम्–"अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कर्हिचित्। यद्यद्धि

कुरुते किञ्चित्तत्कामस्य चेष्टितमि "ति " सङ्कल्पमूलः कामो वै कामाः सङ्कल्पसम्भवा " इति चेति भावः । निर्विकल्पत्वादेव च, कारयिता-पुद्गलभावानां कर्तुः प्रयोजकः, चः-समुच्चये, न-नैव । अपिचेति पुनः समुच्चये । अनुमन्ता-अनुमोदकः, त्वं यत्करोषि तत्र मम सन्मतिः, त्वया सुष्ठु कृतमित्यादिरूपेण स्वसम्मतिप्रद इत्यर्थः । न-नैव, आत्मपुद्गलयोरत्यन्तभेद इत्यात्मा स्वस्वभावस्य सम्यग्ज्ञानादेरेव कर्त्रादि र्न तु पुद्गलभावानाम्, तेषां विभावत्वात्तत्राऽऽत्मनोऽव्यापारात् । आत्मनि पुद्गलभावकर्तृत्वादिकं हि निबिडतराऽज्ञानमूलरागादिवशादारोपितं न तु वास्तवम्, यदुक्तम्-" प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते " इति । अत एव, इति-उक्तप्रकारेण, आत्मज्ञानवान्-आत्मा न कर्त्रादिरित्येवं रूपेणाऽऽत्मनो यज्ज्ञानं तद्वान्, आत्मा शुद्धसच्चिदानन्दमयो निर्विकल्पो निर्विकार इत्येवमात्मविषयकसम्यग्ज्ञानसम्पन्नो जीव इत्यर्थः । कथं लिप्यते ?-केनप्रकारेण लिप्तो भवेत् ?, काका न कथमपि कर्मादिभिर्मलैर्लिप्यत इत्यर्थः । लेपहेतु र्ह्यहंममेत्यादिबुद्धिः, तस्यैवाऽभावादात्मज्ञानिनः । यदुक्तम्-" यस्य नाऽहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते । हत्वाऽपि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते " इति । तदेतत्सुष्ठूक्तम्-" ज्ञानसिद्धो न लिप्यते " इति । अज्ञानाद्रागालेपः, ज्ञानाद्रागादिपरित्यागान्निर्लेपतेति निष्कर्षः ॥ २ ॥

नन्वनादिवासनयाऽऽत्मन्यज्ञानात्कर्तृत्वादिभावना दृढबद्धमूलेति तदुच्छेदो ज्ञानिभिरेव साध्योऽल्पज्ञैस्तु सुदुष्कर इत्यतः

सुकरः कश्चनोपाय उपदिश्यतां निर्लेपतासाधनमिति शिष्यप्रार्थना-मुन्नीयोपदिशति—

लिप्यते पुद्गलस्कन्धो न लिप्ये पुद्गलैरहम् ।
चित्रव्योमाऽञ्जनेनेव ध्यायन्निति न लिप्यते ॥ ३ ॥

लिप्यत इति । पुद्गलैः—रूपिद्रव्यैः, मूर्त्तैरित्यर्थः । पुद्गलस्कन्धः—रूपिद्रव्यसङ्घात एव, सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायादेवाऽर्थो लभ्यते । लिप्यते—उपदिह्यते, उपचीयते इत्यर्थः । पुद्गलानां स्निग्धरूक्षगुणतारतम्याद्बन्धो भवति । विस्तरेण बन्धप्रक्रिया विशेषं जिज्ञासुभिस्तत्त्वार्थाऽधिगमसूत्रादौ द्रष्टव्या । एवकारव्यवच्छेद्यमाह—अहम्—अहमितिप्रतीतिगोचर आत्मा, न—नैव, लिप्ये—उपदिह्ये, उपचीये इत्यर्थः । रसाद्यासेवनेन हि देहादिपुद्गलस्कन्धपोषः सर्वानुभूतः, आत्मा तु तदवस्थ एव तिष्ठति, मूर्त्तस्य हि मूर्त्तेन लेपो न त्वमूर्त्तस्याऽऽत्मनो मूर्त्तेनेति भावः । तत्र दृष्टान्तमाह-चित्रव्योम—चित्रं विचित्रम्, अद्भुतमित्यर्थः । अमूर्त्तत्वात्पुद्गलविचक्षणत्वादवगाहमात्रलिङ्गत्वात्तद्विचित्रमिति बोध्यम् । चित्रवर्णमिति व्याख्यानं तु व्याहतम्, लेपं विना चित्रवर्णत्वाऽसम्भवाद्वर्णस्य मूर्त्तधर्मत्वाच्चेतिध्येयम् । तादृशं यद्व्योम गगनं तत्, अञ्जनेन—कज्जलेनेव, न लिप्यत इति पुरुषव्यत्ययेनाऽन्वयः । यथाऽञ्जनेन व्योमाऽमूर्त्तत्वान्न लिप्यते, तथाऽमूर्त्तोऽहमात्मा पुद्गलैर्न लिप्य इत्यर्थः । एतेन—"अहं पुद्गलै र्न लिप्येऽमूर्त्तत्वात्, यद्यदमूर्त्तं तत्पुद्गलै र्न लिप्यते, अञ्जनेन चित्रव्योमवदित्यन्वय्यनु-

मानम्, पुद्गलस्कन्धः पुद्गलै र्लिप्यते मूर्त्तत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा व्योमेति व्यतिरेक्यनुमानं च प्रतिपादितमवगन्तव्यम्। ततश्चाऽल्पबुद्धीनामप्युक्ताऽनुमानबलादञ्जसैवाऽऽत्मा निर्लेप इति मतिदार्ढ्यं जायत इति तात्पर्यम्। तदाह—इति—उक्तप्रकारेण, ध्यायन्—चिन्तयन्, उक्ताऽनुमानेनाऽऽत्मपुद्गलयोर्भेदमूलकमसम्बन्धं मनसि भावयन् जीव इत्यर्थः। न लिप्यते—न कर्मादिभिराश्लिष्यते। स एव खलु लेपो यत्पुद्गलधर्मस्याऽऽत्मन्यध्यासः। उक्तानुमानेन च पुद्गलधर्मस्याऽऽत्मनि बाधनिश्चयान्न लिप्यताबुद्ध्युन्मेषाऽवसर इति भावः॥ ३॥

ननु यदि 'पुद्गलै र्नाऽहं लिप्ये' इति ध्यानादेव निर्लेपता साध्या, तर्हि तस्य क्रियया न प्रयोजनम्, ध्यानादेवेष्टसिद्धेरिति शिष्यजिज्ञासां समाधित्सुराह—

लिप्तताज्ञानसम्पातप्रतिघाताय केवलम्।
निर्लेपज्ञानमग्नस्य क्रिया सर्वोपयुज्यते॥ ४॥

लिप्ततेति। निर्लेपज्ञानमग्नस्य—निर्लेपस्य तद्विषयकत्वात्तत्सम्बन्धि, "अहं निर्लेप" इत्येवं यज्ज्ञानं शुद्धसच्चिदानन्दमयत्वादमूर्त्तस्य पुद्गलादिमलसम्बन्धाऽयोग्यत्वाच्चाऽहमात्मा निर्लेप इत्येवंप्रकारोऽध्यवसायस्तत्र मग्नस्य तदेकनिष्ठस्य साधोः, सर्वा—अखिला, न तु काचिदेव, क्रिया—आवश्यकादिका क्रिया, केवलम्—एकमात्रम्, लिप्ततताज्ञानसम्पातप्रतिघाताय—लिप्तताया अहं

लिप्तोऽहं लिप्ये वेत्येवं यल्लिप्तत्वप्रकारकत्वात्तत्सम्बन्धि ज्ञानं तस्य सम्पात आगमनम्, प्रादुर्भाव इत्यर्थः। तस्य प्रतिघातायाऽवरोधाय, लिप्तताज्ञानाऽनुत्थानायेत्यर्थः। उपयुज्यते—प्रयोजनवती भवति। परिनिष्ठितध्यानदशायां तु "न विकल्पो न च क्रिये"ति "योग-संन्यासतस्त्यागी योगानप्यखिलांस्त्यजेदि"त्यादिना क्रियाया असम्भवोऽनुपयोगश्च प्राक्प्रतिपादित एव। यदा तु निर्लेपताध्यानस्य व्युत्थानदशा, तदानीमचिराऽपगतव्यवहारसंस्कारवशाल्लिप्तताज्ञानोत्थानं सम्भाव्यते। आवश्यकादिक्रियया च तन्निरोधो जायते। क्रियावशान्निर्लेपध्यानस्य दार्ढ्याल्लिप्तताज्ञानाऽनवसरात्। यदुक्तम्—"जातं न पातयेद्भावमि"ति "पतितस्याऽपि तद्भावप्रवृद्धिर्जायते पुनरि"ति "गुणवृद्धयै ततः कुर्यात् क्रियामस्खलनाय चे"ति चेति। एवञ्च निर्लेपध्यानमग्नस्य क्रियया न किमपि नवीनं साध्यम्, क्रियया हि यत्साध्यं तस्य निर्लेपध्यानेन गतार्थत्वात्। तथापि प्रारम्भिकदशायां सांसारिकः संस्कारो मा प्रबुद्धेति तादृशध्यान-दार्ढ्यं च यथा स्यादित्येकमात्रं क्रियायाः प्रयोजनम्। ध्यानपरिपाकदशायां तु तत्त्यागः प्रागुपदिष्ट एवेति भावः ॥ ४ ॥

ननु ध्यानमग्नस्याऽपि चेत्क्रियाऽपेक्षा, तर्हि क्रियैवैकाऽस्तु; अलं ध्यानेनेति शिष्यस्य दुरभिसन्धिं विभित्सुराह—

तपःश्रुतादिना मत्तः क्रियावानपि लिप्यते।
भावनाज्ञानसम्पन्नो निष्क्रियोऽपि न लिप्यते ॥ ५ ॥

तप इति। तपःश्रुतादिना—तपसा चतुर्थषष्ठादिप्रकारेण

श्रुतेनोपलक्षणत्वाच्छ्रुताऽभ्यासेन, आदिना कुलैश्वर्यादिना च, मत्तः–जातमदः, मम तपःश्रुतादि महदन्यतोऽधिकमित्यादि–रूपेण जाताऽभिमानो जनः, क्रियावानपि–आवश्यकादिशुभ-क्रियापरायणोऽपि, लिप्यते–कर्म बध्नातीत्यर्थः । मदस्याऽऽश्रव-त्वात् । एवञ्च केवलया क्रिययेष्टसिद्धिः सन्दिग्धेतिभावः । अपिना-ऽक्रियस्य तु कथैव केति क्रियामात्रस्यैवेष्टसिद्धावपर्याप्तत्वं च सूच्यते । ननूक्तरीत्या ध्यानमप्येकमपर्याप्तमिष्टसिद्धाविति द्वयोः समकक्षत्वमिष्यतां नत्वपकर्षो ध्यानात्क्रियाया इति चेन्न । तदेव भङ्ग्याऽऽह–भावनाज्ञानसम्पन्नः–भावना " ऽहं निर्लेपो नाऽहं लिप्ये " इत्यादिप्रकारेणाऽभ्यासात्मिका मनोवृत्तिस्तदात्मकं यज्ज्ञानं तेन सम्पन्नः समग्रः, निर्लेपज्ञानमग्न इत्यर्थः । भावनाज्ञानं तत्त्व-ज्ञानमित्येवं कस्यचिद्व्याख्यानं तु निर्लेपज्ञानमग्नस्येति प्रस्ताव-पर्यालोचनयाऽर्थान्तरम् । तत्त्वज्ञानं निर्लेपज्ञानमेवेति वा कथञ्चि-त्सङ्गतिः सम्पाद्या । निष्क्रियोऽपि–क्रियारहितोऽपि, अपिना सक्रियो न लिप्यत इति प्रागुक्तं ध्यानमेकमपीष्टसिद्धौ पर्याप्तमिति च सूच्यते । न–नैव, लिप्यते–कर्मादिसम्बद्धो भवतीत्यर्थः । सम्पन्न इत्यनेन च ध्यानस्य परिपक्वदशा सूच्यते । व्युत्थान-दशायां क्रियोपयोगस्य प्रागुक्तस्याऽन्यथाऽनुपपत्तेः । अत एव च तत्र ध्यानस्य व्युत्थानदशैवाऽभिप्रेतेति च लभ्यते । अन्यथा पूर्वा-ऽपरार्थयोर्विरोधापत्तेरित्यवधेयम् । एवञ्च क्रियाऽपेक्षया ध्यानस्यो-त्कर्ष इति न क्रियया ध्यानं गतार्थमपि तु ध्यानेन क्रिया गतार्थेति ध्वनितम् । दशाविशेषे तूभयमप्यावश्यकमिति तत्त्वम् ॥ ५ ॥

नन्वाऽऽत्माऽलिप्तश्चेज्ज्ञानक्रिययो र्नोपयोगः, आत्मनः स्वयमेव शुद्धत्वात्। लिप्तश्चेज्ज्ञानिनोऽपि क्रियाऽवश्यमाश्रयणीया, क्रियां विना चिन्तामात्रेण लेपविलोपाऽसम्भवात्। यदुक्तम्—"सुचिन्तितं चौषधमातुराणां न नाममात्रेण करोत्यरोगमि"ति शिष्यतर्कं नयभेदेन निराचिकीर्षुराह—

**अलिप्तो निश्चयेनाऽऽत्मा लिप्तश्च व्यवहारतः।**
**शुद्धत्यलिप्तया ज्ञानी क्रियावांल्लिप्तया दृशा ॥ ६ ॥**

अलिप्त इति। आत्मा—अहंप्रत्ययविषयश्चेतनः, निश्चयेन—निश्चयनयेन, पारमार्थिकरूपेणेत्यर्थः। सङ्ग्रहनयेनेति यावत्। अलिप्तः—कर्मादिमलसम्पर्कशून्यः, शुद्धसच्चिदानन्दात्मकः परमार्थत आत्मा। शुद्धं हि द्रव्यं गुणपर्यायविवक्षाशून्यं सङ्ग्रहनयविषयः। तादृशञ्चाऽऽत्मद्रव्यं निर्विकारं निरुपाधिकं निर्विकल्पं स्वस्वभावमात्रस्थमलिप्तमेव। कर्मपुद्गलस्य विभावत्वेन तेनाऽऽत्मनो लिप्तत्वाऽसम्भवात्। चः—किन्त्वित्यर्थे। व्यवहारतः—व्यवहारनयाऽपेक्षया, लिप्तः—कर्ममलसम्बद्धः, शरीराद्यधिष्ठितत्वान्नानोपाधिसम्बन्धाज्जन्ममरणादिभावाच्च लौकिकरीत्या कर्मादिसम्बन्ध आत्मनि ज्ञायते, गगने धूमलेखया कालुष्यवत्। एवं स्थिते च, ज्ञानी—आत्मा निर्लेप इत्येवंज्ञानसम्पन्नः, आत्मज्ञानवानित्यर्थः। अलिप्तया—आत्माऽलिप्त इत्येवं प्रकारया, दृशा—भावनया, शुद्ध्यति—कर्ममलरहितो भवति, नवीनं कर्म च न बध्नातीत्यपि बोध्यम्। ज्ञानिनो ह्यात्माऽलिप्त इत्येव दृष्टिरिति तादृशभावनया रागादिरहितत्वाद्धि-

भावेषु विभावत्वबुद्धेस्तत्पराङ्मुखत्वादुपाधिरहितत्वान्निर्विकारत्वादात्मस्वभावस्थ एव तिष्ठतीति शुद्ध्यतीत्युच्यते । तस्य च तादृशस्य क्रियया न प्रयोजनम्, निर्लेपत्वज्ञानेनैव निर्लेपत्वसिद्धेः । तदेतत्सुष्ठूक्तम्–"भावनाज्ञानसम्पन्नो निष्क्रियोऽपि न लिप्यते" इति । **लिप्तया**–आत्मा कर्मसम्बद्ध इत्येवं लेपविषयया, दृशेति सम्बध्यते । **क्रियावान्**–आवश्यकादिरूपनिर्लेपताप्रयोजकाऽनुष्ठानवान्, शुद्ध्यतीति सम्बध्यते । यो हि व्यवहारदृष्टिरात्मा निर्लेप इत्येवं ज्ञानविकल आत्मानं लिप्तं मन्यते, तेन क्रियाऽवश्यविधेया, अन्यथा ज्ञानवत्क्रियाया अप्यभावे लिप्तता वज्रलेपायितैव स्यात् । क्रियाऽभ्यासात्तु क्रमशो गुणवृद्ध्या निश्चयदृष्टिरुद्बुध्यते, क्रियाबलान्न च पततीति शुद्ध्यतीत्यर्थः । ज्ञानिनो ज्ञानेनैव, व्यवहारप्रधानस्य पारमार्थिकवस्तुग्रहणाऽपटोस्तु क्रियया शुद्धिरिति विवेक इति तात्पर्यम् । एवञ्चाऽऽत्मनः स्वतो निर्लेपत्वेऽपि तथाज्ञानवत एव क्रिया नाऽपेक्ष्यते, ज्ञानेनैव निर्लेपत्वस्य साधनात् । तथाज्ञानाऽभावे च क्रियैवोपायो निर्लेपतासिद्ध्यै इति सूच्यते ॥ ६ ॥

ननु ज्ञानिनो यदि क्रियाया नोपयोगस्तर्हि "लिप्तताज्ञानसम्पातप्रतिघाताय केवलमि"त्याद्युक्तं न सङ्गच्छत इति शिष्यशङ्काव्युदासायाऽऽह—

**ज्ञानक्रियासमावेशः सहैवोन्मीलने द्वयोः ।**
**भूमिकाभेदतस्त्वत्र भवेदेकैकमुख्यता ॥ ७ ॥**

ज्ञानक्रियासमावेश इति । द्वयोः–ज्ञानक्रिययोः, तयोः प्रस्ता-

वात्प्रत्यासत्तेश्च द्वयोरिति पदेन ग्रह इति ध्येयम् । सह–युगपत् , एवकारेण क्रमो व्यवच्छिद्यते । उन्मीलने–तादृशपुण्यवशात्सद्गुरूपासनादितश्च प्रादुर्भावे, ज्ञानक्रियासमावेशः–ज्ञानस्य क्रियायाश्च समावेशो युगपदेकत्र स्थितिः, व्याप्तिरिति यावत् । जायत इति शेषः । क्रियां विना ज्ञानप्ररोहस्य ज्ञानं विना क्रियाऽनुष्ठानस्य च न साफल्यम् । यदुक्तम्–" क्रियाविरहितं हन्त ! ज्ञानमात्रमनर्थकमि "त्यादि, " तपःश्रुतादिना मत्तः क्रियावानपि लिप्यत " इत्यादि च । किञ्च ज्ञानस्य क्रिया साधनम् , तथा क्रियाया ज्ञानम् । अत एव कारणवशाद् द्वयोः सहैवोन्मीलनम् , अत एव च द्वयोः समावेशश्च भवति । एवञ्च द्वयोः समकक्षतैव न तु तारतम्यम् । यच्च ज्ञानस्य क्रियाया वा गौरवं तत्र तत्रोपदिष्टं तदवस्थाविशेषात्मकोपाधिमपेक्ष्य, तदाह–भूमिकेत्यादि । तुर्विशेषे । तदाह–अत्र–ज्ञानक्रिययोर्द्वयोः, भूमिकाभेदतः–आश्रयाऽवस्थागुणपर्यायाद्यात्मकपूर्वपीठिकातारतम्यतः, भूमिकाविशेषाऽपेक्षयेत्यर्थः । आश्रयाद्युत्कर्षवशाद्धि ज्ञानादीनामुत्कर्ष इति भावः । एकैकमुख्यता–एकस्यैकस्य तस्य तस्य ज्ञानक्रियाऽन्यतरस्य मुख्यता प्राधान्यम् , भवेत्–जायते । अन्योन्यप्रादुर्भावादिवत्समासः । ज्ञानस्य भूमिकायां तस्य क्रियाया भूमिकायां च तस्याः प्राधान्यम् । स्वतस्तु द्वयोः समकक्षत्वमेव न तु तारतम्यम् । ध्यानदशायां ज्ञानस्य व्यवहारदशायां च क्रियायाः प्राधान्यमिति यावत् । एकस्य प्राधान्येऽन्यस्य गौणतामात्रम् , न च तावता तत्सत्त्वमनपेक्षितम् । यदुक्तम्–" ज्ञानाचारादयोऽपीष्टाः शुद्धस्वस्वपदावधी "ति " स्वा-

नुकूलां क्रियां काले ज्ञानपूर्णोऽप्यपेक्षत " इति चेति हृदयम् ॥ ७ ॥

तदेवं ज्ञानक्रियाभ्यां निर्लेपता साध्येत्युपदिश्य निर्लेपे शिष्यस्य बहुमानं निर्लेपतार्थं प्रवृत्तिश्च यथा स्यादिति शुद्धज्ञानक्रियं नमस्कुर्वन्नुपसंहरति—

**सज्ञानं यदनुष्ठानं न लिप्तं दोषपङ्कतः ।**
**शुद्धबुद्धस्वभावाय तस्मै भगवते नमः ॥ ८ ॥**

इति महामहोपाध्यायश्रीमद्यशोविजयोपाध्यायविरचिते ज्ञानसारे निर्लेपाऽष्टकं नामैकादशमष्टकम् ॥ ११ ॥

सज्ञानमिति । **यदनुष्ठानम्**–यस्य यादृशस्य पुण्यात्मनो लोकोत्तमस्याऽनुष्ठानमावश्यकादिक्रिया चारित्रं वा, **सज्ञानम्**–ज्ञानेन समाविष्टम् , ज्ञानसंस्कृतमित्यर्थः, अत एव, **दोषपङ्कतः**–दूषणात्सम्यक्त्वपातप्रयोजकत्वाच्छ्रेयःपरिपन्थित्वाद्दोषा रागादीनि सम्यग्ज्ञानाद्यावरणात्पङ्काः कर्दमा इव, तैरिति सार्वविभक्तिकस्तस् । " पङ्कोऽस्त्री शादकर्दमावि "त्यमरः । **न**–नैव, **लिप्तम्**–सम्बद्धम् , व्यतिकीर्णमित्यर्थः । निर्दुष्टमिति यावत् । यो ज्ञानी क्रियापरः शान्तो भावितात्मा जितेन्द्रिय इति सारार्थः । स तादृशः शुद्धबुद्धस्वभाव एव भवतीति, **तस्मै**–शुद्धज्ञानाऽनुष्ठानवते, अत एव, **शुद्धबुद्धस्वभावाय**–शुद्धो लेपरहितत्वान्निर्मलो बुद्धो जाग्रज्ज्ञानात्मा च स्वभावः पारमार्थिकं तत्त्वं यस्य, तस्मै, तादृशाय । शुद्धसच्चिदानन्दमयायेति यावत् । तादृशश्च सर्वैश्वर्यादिसमन्वित एव भवतीति, **भगवते**–ऐश्वर्यादिसमग्राय, **नमः**–नमस्कारोऽस्तु ।

निर्लेपो हि भगवान् भवति सर्वैर्नमस्करणीयश्चेति निर्लेपतार्थं प्रमाद-परित्यागेन सततमुद्यमवता भाव्यमिति हृदयम् ॥ ८ ॥

इति श्रीज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृकविरत्न-पन्न्यासप्रवर-श्रीयशोभद्रविजयजीगणिवरशिष्यपन्न्यासश्रीशुभङ्करविजयगणिवि-रचितायां भद्रङ्करोदयाख्यायां व्याख्यायां निर्लेपाऽष्टकं नामैका-दशमष्टकम् ॥ ११ ॥

## ॥ अथ निःस्पृहाऽष्टकम् ॥ १२ ॥

ननु विषयेषु स्पृहावतो दोषपङ्कलेपो दुर्निवारः । यदुक्तम्– "विषयान् ध्यायतः पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते । सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायत" इति । तस्मात्तादृशलेपपरिहारेच्छु-भिर्विषयेषु स्पृहाऽवश्यं हेया । स्पृहात्यागश्च न वाङ्मात्रत इत्यत-स्तदुपायं शिष्यं बुबोधयिषुः कथं निःस्पृहो भवतीत्युच्यते—

स्वभावलाभात्किमपि प्राप्तव्यं नाऽवशिष्यते ।
इत्यात्मैश्वर्यसम्पन्नो निःस्पृहो जायते मुनिः ॥ १ ॥

स्वभावलाभादिति । स्वभावलाभात्–स्वस्याऽऽत्मनो भावो धर्मः शुद्धसच्चिदानन्दमयत्वं तस्य यो लाभः सम्यग्दर्शनादिलाभ-क्रमेण घातिकर्मक्षये सति प्राप्तिः, साक्षात्कार इत्यर्थः । आत्मनः स्वस्वरूपेऽवस्थानमिति यावात् । दिग्योगे पञ्चमी । तदधिकमि-त्यर्थः । किमपि–किञ्चिदप्यन्यद्वस्तु, प्राप्तव्यम्–प्राप्तिविषयः प्राप्तियोग्यश्च, न–नैव, अवशिष्यते–शेषो भवति । स्वभावलाभ एव परमो लाभः, नाऽतोऽधिकः कोऽपि लाभः । अन्यस्य सर्वस्यैव

लाभस्य वैषयिकस्य हेयत्वाच्छुभस्याऽपि सम्यग्दर्शनादिलाभस्य स्वभावलाभसाधनत्वान्न्यूनत्वात्। न च मुक्तिलाभ उत्कृष्टोऽवशिष्यते, मुक्तेः स्वस्वभावाऽनतिरिक्तत्वादिति हृदयम्। अथ च 'सर्वं पदं हस्तिपदे निमग्नमि'ति स्वभावलाभे सर्वो लाभो गतार्थः। तस्य चरमलाभत्वादिति सुष्ठूक्तम्–"प्राप्तव्यं नाऽवशिष्यत" इति। इति–एवंप्रकारया भावनया कृत्वा, आत्मैश्वर्यसम्पन्नः–आत्मनो यदैश्वर्यं प्रभुत्वं सम्यग्दर्शनादिकं तेन सम्पन्नः सम्भृतः, अथवा–इति-स्वभावलाभ एव सर्वः परमश्च लाभ इत्येवंप्रकारमात्मन ऐश्वर्यमौदार्यं महत्त्वं परमोत्कर्षश्च परमसर्वलाभात्मकलभ्यस्वभावस्वामित्वं च, तेन सम्पन्नः, तादृशज्ञानवानिति यावत्। मुनिः–आत्ममननैकतानः साधुः, निःस्पृहः–स्पृहा तृषा, ततो रहितो निःस्पृहः, निरीहो निष्काम उपशान्ततृषो वा। विषयपराङ्मुख इति हृदयम्। "इच्छा काङ्क्षा स्पृहेहा तृडि"त्यमरः। जायते–भवति। स्वभावलाभ एव परमो लाभः सर्वलाभश्चेति सम्यग्ज्ञानसम्पन्नस्य मुने र्विषयेषु स्पृहाऽपकृष्टत्वाद्धेयबुद्ध्या निवर्त्तते। यस्य ह्यात्मस्वभावे न तादृश्यास्था स एवाऽज्ञो विषयेषु स्पृहावान् भवतीति स्वभावलाभ एव परमो लाभ इति भावना निःस्पृहतासाधनमिति हृदयम्। अत्र च प्रकारान्तरेणाऽप्यन्वयः सम्भवति। तथाहि–स्वभावलाभात् किमपि प्राप्तव्यं नाऽवशिष्यत इति बुद्ध्या निःस्पृहो मुनिरात्मैश्वर्येण शुद्धसच्चिदानन्दात्मकेन सम्पन्नो जायते। यावन्न निःस्पृहता तावन्नाऽऽत्मैश्वर्यलाभ इति तात्पर्यम्। यद्यपि "शमस्तृष्णोपरम" इति काव्याऽनुशासने हेमचन्द्राचार्य इति-

शमाष्टकस्य निःस्पृहाष्टकस्य च पृथक्प्रतिपादनं पिष्टपेषणमिव। तथापि ज्ञानसारकर्त्रा निःस्पृहतापरिणामः शम इष्यत इति द्वयोः पृथक्प्रतिपादनम्। यदुक्तम्-" विकल्पविषयोत्तीर्णः स्वभावाऽऽलम्बनः सदा। ज्ञानस्य परिपाको यः स शमः परिकीर्तितः" इति। हेमचन्द्राचार्योक्तिश्च कारणे कार्योपचारात्समाधेया ॥ १ ॥

निःस्पृहत्वे शिष्यस्य रुचि र्यथा स्यादिति सस्पृहनिःस्पृहयोर्गुणतारतम्यमाह—

संयोजितकरैः के के प्रार्थ्यन्ते न स्पृहावहैः।
अमात्रज्ञानपात्रस्य निःस्पृहस्य तृणं जगत् ॥२॥

संयोजितकरैरिति। स्पृहावहैः-स्पृहाया आवहा वोढारः, स्पृहावन्त इत्यर्थः। आवहन्तीति वहेरच्। तृष्णातुरा इति यावत्। तैः कर्तृभिः, संयोजितकरैः-संयोजितौ स्वस्मिन् विषये करुणोत्पादनार्थं नमस्काराय सम्पुटितौ कृतौ करौ हस्तौ यैस्तै र्बद्धाञ्जलिभिः सद्भिः। के के-वीप्सायां द्विरुक्तिः। प्रार्थनीया उत्तमा अप्रार्थनीया हीनाश्च सर्वे एवेत्यर्थः। न प्रार्थ्यन्ते--काक्वा प्रार्थ्यन्त एवेत्यर्थः। स्वस्पृहितप्राप्तये इति बोध्यम्। धिक्स्पृहामधमेष्वपि स्पृहावतो दैन्यप्रयोजिकाम्। स्पृहावान् हि सर्वत्र सर्वदा च दीनतामेव प्रकटयतीति तात्पर्यम्। तदेवं स्पृहावतो लघुत्वमुपवर्ण्य निःस्पृहस्य महत्त्वमाह-निःस्पृहस्य-निरीहस्य, विषयविमुखस्येत्यर्थः। अमात्रज्ञानपात्रस्य-न मात्रा परिमाणं यस्य तादृशस्य सम्यग्ज्ञानस्य यत्पात्रमाश्रयस्तस्य तादृशस्याऽपरिमेयज्ञानशालिनः

सत इत्यर्थः। कृते इति शेषः। नहि ज्ञानाधिक्यं विना निःस्पृहत्वं साध्यमिति विशेषणेनाऽनेन ध्वन्यते। जगत्–तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति जगत्स्थपौद्गलिकपदार्थसार्थः, तृणम्–तृणतुल्यम्, तृणमिव निःसारमकिञ्चित्करं चेत्यर्थः। निःस्पृहस्य ज्ञानिनो न विषयेण प्रयोजनमिति तस्य जगत्तृणमिवाऽनुपादेयमिति न तस्य काऽपि दैन्यप्रदर्शनाऽवसर इति स एव सर्वमहानिति सारार्थः। अत्राऽमात्रेति विशेषणेन सामान्यज्ञानवतो निःस्पृहत्वं क्षणिकं श्मशानवैराग्यकल्पमेव सम्भाव्यते, चिरस्थायि निःश्रेयससाधनं तु तज्ज्ञानाऽधिक्यादेव सम्भवतीति निःस्पृह एव प्रशस्तज्ञानवान्, अन्यादृशस्तु ज्ञान्यपि निर्गन्धकुसुमवदेवाऽप्रशस्य इति च सूच्यते। दैन्यं काऽपि मा जनीति निःस्पृहत्वं साधयेदिति हृदयम् ॥ २ ॥

शिष्यप्रबोधाय दुष्परिणामतया स्पृहाया हेयत्वमाह—

छिन्दन्ति ज्ञानदात्रेण स्पृहाविषलतां बुधाः।
मुखशोषं च मूर्च्छां च दैन्यं यच्छति यत्फलम् ॥ ३ ॥

छिन्दन्तीति। यत्–यादृशी स्पृहाविषलता कर्त्री, मुखशोषम्–मुखस्योपलक्षणत्वात्कण्ठताल्वादेर्निरन्तरं सोच्छ्वासं करुणं याचनाशब्दाद्युच्चारणेन क्षुत्तृष्णाऽऽकुलेनाऽपि स्पृहणीयप्राप्तये कष्टोग्रप्रयासश्रमादिना च यः शोषः शुष्कता, नीरसतेत्यर्थः। विषलतापक्षे विषसम्पर्कात्तदौग्र्यादिजनितदाहात्कण्ठताल्वादिशोषः, तम्, मूर्च्छाम्–मूर्च्छा मोहः, नष्टसंज्ञता नष्टचेष्टता चेत्यर्थः। विवेक-

शून्यताऽत्यासक्तिश्चेति यावत् । स्पृहया हि जना हेयोपादेय-विवेकसंज्ञाविकलाः स्पृहितप्राप्तये प्रवर्त्तन्त इति विषप्रभावाच्च संज्ञा नश्यतीति च प्रसिद्धमेव । दैन्यम्–कार्पण्यम्, निःश्रीकत्व-मित्यर्थः । स्पृहाया दुष्पूरत्वात्पूरणेऽपि नवनवोत्पादाच्च सत्त्वं विली-यते, निःश्रीकता कार्पण्यं चाऽऽविर्भवतीति नाऽविदितं केषामपि । विषप्रभावाच्च कान्तिनाशाद्वैवर्ण्यं निःश्रीकता च जायत इति प्रसिद्धम् । चद्वयं समुच्चये । तदेवं मुखशोषमूर्च्छादैन्यरूपमित्यर्थः । फलम्–परिणामं फलं च, यच्छति–प्रददाति, प्रयोजयतीत्यर्थः । ननु यदिति किमित्याह–स्पृहेति । यच्छब्दबलात्तामिति लभ्यते । मुखशोषमूर्च्छादैन्याऽऽत्मकफलहेतुभूतामिति तदर्थः । स्पृहाविष-लताम्–स्पृहा कामः सा फलैक्याद्विषलता विषतुल्यपरिणाम-हेतु र्विषकारको वा लताविशेषो वत्सनागादिस्ताम्, यद्वा–यस्याः स्पृहाविषलतायाः फलं फलरूपम्, याच्ञाश्रमादिरूपं फलम्, पक्षे फलतया प्रसिद्धं फलं कर्त्तृ मुखशोषं मूर्च्छां च दैन्यं च फलं यच्छति, तां तादृशीम्, स्पृहापरिणामसाधर्म्याद्विषलता विषाक्तफल-प्रदलताविशेषः सेव, तामित्यर्थः । बुधाः–स्पृहाविषलतादुष्परिणाम-विशेषज्ञाः, " स्वभावलाभात् किमपि प्राप्तव्यं नाऽवशिष्यत " इत्यात्मैश्वर्यसम्पन्ना आत्मोत्कर्षमार्गज्ञा मुखशोषादिषु जाताऽप्रीतयः, ज्ञानदात्रेण–उक्तप्रकारहेयोपादेयविवेकात्मकज्ञानं स्पृहाविषलता-च्छेदक्षमत्वाद्दात्रं छेदनसाधनशस्त्रविशेष इव, तेन, छिन्दन्ति–लुनन्ति, नाशयन्तीत्यर्थः । त्यजन्तीति यावत् । स्पृहायास्त्याग एव च्छेदो नाशो वेति ध्येयम् । दात्रेण हि लताच्छेदनं प्रसिद्धमेव ।

तदेव बुधत्वं यद्बुद्धिबलात्स्पृहात्यागः, स्पृहैव चाऽबुधत्वम्, दात्रेण विषलताया इव ज्ञानेन स्पृहायाश्छेदः सुकर इति च ध्वन्यते। उपमाऽलङ्कारः। स च स्पृहाविषलतयोर्भेदेऽप्यभेदाऽध्यवसायमूलाऽतिशयोक्त्या श्लेषेण चाऽनुप्राणित इति सङ्करः ॥ ३ ॥

न केवलं स्पृहया मुखशोषादिना विगोपनाऽपि त्वात्मोत्कर्षाऽवरोधश्चेति तस्या अवश्यहेयत्वं शिष्यमुपदिशन्नाह—

निष्कासनीया विदुषा स्पृहा चित्तगृहाद् बहिः।
अनात्मरतिचाण्डालीसङ्गमङ्गीकरोति या ॥ ४ ॥

निष्कासनीयेति। विदुषा—हेयोपादेयविशेषज्ञेन जनेन, स्पृहा—कामः, चित्तगृहात्—चित्तमेव जनानामाश्रयभूतं गृहमिव स्पृहाया आश्रयभूतत्वाद्गृहम्, ततस्तदवधीत्यर्थः। बहिः—यथा न चित्ते भवेत्तथा, स्पृहायाश्चित्तेऽसत्त्वमेव तस्याश्चित्ततो बहिष्करणमिति बोध्यम्। निष्कासनीया—दूरीकरणीया, बहिष्करणीयेति मिलितार्थः। चित्ते स्पृहा न कर्त्तव्या, स्पृहात्मकचित्तवृत्तिस्त्याज्येति यावत्। यद्यपि निष्कासनीयेत्येतावताऽपीष्टार्थप्रतीतिरिति बहिः—पदमधिकम्। तथाप्य "यं शठो बहिर्निष्कास्यतामि"त्यादिलोकप्रयोगरूढ्या तथा प्रयोगः। न च लोकः पर्यनुयोगमर्हतीति बोध्यम्। निष्कासनसमर्थनाय स्पृहां हेतुद्वारेण विशेषयति—या—यादृशी स्पृहा, अनात्मरतिचाण्डालीसङ्गम्—न आत्माऽनात्माऽऽत्मभिन्नं धनधान्याद्यात्मकपौद्गलिकवस्तुजातम्, तस्य तद्विषयत्वात्तत्सम्बन्धिनी या रतिः प्रीती रुचिर्व्यासङ्गो रागो वा, सैव

दुरितावहत्वादशुभत्वाद्गर्ह्यत्वादसम्पर्चनीयत्वादस्पृश्यत्वाच्च चाण्डाली श्वपाकी, तस्याः सङ्गं सम्पर्कम्, अङ्गीकरोति-स्वीकरोति, अनात्मरतिं जनयतीति यावत्। यथा चाण्डाल्याः पापास्पदत्वाद्गर्ह्यत्वादस्पृश्यत्वाच्च संसर्गः पातित्यं प्रयोजयति, यदुक्तम्-"संसर्गश्चाऽपि तैः सहे"ति। ततस्तत्संसर्गी जनः पतितत्वादशुचित्वादस्पृश्यत्वात्कथञ्चिद् गृहागतोऽपि तज्ज्ञेन झटिति गृहान्निष्कास्यते, यथा तत्संसर्गात्स्वस्याऽपि पातित्यं मा भूदिति। तथा स्पृहादोषज्ञेन जनेन स दोषो मा जनीति स्पृहा चित्ते न कर्त्तव्येति सारार्थः। स्पृहाऽनात्मप्रीतिप्रयोजकत्वादात्मबोधविरोधित्वाच्चथातथा त्याज्यैवाऽऽत्महितेच्छुनेति हृदयम्। परम्परितरूपकालङ्कारः॥ ४॥

अज्ञानात्प्रमादाद्वा स्पृहाया अपरित्यागे आपात्यामापत्तिं शिष्यं प्रदर्शयन्नाह—

**स्पृहावन्तो विलोक्यन्ते लघवस्तृणतूलवत्।**
**महाश्चर्यं तथाप्येते मज्जन्ति भववारिधौ॥ ५॥**

स्पृहावन्त इति। स्पृहावन्तः-साऽतिशयं परस्वगृध्नुः, मूम्नि मतुः। तृणतूलवत्-तृणानि घासास्तूलानि पिचवः, तानीव, "शष्पं बालतृणं घासो यवसं तृणमर्जुनमि"त्यमरः। "तूलकं पिचुरि"ति हैमः। लघवः-अगुरवः, हीनसत्त्वा इत्यर्थः। आत्मगौरवशून्या दीनहीनाचरणा वेति हृदयम्। पक्षेऽल्पपरिमाणा इत्यर्थः। विलोक्यन्ते-दृश्यन्ते, लोके इति शेषः। शब्दसाम्यादुपमा। तृणादीन्यपि हि लघुपरिमाणालघूनीति बोध्यम्। स्पृहाया

एषा लौकिक्यापत्तिः । स्पृहावशात्प्रार्थयमाना हि न सत्क्रियन्तेऽपि तु दुर्वचनादिना निर्भर्त्स्यन्ते हीनसत्त्वाश्चोत्तमेषु प्रवेशं नाऽर्हन्तीत्यादिना लघुत्वमाप्ताः प्रसिद्धा एव । पारलौकिकीमापत्तिमाह–महाश्चर्यमिति । तथाऽपि–तृणतूलवल्लघुत्वसद्भावेऽपि, एते–स्पृहावन्तः, भववारिधौ–भव एव कर्मजलराशिपूर्णत्वादनादित्वाद्विपुलत्वाद्दुस्तरत्वाच्च वारिधिः समुद्रः, तत्र मज्जन्ति–ब्रुडन्ति, भवपरम्परारूपं सशिखमज्जनं परियान्तीति यावत् । तदेतल्लघूनां समुद्रमज्जनम्, महाश्चर्यम्–महदितरेभ्यः साऽतिशयमाश्चर्यं विस्मयः । लघूनां लाघवाद्धेतोस्तरणं प्रसिद्धम्, एतच्च विपरीतमित्यपूर्वत्वाद्विस्मयकरम् । तदेव ह्याश्चर्यं यदपूर्वमिति भावः । स्पृहया लोके लाघवं महारम्भपरिग्रहाच्च भवोपग्राहिकर्मबन्धाद्भवपरम्परा चेति सैहिकाऽऽमुष्मिकदुष्परिणामहेतुरित्यवश्यं त्याज्येति भावः । अत्र लघूनां मज्जनं विरुद्धमिति विरोधाऽऽभासोऽलङ्कार उपमारूपकसङ्कीर्णः ॥ ५ ॥

निःस्पृहत्वं चिरस्थायि यथा स्यादिति तद्विघ्नपरिहारं शिष्यमुपदिशन्नाह—

**गौरवं पौरवन्द्यत्वात्प्रकृष्टत्वं प्रतिष्ठया ।**
**ख्यातिं जातिगुणात्स्वस्य प्रादुष्कुर्यान्न निःस्पृहः ॥६॥**

गौरवमिति । निःस्पृहः–स्पृहाविरहितो जनः, स्वस्य–स्वसम्बन्धि, स्वकीयमित्यर्थः । पौरवन्द्यत्वात्–पुरस्येमे पौराःपुरवासिनस्तैः कर्तृभिर्वन्द्यत्वादभिवादनीयत्वात्, पौरवन्द्यत्वहेतुकमिति

निष्कृष्टोऽर्थः । **गौरवम्**—महत्त्वम्, अहं पौरैः सर्वैरेव वन्द्यः, नाऽन्यो मादृशो महानित्येवमात्मोत्कर्षमित्यर्थः । तथा, **प्रतिष्ठया**—स्वस्य लोककर्तृकसमादरेण, लोकेऽयं निःस्पृहत्वादुत्तम इत्येवंप्रभावेण वा, **प्रकृष्टत्वम्**—मम सुगुणविशेषवैशिष्ट्येन हेतुना लोकेषु प्रकर्ष इत्येवं लोकवैलक्षण्यम्, **किञ्च, जातिगुणात्**—जातिश्च गुणश्च, तयोः समाहारस्तस्मात्, उच्चगोत्रहेतोः पौरवन्द्यत्वादेर्निःस्पृहत्वादेश्च गुणाद्धेतोः, **ख्यातिम्**—प्रसिद्धिम्, अहमुच्चकुलप्रसूतः, मम गुणान् सर्वे जानन्ति, तदहं लोके प्रसिद्ध इत्येवं प्रसिद्धिमित्यर्थः । **न**—नैव, **प्रादुष्कुर्यात्**—प्रकटयेत् । लौकिकस्वार्थसिद्ध्यै एव हि स्ववैशिष्ट्यं प्रकटयन्ति जनाः, निःस्पृहस्य तु न कोऽपि स्वार्थ इति तस्य स्ववैशिष्ट्यख्यापनं निरर्थकम्, स्ववैशिष्ट्यप्रकटनेन स्पृहायाः पुनरुत्थानसम्भावनायाः सापायं चेति भावः ॥६॥

शिष्यस्य निःस्पृहत्वे रुचिर्यथा स्यादिति फलोत्कर्षेण धर्मिमुखेन निःस्पृहत्वं स्तौति—

**भूः शय्या भैक्षमशनं जीर्णं वासो गृहं वनम् ।**
**तथाऽपि निःस्पृहस्याऽहो ! चक्रिणोऽप्यधिकं सुखम् ॥ ७ ॥**

भूःशय्येति । **भूः**—भूः पृथ्वी सैव, **शय्या**—शयनसाधनसंस्तरणं शयनं वा, सा । लोके हि नितरां दुर्गतस्य द्रव्याऽभावात्पर्यङ्कादिशयना ऽसम्भवात्परिशेषात्कठिनस्पर्शादिनाऽनभिमता ऽपि भूरेव शय्या शरणमिति सा शयितुर्दुःखाधिक्यं प्रकटयति, लौकिकसुखस्पृहावतः पर्यङ्कादिष्वेव तादृशसुखाऽनुभवात् । निःस्पृहस्य तु

तादृशसुखस्पृहाऽभावादात्मसुखनिमग्नत्वात्तत्र च बाह्यनिमित्ताऽनपेक्षणान्न काऽपि दुःखाऽनुभवः, सुखानुभव एवेति न दुःखाऽनुभवगन्धोऽपीति सारः। न केवलं शय्यादुःखमपि तु भोजनदुःखमपीत्याह–भैक्षम्–भिक्षाणां समूहो भिक्षाभिः प्राप्तमन्नादिकमित्यर्थः। अशनम्–भोजनम्, क्षुदुपशमसाधनमित्यर्थः। भैक्षं ह्यन्नमनभिमतप्रकारमपथ्यमस्वादु लघुत्वप्रयोजकत्वात्कुत्सितं च दरिद्राणामेकमात्रं शरणमिति तदपि दुःखसाक्षि स्पृहावताम्। निःस्पृहस्य तु स्पृहाऽभावान्न भैक्षमनिष्टम्। सर्वावस्थास्वात्मसुखमग्नताया भावादिति तत्त्वम्। वस्त्रदुःखमाह–जीर्णम्–चिरादुपभुक्तदग्धोत्कीर्णशीर्णमित्यर्थः। वासः–लज्जागोपनसाधनं परिधानवस्त्रम्। एतदपि दौर्गत्यातिशयलिङ्गं लौकिकं स्पृहावतः। निःस्पृहस्य तूक्तहेतोरेव न तथेति बोध्यम्। वनम्–उपवनं काननं च, गृहम्–गृहमिवाऽऽश्रयत्वाद्गृहम्। न हि सुखिनो वने वसन्ति, न वा वनवासिनो लौकिकं सुखमिति तदपि दुःखाधिक्यगमकमेव। निःस्पृहस्य तथा नेति स्पष्टम्। एतानि हि लोकप्रसिद्धानि दुःखसाधनानि, लोके हि शय्याहीनो भैक्षोपजीवी जीर्णवस्त्रो गृहविहीनश्च स्वं परं दुःखार्त्तं मन्यते। सर्वं चैतदेवमेव निष्परिग्रहत्वात्साधोः, तथापि–तादृशम्–शय्यादिलोकप्रसिद्धदुःखसाधनसद्भावेऽपि, निःस्पृहस्य–स्पृहारहितस्य साधोः, चक्रिणः–उपलक्षणत्वाच्चक्रिदेवेन्द्रादेः, अपिना तस्य तस्य लौकिकसर्वोत्कृष्टसुखसामग्रीसमग्रत्वं सूच्यते। लोके महार्घपर्यङ्कादिशय्या षड्रसभोजनं स्वाधीनं नवक्षौमादिवस्त्रं हर्म्य-

प्रासादादिकं गृहम्, उपलक्षणत्वात्स्रक्चन्दनाङ्गनादिकं भोगोपभोगसाधनमुत्तमसुखनिमित्तमिति प्रसिद्धम्। एवञ्चाऽत्र चक्रिपदं लक्षणया चक्रिसम्बन्धितादृशसामग्रीजन्यसुखपरम्। नहि चक्रिणोऽधिकं सुखम्, सजातीयेष्वेव तारतम्यव्यपदेशात्। अपि तु चक्रिसुखादिति मुख्यार्थबाधात्। चक्रिणोऽपि सुखमपेक्ष्येत्यर्थः। यब्लोपे पञ्चमी। अधिकम्—उत्कृष्टत्वाच्चिरस्थायित्वाच्चाऽतिमात्रम्, सुखम्—शर्म, भवतीति शेषः। तदेतत्, अहो !—आश्चर्यम्। दुःखसामग्रीसद्भावेऽपि तदननुभवः सुखसामग्र्यभावेऽपि चाऽलौकिकाऽनुत्तमसुखाऽनुभव इति निःस्पृहताया अतिविस्मयकरः प्रभावः इत्यर्थः। निःस्पृहस्य हि सन्तोषजन्यमात्ममात्रसापेक्षं निरुपाधिकं च सुखमिति तत्र शय्याविशेषादिकं साधनत्वेनाऽनपेक्षितम्। न च तादृशं चक्रिणः सुखम्, तेषां स्पृहाया एकस्याः पूरणेऽपि परस्या उद्गमात्कथञ्चित्साधनवैकल्ये दुःखमात्रस्यैवाऽवशेषात्साधनसद्भावेऽपि तदर्थं प्रयासस्य तदपहारभयस्य च सत्त्वाद्दुःखसम्भिन्नत्वात्कृत्रिमत्वादनात्मस्वभावत्वाच्च तत्सुखं निस्पृहसुखाऽपेक्षया न्यूनमेवेति सुष्ठूक्तम्—"चक्रिणोऽप्यधिकं सुखमि" ति। यदुक्तम्—"सन्तोषाऽमृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्। कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्"ति भावः। अत्र दुःखसामग्रीसत्त्वे सुखाधिक्यं विरुद्धमितिविरोधाऽऽभासोऽलङ्कारः। विरोधपरिहारस्तूक्तदिशा सुखस्य विलक्षणसुखपरतया बोध्यः ॥ ७ ॥

ननु भवतु निःस्पृहस्याऽधिकं सुखम्, न च तावता चक्रिणो

दुःखमित्यायातीति शिष्यव्यामोहविभित्सया स्पृहाया दुःखात्मत्वं प्रतिपादयन्नुपसंहरति—

परस्पृहा महादुःखं निःस्पृहत्वं महासुखम् ।
एतदुक्तं समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ ८ ॥

इति न्यायविशारदमहामहोपाध्यायश्रीमद्यशोविजयोपाध्याय-विरचिते ज्ञानसारे निःस्पृहाऽष्टकम् ॥ १२ ॥

परस्पृहेति । परस्पृहा—आत्मनःपरोभिन्नः पुद्गलादिस्तस्य स्वभिन्नस्वामिकवस्तुनश्च स्पृहा गृद्धिः, महादुःखम्—दुःखजालमूल-लोकलाघवभवपरम्परादिसाधनत्वान्महत्त्ववाँऽधिकं दुःखं दुःखहे-तुरित्यर्थः । कारणे कार्योपचार एकान्तेन दुःखहेतुत्वसूचनायेति बोध्यम् । यद्यपि स्पृहेत्येतावतैव परस्पृहा लभ्यते, न चाऽऽत्मधर्म-स्पृहा स्पृहा तस्याऽशुभाऽननुबन्धित्वात् । तथापि तादृशलोकप्रयोग-रूढ्याऽऽत्मसर्वस्वसम्यग्दर्शनादिस्पृहायाः सुखमूलत्वादहेयत्वादवश्य-मुपादेयत्वाच्च तद्रूपनिवृत्तये च परपदमिति सन्तोष्टव्यम् । तथा, निःस्पृहत्वम्—स्पृहाराहित्यम्, वीतरागतेत्यर्थः । महासुखम्—महदसाधारणं सर्वोत्तमं च सुखं सुखजनकम् । कारणे कार्योपचार एकान्तेन सुखजनकत्वसूचनायेति ध्येयम् । यदुक्तम्—" निस्पृह-स्याऽहो चक्रिणोऽप्यधिकं सुखमि"ति " वयमिह परितुष्टा वल्कलै-स्त्वं दुकूलैः सम इह परितोषे निर्विशेषो विशेषः । स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्र " इति च । तदेवमवश्यं सुखदुःखजनकत्वादेवदेव सुखदुःख-

लक्षणमित्याशयेनाऽऽह—एतत्-परस्पृहा निःस्पृहत्वं च, समासेन-सङ्क्षेपेण, सुखदुःखयोः-अनुकूलप्रतिकूलवेदनीययो र्लोके तथाख्यातयोः सुखदुःखयोः, लक्षणम्-चिह्नमसाधारणधर्मो वा, कार्यकारणयोरभेदात् । उक्तम्-कथितम्, तज्ज्ञैरितिशेषः । तस्मात्सर्वोपायेन स्पृहा त्याज्या निःस्पृहत्वं च साधनीयमितिहृदयम् ॥८॥

इति श्रीज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृकविरत्न-पन्न्यासप्रवरश्रीयशोभद्रविजयजीगणिवरशिष्यपन्न्यासश्रीशुभङ्करविजयगणिविरचितायां भद्रङ्करोदयाख्यायां व्याख्यायां निःस्पृहाऽष्टकं नाम द्वादशमष्टकम् ॥ १२ ॥

---

## ॥ मौनाऽष्टकम् ॥ १३ ॥

यदुक्तं " निःस्पृहो जायते मुनि "रिति, तत्र को मुनिरिति शिष्यजिज्ञासां समाधित्सुराह—

मन्यते यो जगत्तत्त्वं स मुनिः परिकीर्तितः ।
सम्यक्त्वमेव तन्मौनं मौनं सम्यक्त्वमेव वा ॥ १ ॥

मन्यते इति । यः-यत्प्रकारः पुण्यात्मा जनः, जगत्तत्त्वम्-जगतो धर्माऽधर्माऽऽकाशपुद्गलजीवात्मकस्य लोकस्य तत्त्वमागमशास्त्रादिषु प्रतिपादितमुत्पादव्ययध्रौव्याद्यात्मकं पारमार्थिकं स्वरूपम्, मन्यते-श्रद्धत्ते, श्रद्धया जानाति च, यद्वा साधकबाधकप्रमाणैः कृत्वा परीक्षणात्मकेन मननेनाऽऽगमादिप्रतिपादितं जगत्तत्त्वं जातश्रद्ध " इदमित्थमेवे " त्येवमवधारयतीत्यर्थः । यदुक्तम्-

"श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिरि"ति भावः। सः—तादृशो जनः, मुनिः—उक्तप्रकारव्युत्पत्त्या मुनिशब्दवाच्यः, मन् धातोरौणादिक इप्रत्ययोऽकारस्योकारश्च बोध्यः। जगत्तत्त्वमननं मुनिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमिति सारार्थः। न चैषा स्वमनीषेत्याह—परिकीर्तितः—वर्णितः, तज्ज्ञैरितिशेषः। एवञ्च मुनिशब्दस्योक्तार्थे व्यवहारप्रामाण्यमिति सूच्यते। तत्—मुनिशब्दस्योक्तार्थपरिकीर्तनाद्धेतोः, मौनम्—मुनेर्भावः, मुनिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमित्यर्थः। मुनिलक्षणमिति यावत्। सम्यक्त्वम्—आगमादिप्रतिपादितजगत्स्वरूपश्रद्धानम्, एवकारेण प्रकारान्तरेण कन्दमूलाद्यशनवनवासादिमात्रेण वाङ्निरोधमात्रेण वा मौनव्यवच्छेदः। ननु किं नाम सम्यक्त्वमित्यपेक्षायामाह—मौनमिति। वेति तथेत्यर्थे। सम्यक्त्वम्—सम्यगितिपदार्थतत्त्वम्, सम्यक्पदप्रवृत्तिनिमित्तमित्यर्थः। मौनम्—जगत्तत्त्वमननम्, अत्राऽप्येवकारेण चारुत्वादिरूपप्रकारान्तरेण सम्यक्त्वव्यवच्छेदः। यदुक्तम्—"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमि"ति। उभयत्रैवकारेण मौनसम्यक्त्वयोरभेदो ध्वन्यते ॥ १ ॥

ननु मुनेर्भावः कर्म च मौनम्, सम्यक्त्वं च मुनेर्भाव एव न तु कर्मेति कथं द्वयोरभेद इति शिष्यसम्मोहव्यपोहाय मुनेर्दर्शनज्ञानचारित्राणामैक्यमुपपादयन्नाह—

आत्माऽऽत्मन्येव यच्छुद्धं जानात्यात्मानमात्मना।
सेयं रत्नत्रये ज्ञप्तिरुच्याचारैकता मुनेः ॥ २ ॥

आत्मेति । आत्मा–ज्ञानादीनामात्मस्वभावत्वाद्धर्मधर्मिणोरभेदाद्विषयीकर्ता स्वप्रकाशो जीवः, आत्मनि–विषयतया स्वाऽभिन्नत्वात्स्वस्वभावात्मकज्ञानादिप्रतिष्ठिते स्वस्मिन् विषय एव, न तु परत्र, तथा सति भेदबुद्धेरनुपवेशाच्छुद्धात्मज्ञानाऽसम्भवादिति हृदयम् । आत्मना–अभिन्नेन स्वस्वभावेन ज्ञानादिना स्वेन, विद्ययेति यावत् । विद्यैव ह्यात्मन आत्मेति ध्येयम् । शुद्धम्–कर्मोपाधिरहितत्वान्निर्मलं सच्चिदानन्दमयं स्वस्वरूपम्, यज्जानाति–यदवबुध्यते, साक्षात्कारोतीत्यर्थः । यदित्युद्देश्ये । सा–तादृशी, इयम्–आत्मज्ञानम्, मुनेः–उक्तप्रकारस्य जगत्तत्त्वमन्तुः, रत्नत्रये–दर्शनज्ञानचारित्रात्मकानामभव्यैर्दुर्लभत्वाद्भव्यैरपि चिरार्जितपुण्यपुञ्जप्रभावादेवाऽतिप्रयस्य लभ्यत्वाद्रत्नानामिव रत्नानां त्रये, व्ययत्वे दर्शनाद्यात्मकरत्नविषये इत्यर्थः । ज्ञप्तिरुच्याचारैकता–ज्ञप्तिर्ज्ञानं रुचिः सम्यक्त्वमाचारश्चारित्रं च तेषामेकताऽभेदः, भवतीति शेषः । यद्वा–रत्नत्रयज्ञप्तिरुच्याचारैकतेति पाठः । रत्नत्रयस्य ज्ञप्तिरुच्याचारात्मकतया रत्नत्रये एकतेत्यतावतैवेष्टार्थलाभादनन्वितार्थत्वाच्च प्राक्तनपाठस्य । ततश्चातिदुर्लभतायाः श्रेष्ठत्वाच्छुद्धत्वाच्च रत्नत्रया इव रत्नत्रया ये ज्ञप्तिरुच्याचारास्तेषामेकतेत्यर्थः । मुनेस्तस्मन आत्मनि ज्ञानेन शुद्धस्वरूपसाक्षात्कार एव दर्शनं ज्ञानमाचारश्च । एतेषां ह्यात्मज्ञान एव परिसमाप्तेः । तदवस्थायां सर्वयोगादिपरित्यागेन श्रद्धानाद्यात्मकस्थूलदर्शनाद्यसम्भवात् । तदुक्तम्–"निर्विकल्पे पुनस्त्यागे न विकल्पो न च क्रिये"ति, "ज्ञानाचारादयोऽपीष्टाः शुद्धस्वस्वपदावधी"ति चेति बोध्यम् । तदेव-

मात्मनि ज्ञानोपयोगश्चारित्रमात्मज्ञानं ज्ञानमात्मन्येव चोपयोगः सम्यक्त्वमिति गुणगुणिनोरभेदनये तदभिन्नाऽभिन्नस्तदभिन्न इति न्यायेन दर्शनज्ञानचारित्राणामैक्यमिति सुष्ठूक्तं—"मौनमेव सम्यक्त्वं सम्यक्त्वमेव वा मौनमि"ति ध्येयम् ॥ २ ॥

ननु सति वस्तुन्यभेदो भेदो वा ग्राह्य इति तादृशं रत्नत्रयं कथं साध्यमिति शिष्यजिज्ञासां समादधान आह—

**चारित्रमात्मचरणाज्ज्ञानं वा दर्शनं मुनेः ।**
**शुद्धज्ञाननये साध्यं क्रियालाभात्क्रिया नये ॥ ३ ॥**

चारित्रमिति । मुनेः—जगत्तत्त्वमन्तुः सम्यक्त्ववतश्चारित्रादि-सिद्धिनिधानज्ञानबन्धुरस्य विधातुः, शुद्धज्ञाननये—शुद्धं केवलं यज्ज्ञानं तन्नये, शुद्धज्ञाननयमत इत्यर्थः । एकं ज्ञानमेव केवलं न तु चारित्रं वा दर्शन वा, ते हि ज्ञानस्यैवाऽवस्थाविशेषौ । आस्रवरोधो हि चारित्रं तच्च ज्ञानेन कृत्वा, अज्ञानिनस्तदसम्भवात् । अन्यथा सर्वोऽज्ञसैव मुच्येत । कार्यकारणयोश्चाभेदः । यद्वा—संवर आत्मपरिणामो नियतसाहचर्यश्च ज्ञानेन । गुणगुणिनोश्चाऽभेद इति तदभिन्नाऽभिन्नस्तदभिन्न इति चारित्रं ज्ञानमेव, दर्शनं तु व्यक्तमेव ज्ञानविशेषस्तत्त्वश्रद्धानात्मकमिति ज्ञानमेवैकं न त्वन्यच्चारित्रादिकमित्येवं ज्ञानसङ्ग्रहनय इति तात्पर्यम् । आत्मचरणात्—आत्मचरणमनुष्ठायेति यब्लोपे पञ्चमी । आत्मचरणं चाऽत्मन्येवाऽऽत्मनो ज्ञानमित्यनुपदमेव प्रतिपादितमवगन्तव्यम् । चारित्रम्—संवरः, ज्ञानम्—सम्यग्ज्ञानम्, दर्शनम्—तत्त्वार्थश्रद्धानम्, वेति समुच्चये, तेनाऽनुक्तमपि क्षायिकदर्शनज्ञानचारित्रं समुचीयते । साध्यम्—

प्राप्यम्, शुद्धज्ञाननये आत्मचरणस्यैव रत्नत्रयात्मकत्वात्तेनैव सर्वसाधनादुपायान्तराऽभावाच्चेति तात्पर्यम्। क्रियानये-क्रियैवैकं न तु ज्ञानदर्शने इति क्रियासङ्ग्रहनयमते। ज्ञानं ह्यात्मनो विषयतया प्रतिभासात्मको व्यापार इति क्रियैव, दर्शनं तद्विशेष एवेति तत्सुतरां क्रियेति भावः। क्रियालाभात्-क्रियाप्राप्तेः, आवश्यकादिक्रियापालनादित्यर्थः। क्रियान्तरस्य चारित्राद्यसाधनत्वादिति बोध्यम्। चारित्रं ज्ञानं दर्शनं वा साध्यमिति सम्बध्यते। अयम्भावः-चारित्रादिसिद्धे र्द्वयी रीतिः, ज्ञानेन क्रियया च। तत्र यो मुनिर्ज्ञानसङ्ग्रहमतिस्तस्याऽऽत्मचरणाद्यश्च क्रियासङ्ग्रहमतिस्तस्य क्रियातश्च चारित्रादिसाध्यम्। चारित्रादि चेह ज्ञानाक्रियाफलात्मकाऽऽत्मपरिणामः कार्ये कारणोपचारात्। चारित्रादेरात्मचरणात्मकत्वात्क्रियात्मकत्वाच्च ज्ञानं क्रियां वा किमप्येकमाश्रित्य रत्नत्रयसाधनमिति परमार्थः॥ ३॥

नन्वात्मचरणस्य लोके बहवः पन्थानः स्वस्वोत्तमत्वेन प्रवृत्ता इति मोहो मा भूदिति शिष्यमनुजिघृक्षन् हेये उपादेये च ज्ञाने विवेकं युग्मेन ग्राहयति—

यतः प्रवृत्ति र्न मणौ लभ्यते वा न तत्फलम्।
अतात्त्विकी मणिज्ञप्ति र्मणिश्रद्धा च सा यथा॥ ४॥
तथा यतो न शुद्धात्मस्वभावाऽऽचरणं भवेत्।
फलं दोषनिवृत्ति र्वा न तज्ज्ञानं न दर्शनम्॥ ५॥

(युग्मम्)

यत इति । यतः–यस्या मणिज्ञप्तेर्मणिश्रद्धायाश्च, मणौ–मणिपदवाच्ये हीरकादिमणिविषये, प्रवृत्तिः–प्रसक्तिः, न–नैव, लभ्यते–प्राप्यते, अपि त्वन्यत्रैव कुत्रापि निःसारोपलादावेव प्रवृत्तिर्लभ्यते, अमणौ मणित्वाऽध्यासमूलाभ्यां मिथ्यामणिज्ञानदर्शनाभ्यां हि सत्यमणेः परिच्छेदाऽसम्भवान्मणौ प्रवृत्तिं लब्धुं न शक्यते इति भावः । ननु यद्यमणेरपीष्टसिद्धिः, कामं मा भून्मणौ प्रवृत्तिर्हानेरभावादित्यत आह–नेति । तथेत्यर्थः । तत्फलम्–मणिफलम्, मण्याश्रितं प्रकाशविषाऽपहारादिकं फलं कार्यमित्यर्थः । न–नैव, लभ्यते इति सम्बध्यते । नहि मणिं विना तत्फलसम्भवः, अन्यथा तत्तत्फलमेव न स्यादिति मणौ प्रवृत्त्यलाभे तत्फलाऽलाभोऽपीति भावः । सा–तादृशी, मणिज्ञप्तिः–मणिरीदृग्भवतीत्येवं मणिविषयकं ज्ञानम्, मणिश्रद्धा–अयं मणिरेवं मणिविषया श्रद्धा प्रतीतिः, चः समुच्चये । यथा–येन प्रकारेण, अतात्त्विकी–अवास्तवी, अयथार्था, भ्रमात्मिकेत्यर्थः । मिथ्येति यावत् । ज्ञानस्य श्रद्धायाश्च संवादित्वमेव प्रमात्वम् । एवञ्च यदि मणिज्ञप्त्या मणिश्रद्धया चाऽमणिरेव विषयीक्रियते, तदा व्यक्तं विसम्वादित्वमिति तदप्रमैवेति हेयैव । उपादेया तु संवादिन्येव मणिज्ञप्तिर्मणिश्रद्धा च, इष्टार्थसम्पादकत्वादित्यनुपयोगित्वा त्तादृशमणिज्ञप्तिमणिश्रद्धयोरतात्त्विकत्वमिति भावः । ननु यथेति किमित्याह–तथेति । तद्वदेवेत्यर्थः । यतः–यस्माज्ज्ञानाद्दर्शनाच्च, शुद्धात्मस्वभावाचरणम्–शुद्धो निरुपाधित्वान्निर्विकल्पत्वाच्च शुद्धं जलादिकमिव निर्मलो य आत्मस्वभावः सच्चिदानन्दरूपस्तस्याऽऽचरणमासेवनम्,

अनुभव इत्यर्थः। साक्षात्कार इति यावत्। न, भवेत्–न स्यात्, ननु मा भूच्छुद्धात्मस्वभावाऽऽचरणम्, तत आत्मशुद्धिलाभोऽप्यति-बहुरिति चेत्तत्राऽऽह–फलमिति। वेति तथेत्यर्थे। दोषनिर्वृत्तिः–दोषाणां कर्मरागद्वेषादीनां निर्वृत्तिस्त्यागः, अभाव इत्यर्थः। कर्मादीनामभाव एव तत्त्याग इति बोध्यम्। तद्रूपमित्यर्थः। फलम्–कार्यम्, यतो नेति सम्बध्यते। तत्–तादृशं शुद्धात्मचरणस्य दोषनिवृत्तेश्चाऽहेतुः, ज्ञानम्–बोधः, सम्यग्ज्ञानमित्यर्थः। न–नैव, ज्ञानं हि सम्यग्ज्ञानं यत आत्मसाक्षात्कारो दोषनिवृत्तिश्च, अनीदृशं त्वज्ञानम्, अन्यथा त्वज्ञानं किं नाम स्यादिति भावः। तथा, दर्शनम्–सम्यग्दर्शनम्, न–नैव, तदितिसम्बध्यते। वस्तूनि ह्यर्थ-क्रियाकारित्वमेव तत्त्वम्, सम्यग्ज्ञानदर्शनयोश्चाऽऽत्मज्ञानं दोषनिवृत्तिश्चाऽर्थक्रियेति तदभावे तदभावः। कार्याऽभावस्य कारणसाकल्याऽभावसाधकत्वात्, कारणसाकल्ये कार्याऽवश्यंभावात्। ततश्च कामं सन्त्वात्मचरणहेतवो ज्ञानादयो बहवः, फलेनैव हि तेषां तत्त्वमुपादेयत्वं चेति भावः ॥ ४ ॥ ५ ॥

ननु तादृशज्ञानेनाऽऽत्मस्वभावलाभेऽपि भवसुखं हीयते इति मुनित्वे निरुत्साहं शिष्यमुपदिशन्नाह —

यथा शोफस्य पुष्टत्वं यथा वा वक्ष्यमाण्डनम्।
तथा जानन् भवोन्मादमात्मतृप्तो मुनिर्भवेत् ॥ ६ ॥

यथेति। यथा–यादृशम्, शोफस्य–रोगविशेषजनितहस्त-पादाद्युच्छूनतात्मकशोथस्य, पुष्टत्वम्–अम्लादिभक्षणेन रसवैगुण्या-

दृवृद्धिः, "शोथस्तु श्वयथुःशोफ" इति हैमः। वा–तथा, यथा–यादृशम्, बध्यमण्डनम्–यज्ञादौ बलित्वेन कल्पितस्य बध्यस्याऽजादे र्मण्डनं पुष्पमालादिनाऽलङ्करणम्, तथा–तादृशम्, भवोन्मादम्–भवस्य लक्षणया भवसम्बन्धिस्रक्चन्दनाङ्गनाद्युपभोगजसुखस्य य उन्मादश्चित्तविप्लवः, तादृशसुखार्थं व्यासङ्गाद्विवेकपरित्यागेनाऽनात्मनीना प्रवृत्तिरित्यर्थः। उन्मत्तो हि विवेकभ्रष्टत्वादनात्मनीनेऽपि कार्ये प्रवर्त्तते इति प्रसिद्धम्। "उन्मादश्चित्तविप्लव" इति हैमः। तं तादृशं भवोन्मादम्, जानन्–विवेकेनाऽवधारयन्, मुनिः–उक्तस्वरूपः साधुः, आत्मतृप्तः–आत्मन्यात्मस्वभावे सम्यक्त्वादौ तृप्तः प्रीतः,, भवेत्–स्यात्। शुद्धज्ञानादिनाऽऽत्मसुखलाभार्थमेव प्रवर्त्तेतेति हृदयम्। शोफस्य पुष्टत्वं पीडावृद्धये, बध्यस्याजादेर्मण्डनं च कालप्राप्तं वधमेव सूचयति, तदेतदुभयमप्यनिष्टम्। तथा भव एव जन्मजरादिदुःखमूलतया दुःखम्। तत्राऽनुरागश्च तद्वृद्धय एवेति शोफपोषबध्यमण्डनवदेवाऽनिष्टोऽत एव विना विलम्बं हेयश्चेति ज्ञानदृशा पश्यन् मुनिरात्मसुखार्थमेव यतेत, तस्यैकान्ताऽनन्ताऽखण्डत्वादपायशङ्काया अपि तत्राऽभावात्। एतेन भवसुखं वस्तुतो बध्यमण्डनादिवद्दुःखपरम्पराऽऽपादकमेवेत्यात्मस्वभावलाभार्थं प्रयतमानस्य तादृशं सुखं हीयते चेत्कामं हीयताम्। तद्धि हेयमेव, आत्मसुखस्यैवेष्टत्वादुपादेयत्वात्। यदुक्तम्–"सम्यग्दर्शनं शुद्धं यो ज्ञानं विरतिमेव चाऽऽप्नोति। दुःखनिमित्तमपीदं तेन सुलब्धं भवति जन्मे"ति भावः ॥ ६ ॥

ननु लोके मौनं वाङ्निरोध इति प्रसिद्धम्। भवता च

विलक्षणं तदुपदिश्यते इति शिष्यमोहं बिभित्सुराह—

सुलभं वागनुच्चारं मौनमेकेन्द्रियेष्वपि ।
पुद्गलेष्वप्रवृत्तिस्तु योगानां मौनमुत्तमम् ॥ ७ ॥

सुलभमिति । वागनुच्चारम्–वाचो भाषायाः, शब्दस्येत्यर्थः । अनुच्चारोऽनुदीरणं यत्रेति व्यधिकरणबहुव्रीहिः । तत्तादृशं वाङ्निरोधात्मकमित्यर्थः । मौनम्–लोकप्रसिद्धं मुनित्वम्, एकेन्द्रियेषु–एकं केवलं स्पर्शग्राहकं स्पर्शनमिन्द्रियं येषां ते तादृशाः पृथिव्यम्बुतेजोवायुवनस्पतयस्तेषु जीवेष्वपि, सुलभम्–अनायाससाध्यम्, सुकरमित्यर्थः । अपिना तादृशमौनस्याऽकिञ्चित्करत्वं द्योत्यते । सावद्यप्रवृत्तिसत्त्वे तादृशं मौनं लोकवञ्चनाय दम्भमात्रमत एवाऽशुभमपीति हृदयम् । तु विशेषेभेदे च । तदाह–पुद्गलेष्विति । योगानाम्–कायवाङ्मनोव्यापाराणाम्, पुद्गलेषु–अनात्मनीनेषु सक्वन्दनाऽञ्जनादिषु, अप्रवृत्तिः–रागात्प्रवृत्त्यभावः, तद्रूपेत्यर्थः । सर्वथाऽप्रवृत्ते रमुक्तानामसम्भवादिति बोध्यम् । योगनिरोधाद्यात्मकः संवर इति यावत् । मौनम्–मुनित्वम्, उत्तमम्–आत्मस्वभावलाभाऽनुकूलत्वादुत्कृष्टं शुभमुपादेयञ्चेत्यर्थः । यदुक्तम्–" आश्रवः सर्वथा हेय उपादेयश्च संवर " इति, " आश्रवो भवहेतुः स्यात्संवरो मोक्षकारणमि "ति भावः । एवञ्च न वाङ्निरोधमात्रेण कृतकृत्यताऽपि त्वास्रवनिरोधेनेति संवर एव मौनं परमार्थत इति सारार्थः । अत्र मौनशब्दस्य द्विरुक्तिः साधारणजनमौनमन्यन्मुनिमौनं चाऽन्यदिति वैलक्षण्यविस्फोरणायेति न पुनरुक्तिः शङ्क्या ॥ ७ ॥

तदेवमुक्तप्रकारेण मौनं निरुच्य तत्कीदृशेन कथं च साध्यमिति शिष्यमुपदिशन्नुपसंहरति—

ज्योतिर्मयीव दीपस्य क्रिया सर्वाऽपि चिन्मयी ।
यस्याऽनन्यस्वभावस्य तस्य मौनमनुत्तरम् ॥ ८ ॥

इति महामहोपाध्यायश्रीमद्यशोविजयोपाध्यायविरचितं ज्ञानसारे मौनाऽष्टकं नाम त्रयोदशमष्टकम् ॥ १३ ॥

ज्योतिर्मयीवेति । यस्य—यादृशस्य पुण्यशालिनः, अनन्यस्वभावस्य—अविद्यमानोऽन्य आत्मभिन्ने पुद्गलादौ प्रवृत्तिरूपः स्वभाव आत्मपरिणामो यस्य स तादृशस्तस्य, आत्मतृप्तस्येत्यर्थः । सर्वा—सकला, न तु एका द्वे एव वा, सर्वेत्यनेन क्रियासामान्यग्रहोऽपिना द्योत्यते, सर्वैवेत्यर्थः । क्रिया—प्रवृत्तिः, आहारसंस्तरादिविधिरित्यर्थः । दीपस्य—प्रदीपस्य, ज्योतिर्मयी—प्रकाशात्मिका क्रिया, ज्वलनरूपेणेति बोध्यम् । चिन्मयी—ज्ञानपूर्विका ज्ञानाऽनुविद्धा सज्ज्ञानफला च । प्रमादपरिहीणेति यावत् । यथा दीपस्य प्रकाशात्मनो ज्वलनक्रिया प्रकाशात्मिकैव सर्वा भवति, तथा यस्य सम्यग्ज्ञानिनः क्रिया प्रमादपरिहीणत्वाज्ज्ञानात्मिकेत्यर्थः । तस्य—तादृशस्याऽनन्यस्वभावस्य मुनेः, मौनम्—निरुक्तप्रकारं मुनित्वम्, अनुत्तरम्—अविद्यमान उत्तरोऽधिको यस्मात्तादृशम् । अन्यक्रियादुर्लभात्मस्वभावलाभाऽनुगुणत्वात्सर्वोत्कृष्टं तन्मौनम्, नाऽतः परं किमपि मौनमिति तादृशं मौनं सम्यग्ज्ञानवताऽप्रमत्तया क्रियया साध्यमिति हृदयम् ॥ ८ ॥

इति ज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृकविरत्नपन्यासप्रवरश्रीयशोभद्र-विजयजीगणिवरशिष्यपन्यासश्रीशुभङ्करविजयगणिविरचितायां भद्रङ्करोदयाख्यायां व्याख्यायां मौनाऽष्टकं नाम त्रयोदशमष्टकम् ॥ १३ ॥

---

## ॥ अथ विद्याऽष्टकम् ॥

यदुक्तं "क्रिया सर्वाऽपि चिन्मयी"। तत्र क्रियायाश्चिन्मयत्वं नाम विद्याऽपरपर्यायज्ञानपूर्वकत्वमिति का विद्येति शिष्यजिज्ञासायां विद्यां निरूपयन्नाह—

नित्यशुच्यात्मताख्यातिरनित्याऽशुच्यनात्मसु ।
अविद्या तत्त्वधी र्विद्या योगाचार्यैः प्रकीर्तिता ॥ १ ॥

नित्येति । अनित्याऽशुच्यनात्मसु—अनित्येषु विनश्वरेषु, क्षणिकेष्वित्यर्थः । अशुचिष्वपवित्रेष्वनात्मस्वात्मभिन्नेषु स्वदेहेषु स्वकचदनाऽङ्गनादिषु च पौद्गलिकेषु । आत्मभिन्नं हि देहादिकं विनश्वरमिति स्वनुभूतम्, नानाद्वारै र्मलस्रावितया मलाऽऽविलतया नैकैरुपभोग्यतयोच्छिष्टप्रायतयाऽशुचिपुद्गलसम्पृक्ततया च तदपवित्रं दुरुदर्कतयाऽशुभं च, तेषु तादृशेषु । नित्यशुच्यात्मताख्यातिः—नित्यं च शुचि चाऽऽत्मा च, तेषां भावो द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वान्नित्यताशुचिताऽऽत्मताऽहङ्कारो ममत्वं च, तत्ख्यातिस्तथा प्रसिद्धि र्बुद्धिर्वा । शरीरादिकं नित्यमिति शुचीति ममेदमित्यहमिति च बुद्धिरित्यर्थः । सा तादृशी—अविद्या—अज्ञानं वा माया वा मोहो वा । यदुक्तम्—" अनित्यघनदेहादौ नित्यत्वेन

ममेति च । अज्ञानेनाऽऽवृता बुद्धिर्मोह इत्यभिधीयते" इति । अभावज्ञानस्य प्रतियोगिज्ञानपूर्वकत्वान्न विद्येत्यविद्येति का विद्येत्याकाङ्क्षायामाह-तत्त्वधीः-तत्त्वं वस्तुयाथात्म्यं तद्धीस्तद्वैशिष्ट्यधीः, विद्या-विद्यापदबोध्या, सम्यग्ज्ञानमित्यर्थः । तदभाववति तत्प्रकारकधीरविद्या, तद्वति तत्प्रकारकधीश्च विद्येति यावत् । तथा च नित्यत्वशुचित्वाऽऽत्मत्वाऽभाववति नित्यत्वशुचित्वाऽऽत्मत्वविशिष्टबुद्धिर्नित्यशुच्यात्मत्वनित्याऽशुच्यनात्मत्वविशिष्टबुद्धिश्चाऽविद्या, तथाऽनित्याऽशुच्यनात्मत्वनित्याशुच्यनात्मत्वबुद्धिर्नित्यशुच्यात्मसु नित्यशुच्यात्मत्वविशिष्टबुद्धिश्च विद्येति विशदोऽर्थः । अत्र त्वक्षरस्वारस्याद्नित्या अशुचयश्च ये ऽनात्मानो देहादयः पौद्गलिकास्तेषु नित्यशुच्यात्मत्वप्रकारकधीरविद्य, तथा तेष्वेवाऽनित्यत्वादिबुद्धिर्विद्येत्यर्थः । यत्त्वात्मनि नित्यत्वादिबुद्धिर्विद्येति, तदमनोज्ञम् । यस्य ह्यनात्मन्यपि नित्यत्वादिबुद्धिस्तस्याऽऽत्मनि तथा बुद्धिः सुतरामिति विद्याया अविद्यायामेवाऽनिष्टोऽन्तर्भाव आपद्यते, तादृशार्थेऽक्षरस्वारस्याऽभावश्च तत्त्वधीरित्यस्य पृथग्विषयाऽनुक्त्या स्पष्टमेवोपलक्ष्यते । तत्त्वधीरित्यस्य प्रत्यासत्त्योपस्थितत्वाच्चाऽनित्याऽशुच्यनात्मस्वित्यत्रैवाऽन्वयेन शान्ताकाङ्क्षत्वात्तथाऽन्वये बाधाऽभावाच्चाऽऽत्मनीत्यध्याहाराऽनवरात् । अनित्यादिषु तत्त्वबुद्धिरित्येतावतैव नित्यादिष्वपि तत्त्वबुद्धेरर्थाऽऽपत्त्याऽवगमाच्च । न चैवमग्रिमश्लोके "यः पश्येन्नित्यमात्मानमनित्यं परसङ्गमम्" त्युभयोक्तिरसङ्गतेति वाच्यम् । तस्य फलकथने तात्पर्यादनेन प्रथमेन श्लोकेन सिद्धस्याऽर्थस्य स्पष्टं बोधो यथा स्यादित्यनुवादा-

दनूद्य फलकथनस्योपदेशप्रकारत्वाच्चेतिदिक्। अन्यथाऽर्थापत्त्या तथा बोधाऽस्वीकारे त्वविद्याऽनुषक्तैव तिष्ठेदिति तत्त्वधी र्विद्येति पृथग्वाक्यं कल्पयित्वाऽऽकाङ्क्षाशान्तये आत्मनीत्य ध्याहारश्रमोऽस्थान एवेति सहृदयैरनुचिन्तनीयम्। ननु वैपरीत्यमेव कुतो नेति चेन्न, तदाह–योगाचार्यैः–योगोऽत्र तत्त्वधीस्तस्य ये आचार्या उपदेशकास्तैस्तादृशैः, तज्ज्ञैरित्यर्थः। नहि ज्ञानं विनोपदेश इति बोध्यम्। प्रकीर्तिता–प्रतिपादिता, संशये हि तज्ज्ञ एव स्थेय इति तज्ज्ञै र्योगाचार्यैरित्थमेवोपदेशान्न वैपरीत्येनाऽविद्या विद्या वेति भावः ॥ १ ॥

शिष्यजिज्ञासानिवृत्तये तादृशतत्त्वधियः साक्षात्फलमाह—

यः पश्येन्नित्यमात्मानमनित्यं परसङ्गमम्।
छलं लब्धुं न शक्नोति तस्य मोहमलिम्लुचः ॥ २ ॥

य इति। यः–यादृशः सम्यग्ज्ञानसम्पन्नो जनः, आत्मानम्–शुद्धसच्चिदानन्दमयं निजात्मानं शुद्धसच्चिदानन्दात्मकं तत्त्वं च, गुणगुणिनोरभेदादिति ध्येयम्। नित्यम्–कूटस्थम्, अविनश्वरमनन्तं च, तथा–परसङ्गमम्–परस्याऽऽत्मभिन्नस्य पौद्गलिकस्य देहादे स्तज्जन्यसुखादेश्च सङ्गं सम्पर्कम्, कर्मजन्यं संयोगम्, अनित्यम्–अस्थिरम्, विनश्वरं च, तस्य कर्मवशादुपनतत्वात्तत्क्षये तदभावादिति भावः। पश्येत्–जानीयात्, मोहमलिम्लुचः–मोहोऽविद्या, स एवाऽऽत्मनि नित्यत्वादिज्ञानधनाद्यपहारकत्वान्मलिम्लुच इव मलिम्लुचः पाटच्चरः, " प्रतिरोधिपरास्कन्दिपाटच्चर-

म्लिम्लुचा" इत्यमरः। तस्य–तादृशज्ञानवतस्तत्त्वज्ञस्य, छलम्–प्रमादात्मकमवकाशमित्यर्थः। तादृशज्ञानधनाद्यपहाराऽवसरमिति यावत्। प्रमादिनो हि धनं तस्करा मुष्णन्तीति भावः। लब्धुम्–प्राप्तुम्, न–नैव, शक्नोति–प्रभवति, "स्खलितं छलमि"ति हैमः। तत्त्वज्ञस्य हि तत्त्वबुद्धि र्मोहमपाकरोति विरोधित्वात्, यदुक्तम्–"तत्त्वबुद्धिर्न मुह्यती"ति तस्मात्तत्त्वधीः साध्या यथा मोहो नाऽभिभवेदिति भावः॥ २॥

शिष्यप्रबोधाय धनादीनामनित्यत्वभावनामुपदिशन्नाह—

तरङ्गतरलां लक्ष्मीमायुर्वायुवदस्थिरम्।
अदभ्रधीरनुध्यायेदभ्रवद्भङ्गुरं वपुः॥ ३॥

तरङ्गतरलामिति। अदभ्रधीः–अविद्यमाना दभ्राऽल्पा धीर्यस्य स तादृशः, यस्य हि नाऽल्पा धीस्तस्य महत्येव सेति विशालबुद्धिरित्यर्थः। बुद्धिमानिति यावत्। श्रेयोमतिरितिसारार्थः। "स्तोकं क्षुल्लं तुच्छमल्पं दभ्राऽणुतलिनानि चे"ति हैमः। लक्ष्मीम्–सम्पदम्, धनधान्यपरिजनपरिच्छदादिसमृद्धिमित्यर्थः। तरङ्गतरलाम्–तरङ्गः कल्लोलस्तद्वत्तरलामस्थिराम्, यथाहि तरङ्गः पवनादिवशात्क्षणेनोत्पद्यते विलीयते च तथा धनाद्यपि तादृशपुण्यवशादिति लक्ष्मीस्तरङ्गवदस्थिरेति भावः। तथा, आयुः–जीवितम्, वायुवत्–पवनवत्, अस्थिरम्–सदागति, आयुर्हि भोगवशादनुक्षणं क्रमशोऽपगच्छत्येव, वायुरपि च सदागतिरित्यायुर्वायुवद-

स्थिरमितिभावः। तथा, वपुः—शरीरम्, अभ्रवत्—अभ्रं मेघस्तद्वत्, "अभ्रं मेघो वारिवाह" इत्यमरः। भङ्गुरम्—निमित्तमासाद्य स्वयमेव कर्तृव्यापाराऽनपेक्षयैव भज्यते इति तादृशम्। यथा ह्यभ्रं पवनादिवशात्स्वयमेवोन्नतमपि क्षणाद्विलीयते तथा वपुरपि रोगादिवशात्स्वयमेव भज्यत इति भावः। अनुध्यायेत्—पश्येत्, चिन्तयेदित्यर्थः। भावयेदिति यावत्। यथा नाऽविद्या प्रभवेदिति भावः॥ ३॥

नन्वस्त्वेतत्, तथाऽनुभवात्। देहेऽशुचित्वबुद्धिस्तु न मनोज्ञा, स्नानादिना हि देहशुचीभावस्य साम्प्रदायिकत्वात्। यदुक्तम्—"शतं विहाय भोक्तव्यं सहस्रं स्नानमाचरेदि"ति शिष्यमोहमपाकुर्वन्नाह—

शुचीन्यप्यशुचीकर्तुं समर्थेऽशुचिसम्भवे।
देहे जलादिना शौचभ्रमो मूढस्य दारुणः॥ ४॥

शुचीनीति। शुचीनि—पवित्राणि, तथा रूयातानि घनसारकस्तूरिकाक्षौमवासः प्रभृतीन्यपि, अपिना शुचीनामप्यशुचीकरणादशुचितमत्वं देहस्य सूच्यते। अशुचीकर्तुम्—अपवित्रीकर्तुम्, उपभोगादौ स्वसम्पर्कत इति बोध्यम्। समर्थे—प्रभौ, क्षमे इत्यर्थः उपभुक्तं हि कर्पूरादिकं शरीरमलसम्पर्कादग्राह्यतामापद्यत इति प्रसिद्धमिति भावः। तत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह—अशुचिसम्भवे—अशुचि विण्मूत्राद्याश्रयत्वादपवित्रं जरायुयोन्यादिकं सम्भवः सम्भवत्यस्मादिति स उत्पत्तिहेतुर्यस्य स तादृशः, यद्वाऽशुचेः शुक्रशोणितादेः सम्भवोऽशुचौ विण्मूत्रादिमयत्वादपवित्रे गर्भे सम्भवो

वा यत्येते व्यधिकरणबहुव्रीहिः । यद्वा वामनः—" अवर्ज्यो हि व्यधिकरणबहुव्रीहिर्जन्माद्युत्तरपद " इति । तस्मिंस्तादृशे, यस्य शुचेः सम्भवः सोऽशुचितम इति तस्याऽशुचीकरणक्षमता प्रबलेति स शुचीन्यशुचीकर्तुं प्रभवतीति भावः । देहे—शरीरे, मूढस्य—शुच्यशुचिविवेकविकलस्य, जलादिना—जलं पानीयम्, आदिना भस्मादि परिग्रहः, तेन कृत्वा, शौचभ्रमः—पवित्रताभ्रान्तिः, जलादिना मलाद्यपाकरणेऽपि स्वभावतोऽशुचित्वाद्देहस्य तत्र पवित्रत्वबाधात्पवित्रताबुद्धिर्भ्रान्तिरेवेति भावः । दारुणः—भयङ्करः, देहे पवित्रताबुद्ध्या मोहोदयाज्जलादिसचित्तविराधनाबाहुल्याच्च दुर्गति बाहुल्यादिति भावः । " दारुणं भीषणं भीष्मं घोरं भीमं भयानकमि "त्यमरः । तस्माद्देहादौ शुचित्वबुद्धिरविद्यैवेति हृदयम् ॥४॥

शरीरस्योक्तरीत्याऽशुचित्वात्तत्सम्बन्धादात्मनोऽपि तत्त्वमिति कीदृश आत्मा शुचिरिति शिष्यप्रबोधायाऽऽह—

यः स्नात्वा समताकुण्डे हित्वा कश्मलजं मलम् ।
पुनर्न याति मालिन्यं सोऽन्तरात्मा परः शुचिः ॥ ५ ॥

य इति । यः—यादृशः सम्यग्ज्ञानवान् जनः, उत्कृष्टकारविशेषसम्पन्न इति यावत् । समताकुण्डे—समताऽऽत्मवत्सर्वभूताऽवलोकिता, यदुक्तम्—" आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डित " इति, " शुने चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिन " इति च । सैव स्नानसाधनत्वाज्जलमिति विषयतया तदाधारत्वात्कुण्डमिव ज्ञानम्, अत्राऽयमूहऽतिशयोक्तिः, यथा—" कथमुररि कलाभिः

कलाप" इत्यादाविति बोध्यम्। यद्वा स्नानसाधनत्वात्समतैव कुण्डं जलाशयविशेषः, तत्र, स्नात्वा–तन्मग्नो भूत्वा, समता-परिणताऽऽत्मवृत्तिरित्यर्थः। अत एव, कश्मलजम्–कश्मलं युद्धादौ शस्त्राद्याघातादिजन्यो नष्ट संज्ञत्वात्मको मोहः, विषयमोहोऽपि च विवेकात्मकसंज्ञारहितो भवत्युपलक्षणत्वात्कश्मलं विषयमोहः, तज्जं तन्निमित्तम्, अथ च कृष्यादिकर्मणि शरीरे श्लिष्टं कचरं कश्मलं तज्जम्, मलम्–कर्मात्मकं सविशेषाऽऽसक्त्याद्यात्मकं च कचरादि-श्लेषजन्यं शारीरं मलं च। मोहाद्धि कर्मबन्धो रागादिवृद्धिश्च, कचराच्च प्रस्वेदसम्पर्कादिना शरीरे मलमिति बोध्यम्। "मोहो मूर्च्छा च कश्मलमि"ति, "मलिनं कचरं म्लानं कश्मलं च मलीमसमि"ति च हैमः। हित्वा–त्यक्त्वा, विशोध्येत्यर्थः। स्नाने न शारीरमलस्येवाऽऽत्मनः समतापरिणामेन कर्ममलस्य रागादेश्च विशुद्धिरिति हृदयम्। ननु स्नातः पुनरपि मलाविष्टो दृष्ट इति हस्तिस्नानन्यायनिराकरणार्थमाह, पुनः–एकदा विशुद्ध्यनन्तरं मूयोऽपि, मालिन्यम्–उक्तप्रकारेण कर्मादिमलसम्पर्कं मलसम्पर्कं च, न याति–न प्राप्नोति, सः–तादृश एकान्ताऽऽत्यन्तिकमल-सम्पर्करहितः, स्नानादिना हि मलाऽपगमो नैकान्तिको नवाऽऽत्य-न्तिकः, समतया त्वैकान्तिक आत्यन्तिकश्चेति भावः। अन्तरात्मा–देहावच्छिन्न आत्मा, देहीत्यर्थः। यदुक्तम्–"परमात्मा सिद्धि-प्राप्तौ बाह्यात्मा तु भवान्तरे। अन्तरात्मा भवेद्देहे इत्येष त्रिविधः शिव" इति। परः–सर्वोत्कर्षेण, शुचिः–पवित्रः, निर्मल इत्यर्थः। यः समतया कृत्वा कर्म तज्जन्यं चाऽऽसक्त्यादि च त्यजति, न च

पुनः कर्म बध्नाति, स पवित्रः । स एव शुचिताया उत्कर्षो यत्र पुनर्मालिन्यमिति भावः । च्युतौ तु हस्तिस्नानन्यायेन पुनर्मालिन्यमिति भावः । च्युतौ तु हस्तिस्नानन्यायेन पुनर्मालिन्यमेवेति यत्रा न ततश्च्युतिस्तथाप्रयतनीयमप्रमादिना । तदेवं विद्यया समता, तया चाऽऽत्मनो विशुद्धिरिति समदृष्टिः शुचिरिति निष्कर्षः । तदेवमात्मनः शुचित्वे समतैव विद्यासम्पन्नस्य साधनमिति सोपादेया मोहश्च त्याज्य इति ध्वन्यते । यदुक्तम्-" अनिच्छन् कर्मवैषम्यं ब्रह्मांशेन समं जगत् । आत्माऽभेदेन यः पश्येदसौ मोक्षं गमीश्वमी "ति बोध्यम् । प्राप्तसम्यक्त्वस्य नोत्कृष्ट स्थितिकः कर्मबन्ध इति तदेव तस्य शुचित्वमित्यपि कश्चित् । मलमिति श्लेषोन्नीतो यमा ॥ ५ ॥

तदेवं समतायाः शुचित्वप्रयोजकत्वादुपादेयत्वं सूचयित्वा तदभावे मोह एवाऽवशिष्यत इति मालिन्यप्रयोजकत्वान्मोहस्य हेयत्वमुक्ति चातुर्येण शिष्यं बोधयन्नाह—

आत्मबोधो नवः पाशो देहगेहधनादिषु ।
यः क्षिप्तोऽप्यात्मना तेषु स्वस्य बन्धाय जायते ॥ ६ ॥

आत्मबोध इति । देहगेहधनादिषु—देहे स्वशरीरे गेहे गृहे धने सुवर्णपश्वादौ, आदिना स्त्री पुत्र परिजनपरिच्छदौ चैवमेतेषु, आत्मबोधः—आत्मत्वप्रकारकोऽहं ममेत्येवंमतिः, विषयेषु मोह इति निष्कर्षः, अविद्येति यावत् । " अविद्याऽहम्मतिः स्त्रियामि " त्यमरः । नवः—इतरविलक्षणत्वाद्विस्मयकरः, पाशः—बन्धनरज्जुः,

तद्रूप इत्यर्थः। "पाशस्तु बन्धनग्रन्थिरि" ति हैमः। तस्य नवत्वमेव प्रकटयन्नाह—यः—यादृशः पाशः, आत्मना—स्वयमपि, तेषु—देहादिषु, क्षिप्तः—प्रेरितः, स्वस्य—क्षेप्तुरेव, बन्धाय—नियन्त्रणाय, आसक्तये इत्यर्थः। कर्मबन्धनायेति यावत्। जायते—कल्पते। अपिना स्वेन क्षिप्तपाशेन परस्य न तु स्वस्य बन्धः प्रसिद्ध इत्यतिविस्मयकरत्वं स्वक्षिप्तपाशेन स्वबन्धनस्य विरुद्धत्वं च ध्वन्यते। आत्मना हि कर्मविपाकवशादनादिवासनावशाच्च विषयेषु ममत्वाऽऽधाने तत्राऽऽसक्तिर्जायते तस्येत्यात्मा बध्यत इति कथ्यते, बद्ध इवाऽऽसक्तस्य तदधीनत्वात्। किञ्चाऽविद्या कर्मबन्धप्रयोजिकेत्यात्मा कर्मबद्धो भवति। ततश्च न ममत्वपाशेन केवलं स्वामित्वाऽनुषङ्गाद्विषयबन्धोऽपि तु तत्राऽऽसक्त्या कर्मवृद्ध्या च स्वस्याऽपीति परबन्धकृतः पाशादयं मोहरूपः पाशो विलक्षण इति नवोऽत एव चाऽवश्यहेयो यथा न स्वस्य बन्धो भवेदिति विद्यया समता साधनीया, यथा मोहाऽपोहः स्यादिति तात्पर्यम्। अत्र विरोधश्च बन्धस्याऽऽसक्तिपरतया परिहृत एवेति विरोधाऽऽभासाऽनुप्राणितः पाशादुपमानादुपमेयस्य मोहपाशस्याऽऽधिक्यवर्णनाद्व्यतिरेकाऽलङ्कारो बोध्यः॥ ६॥

नन्वेतावता देहादिभिन्न आत्मेत्यायातम्, तच्चाऽनुभवविरुद्धम्। लोके ह्यहं रुग्णो ममेदं शरीरमित्यादिना देहादौ स्वत्वस्यैवाऽनुभवाद्देहात्पृथगात्मनोऽनुभवाभावाच्चेति चेत्, एतद्विवेकग्रहायैव विद्योपयुज्यत इति शिष्यं प्रबोधयन्नाह—

मिथो युक्तपदार्थानामसङ्कमचमत्क्रिया ।
चिन्मात्रपरिणामेन विदुषैवाऽनुभूयते ॥ ७ ॥

मिथ इति । मिथोयुक्तपदार्थानाम्–मिथोऽन्योन्यं युक्ताः संश्लिष्टाः, अनुस्यूता इत्यर्थः । अविभागेन स्थिता इति यावत् । तादृशा ये पदार्थाः देहात्मादयस्तेषाम्, असङ्कमचमत्क्रिया–असङ्कमोऽसङ्कीर्णता, पार्थक्यमित्यर्थः । स्वलक्षणभेदाद्भिन्नतेति यावत् । तद्रूपा चमत्क्रिया चमत्कारः, चकितीकरणसाधनवैशिष्ट्यमिति यावत् । अविभागेन स्थितानां पार्थक्यं ज्ञात्वा जनाश्चकिता भवन्तीति तत्पार्थक्यं चमत्कार इति भावः । सा तादृशी चमत्क्रिया, विदुषा–उक्तप्रकारविद्यासम्पन्नेन, एवकारो भिन्नक्रमश्चिन्मात्रपरिणामेनेत्यनन्तरं बोध्यः । तथा च, चिन्मात्रपरिणामेनैव–चिदेव चिन्मात्रं शुद्धं ज्ञानम्, तद्वति तत्प्रकारकज्ञानमित्यर्थः, सम्यग्ज्ञानमिति यावत् । विवेक इति हृदयम् । तादृशेन परिणामेनाऽऽत्मपर्यायेणैव न तु प्रकारान्तरेण, अज्ञानेनैक्यस्यैव बोधादितिभावः । यद्वा चिन्मात्रपरिणामो विदुष एवेति तेन परिणामेन कृत्वा विदुषैव, अनुभूयते–ज्ञायते । आत्मदेहादिविवेको न ज्ञानं विनेति विद्या सर्वथा साधनीया । अन्यथाऽविवेक आत्मबन्धायैव स्यादिति विद्याया विवेकः फलमिति तात्पर्यम् ॥ ७ ॥

विद्याया अविद्यानाशपूर्वकमात्मसाक्षात्कारः फलमिति शिष्योपदेशार्थमुपसंहरन्नाह—

अविद्यातिमिरध्वंसे दृशा विद्याञ्जनस्पृशा ।
पश्यन्ति परमात्मानमात्मन्येव हि योगिनः ॥ ८ ॥

इति महामहोपाध्यायश्रीमद्यशोविजयोपाध्यायविरचिते ज्ञानसारे विद्याष्टकं नाम चतुर्दशमष्टकम् ॥ १४ ॥

अविद्येति । योगिनः–योगश्चित्तवृत्तिनिरोधस्तद्वन्तः, आत्मसाक्षात्काराय प्रयतमाना इत्यर्थः । यद्वा योगः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि, " इति ते योगमाहात्म्यं कथं श्रद्धीयतां परैरि " त्यत्र " इत्येष योगसाम्राज्यमहिमा विश्वविश्रुत " इत्यत्र च योगपदस्य तथार्थपरत्वदर्शनादिति बोध्यम् । सोऽस्त्येषामिति ते तद्दृशाः सम्यग्दर्शनादिरूपरत्नत्रयमण्डिता इत्यर्थः । अन्यादृशस्याऽऽत्मसाक्षात्काराऽनधिकारादिति बोध्यम् । अविद्यातिमिरध्वंसे–अविद्याऽनित्याऽशुच्यनात्मसु नित्यशुच्यात्मताख्यातिस्तदेव वस्तु याथात्म्य परिच्छेदपरिपन्थित्वात्तिमिरमन्धकार इव तस्य ध्वंसे नाशे सति, " अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तं तमिस्रं तिमिरं तम " इत्यमरः । विद्याञ्जनस्पृशा–विद्योक्ततत्त्वधीरेव दृष्टिविशुद्धिसाधनत्वादञ्जनमिव तत्स्पृशति सम्बध्नातीति सा तया, विद्यानुगतयेत्यर्थः, तादृश्या, दृशा–ज्ञाननेत्रेण कृत्वा, शुद्धज्ञानेनेति समुदित सारार्थः । आत्मनि–स्वस्मिन्नेव तादृशज्ञानादिमत्यन्तरात्मनि, न त्वन्यत्रेवेवकारार्थः । हि–सुकरतया, परमात्मानम्–शुद्धसच्चिदानन्द स्वरूपमात्मानम्, तदेव ह्यात्मनः परमत्वं यच्छुद्धसच्चिदानन्दमयत्वमिति भावः । पश्यन्ति–जानन्ति । दृश्यर्था ज्ञानार्था इति बोध्यम् । अञ्जनेन हि दृशो दोषाऽपगमाद्विमलीकाराच्च वस्तुनः स्पष्टतया परिच्छेद इति प्रसिद्धम् । तथाऽविद्यानाशे विद्यासंस्कृतेन ज्ञानेन शुद्धात्मसाक्षात्कार इति परमार्थः । यद्वाविद्याञ्जनस्पृशा दृशा तादृशा-

ज्ञानप्रभावादेवाऽविद्यातिमिरध्वंसे सति परमात्मानं पश्यन्तीत्यन्वयः। अत्र च पक्षे तिमिरं तदाख्यो नेत्र रोगो बोध्यः। तथा चाऽज्ञानेन नेत्रतिमिरनाशात्पदार्थ परिच्छेद् इति विद्यादृशाऽविद्यानाशस्तत्पूर्वकः परमात्मसाक्षात्कारश्चेति विद्यायाः कार्यद्वयम्—अविद्या नाश आत्मसाक्षात्कारश्च। अयमेव च पक्षः समुचितः प्रतिभाति। अविद्यातिमिरध्वंसे विद्याज्ञानमन्तरेण साधनान्तरविरहादिति बोध्यम्। आत्मा चोपाधिभेदात्त्रिधोच्यते। तत्र च मिथ्यादृष्टि बाह्यविषयाऽनुषक्तत्वाद्बाह्यात्मेति व्याख्यातारः, प्राप्ते सम्यक्त्वे स्वगुणाऽभिमुखत्वादन्तर्मुखप्रवृत्तिक इत्यन्तरात्मा, शुद्धसच्चिदानन्दमयश्च सर्वोपाधिरहितत्वात्स्वस्वरूपमात्राऽवस्थानात्परमात्मेति च व्याख्यातारः। भवान्तरे वर्त्तमानो ह्यात्मा बह्यात्मेति कलिकाल सर्वज्ञः। भवान्तर इति च भवयोरन्तरमृजु विग्रहगति दशेति बोध्यम्। तथा देहस्थ आत्माऽन्तरात्मा, सिद्धिप्राप्तश्च परमात्मेत्यपि स एव। यदुक्तम्—"परमात्मा सिद्धि प्राप्तौ बाह्यात्मा तु भवान्तरे। अन्तरात्मा भवेद्देह इत्येष त्रिविधः शिव" इति। तत्र मिथ्यात्वेऽपगते सम्यक्त्वेऽधिगते च गुणवृद्ध्या शुद्धात्मसाक्षात्कार इति विद्या सर्वोपायेन साधनीया, यथायोगलाभक्रमेणाऽऽत्मसाक्षात्कारः स्यादिति हृदयम् ॥ ८ ॥

इति श्रीज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृकविरत्न-पन्न्यासप्रवर-श्रीयशोभद्रविजयजीगणिवरशिष्यपन्न्यासश्रीशुभङ्करविजयगणिविरचितायां भद्रङ्करोदयाख्यायां व्याख्यायां विद्याऽष्टक नाम चतुर्दशमष्टकम् ॥ १४ ॥

## अथ विवेकाऽष्टकम् ॥ १५ ॥

यदुक्तं " तत्त्वधीर्विद्ये "ति । साद्यात्मदेहादीनां विवेकेन ग्रहाऽनन्तरभाविनीति विवेक एव मूलं तादृशविद्याया इति शिष्यस्य तादृशविवेकरुचि र्यथा स्यादिति विवेकनिर्वचनगर्भं विवेकिनं वर्णयन्नाह—

कर्म जीवं च संश्लिष्टं सर्वदा नीरक्षीरवत् ।
विभिन्नीकुरुते योऽसौ मुनिहंसो विवेकवान् ॥ १ ॥

कर्मेति । नीरक्षीरवत्–नीरं पानीयं क्षीरं दुग्धं तयोः समाहारो नीरक्षीरं तद्वत्, संश्लिष्टम्–मिश्रितम्, सम्बद्धमन्योन्याऽनुगतं वा । सर्वप्रदेशसंयोगेन तादात्म्यमापन्नमिवाऽन्योन्यमभिव्याप्तमिति यावत् । कर्म–विहितनिषिद्धकर्मजन्यपुण्यपापाख्यशुभाशुभात्मकं ज्ञानावरणाद्यष्टभेदं कर्मेति प्रसिद्धम्, उपलक्षणत्वात्कर्ममूलकौदारिकादिशेष शरीरपरिग्रहः । जीवम्–ज्ञानादि मयं धर्माऽधर्माऽऽकाशपुद्गलभिन्नद्रव्यं जीवेति ख्यातम्, चेतनमित्यर्थः । चः–समुच्चये । यः–यादृशो मुनिहंसः, विभिन्नीकुरुते–कर्म जीवौ परस्परं जाड्यचैतन्यात्मकविभिन्नलक्षणत्वाद्भिन्नावित्येवं विवेकेन पृथक्कृत्याऽवधारयति, असौ–तादृशभेदकर्त्ता, कर्मजीवयोर्भेदेनाऽवधारयितेत्यर्थः । मुनिहंसः–मुनि र्नीरक्षीरवत्कर्मजीवभेदपटुत्वात्साधर्म्याद् हंसः स्वनामख्याश्वेतगरुत्पक्षिविशेष इवेति सा तादृशः, अथवा मुनिश्चाऽसावुक्तवैशिष्ट्यात्पक्षिषु हंस इव गुणाधिकत्वाद् हंसः, स तादृशः, मुनि श्रेष्ठ इत्यर्थः । " हंसास्तु श्वेतगरुत " इत्यमरः । विवेकवान्—

विवेको वास्तवमेदज्ञानम्, तद्वान्। प्रशस्तभूमविवेकसम्पन्न इत्यर्थः। मुनेर्हंस एव देहात्मानौ मेदेनाऽवधारयितुं प्रभवतीति तादृश-मेदाऽवधारणक्षम एव विवेकवान्। अन्यथा तु हंसोऽपि किं न विवेकवान् स्यात्!। तस्मात्कर्मजीवविवेकवानेव विवेकवानिति भावः। यद्वा—नीरक्षीरवत्सर्वावयवव्याप्त्या संश्लिष्टं कर्म जीवं च यो विभिन्नीकुरुते-उत्कर्षश्लेषनाशनेन कृत्वा विभक्तं करोति, आत्म-प्रदेशेभ्यो रत्नत्रयाराधनादिना कर्माणि परिशाटयति—निर्जरयति—विनाशयतीति यावत्। स तादृशो मुनिर्हंसो विवेकवान्—प्रशस्त-भूमविवेकः। कर्म जीवौ भिन्नाविति ज्ञानमात्रं न पर्याप्तं विवेकि-त्वेऽपि तु मेदमूलो व्यवहारोऽपि। तथैव हि मुनिर्हंसवच्छ्रेष्ठो निर्मलश्च स्यादिति क्रियापोषित तादृशविवेकवानेव प्रशस्तविवेकः, स एव च मुनिहंसो मुनिहंस एव च तादृशगुणपात्रमिति विवेकवत्त्व मुनिश्रेष्ठत्वयोरैक्यमिति विवेकिवर्णनेन विवेकस्य स्वरूपं माहात्म्यं चोपवर्णितम्। एतेनाऽऽदौ तावद्विवेकिना भाव्यं ततो विद्ययाऽऽत्म-ज्ञेनेति विवेकः सर्वश्रेयोमूलमिति ध्वन्यते। अत्रोपमा स्फुटैव ॥ १ ॥

ननु यदि विवेक ईदृङ्महिमा, तर्हि किमिति सर्व एव तं न साधयतीति शिष्यक्षङ्कां तस्याऽतिदुर्लभत्वोपवर्णनेन निराकुर्वन्नाह, यद्वा—ननु देहात्मविवेकः सर्वस्यैवेति सर्व एव विवेकवान् विद्वाना-त्मज्ञश्च कथं न भवतीति शिष्य शङ्कायां वस्तुस्थितिमाह—

देहात्माद्यविवेकोऽयं सर्वदा सुलभो भवे।
भवकोट्याऽपि तद्भेदविवेकस्त्वतिदुर्लभः ॥ २ ॥

देहात्मेति । अयम्–विवेकप्रस्तावाद्विरोधसम्बन्धेनोपस्थितः, देहात्माद्यविवेकः–देहः कार्मणादिशरीरपञ्चकम्, तत्राऽऽत्मनः, आदिना दाराऽगारादौ ममत्वस्य चाऽविवेको भेदाऽग्रहोऽतस्मिंस्तद्बुद्धिश्च । देहेऽहमित्येवं दारादौ च ममेत्येवमविवेक इत्यर्थः । भवे–जन्मनि, संसारे इत्यर्थः । सर्वदा–सर्वस्मिन् काले, सर्वत्र भवे सर्वस्मिन् काले चेत्यर्थः । यदि ह्येकस्मिन्नेव भवे स्यात्सर्वस्मिन् काले न स्यात् । कालान्तरे भवाऽन्तरस्याऽपि भावात्तत्राऽपि च तादृशाऽविवेकसत्त्वाच्चेति बोध्यम् । सुलभः–विना प्रयत्नं लभ्यः । देहात्माद्यविवेकस्याऽनादिकालप्रवृत्तत्वात्, तथैव श्रवणादभ्यासादनुभवाच्चात्मनस्तद्वासनाया दृढं वासितत्वादिति बोध्यम् । न च विवेकस्तथेत्याह–भवकोट्येति । तु विशेषे भेदे च । तदाह–तद्भेदविवेकः–तेषां देहात्मादीनां भेदस्य जाड्यचैतन्यात्मकलक्षणभेदादनैक्यस्य विवेकः क्रियापोषितो ग्रहः । यद्यपि विवेको भेदग्रह एवेति भेदपदमधिकं प्रतिभाति, तथाऽपि विशिष्टवाचकपदस्य विशेषणवाचकपदसमवधाने विशेष्यमात्रपरत्वात्समाधानीयम् । भवकोट्या–भवानां जन्मनां कोटिः कोटिसङ्ख्या तया, कोटिभवेनाऽपीत्यर्थः । अपिना कोटिभवस्याऽतिसुदीर्घकालत्वं गुरुतरकार्येऽपि पर्याप्तत्वं च ध्वन्यते । अतिदुर्लभः–त्रयस्याऽपि लब्धुं दुष्करः । अविवेकस्य सुलभत्वाद् दृढबद्धमूलत्वाद्दुरुच्छेद्यत्वात्तादृशविवेकप्राप्त्युपयोगिश्रवणादेरपि दौर्लभ्याच्च । तदेव हि दौर्लभ्येऽतिशयो यल्लभ्यस्याऽतिसुदीर्घकाललभ्यताऽतिमहाप्रयाससाध्यता च । एवञ्च कतिपयेषु भवेषु प्रयाससाध्यत्वे

दुर्लभता, कोटिभवेष्वपि दौर्लभ्यं चाऽतिदौर्लभ्यमिति ध्येयम्। नहि विना सम्यक्त्वं विवेकसम्भवः, सम्यक्त्वलाभश्चाऽर्धपुद्गलपरावर्त्तान्यूने भवेऽवशिष्ट एवेति स विवेको भवकोट्याऽप्यति दुर्लभ इत्यतो न सर्वस्तं साधयितुं प्रभवतीति न सर्वो विवेकी भवतीत्याशयः ॥ २ ॥

ननु देहात्मविवेकेऽपि न रागादिनिवृत्तिसम्भवः, दारागारादिष्वात्मभिन्नेष्वपि साऽतिशयरागादिदर्शनादिति शिष्यतर्कं समाधित्सुराह—

शुद्धेऽपि व्योम्नि तिमिराद् रेखाभिर्मिश्रता यथा।
विकारैर्मिश्रता भाति तथाऽऽत्मन्यविवेकतः ॥ ३ ॥

शुद्धेऽपीति। शुद्धे-स्वस्वभावमात्रस्थत्वादमिश्रे, आकाशपक्षे च—अमूर्त्तत्वाद्वर्णादिलेपाऽयोग्यत्वान्निर्लेपकेऽपीत्यर्थः। अपिना शुद्धत्वमिश्रत्वयोर्विरोधो द्योत्यते। व्योम्नि—आकाशे, तिमिराद्—तिमिराख्यनेत्ररोगविशेषात्, तदपेक्ष्येत्यर्थः। तन्निमित्तमिति यावत्। तस्मिन् सतीति हृदयम्। रेखाभिः—विविधवर्णाभिर्विविधाभी रेखाभिः सह, बहुवचनं व्याप्त्यर्थम्। मिश्रता—मिश्रणम्, तादात्म्यमित्यर्थः। आकाशस्य विविधवर्णरेखातादात्म्याद्विविधवर्णत्वमिति यावत्। चित्रत्वमिति सारार्थः। यथा—यदिव, भाति—प्रतिभासते, तिमिररोगहेतुको व्योम्नि विविधरेखावत्त्वभ्रम इति तिमिराऽपगमे तथाभानाऽभावोऽपि, वस्तुतः आकाशस्य शुद्धत्वात्तत्र रेखाद्यसम्भवादयोग्यत्वादिति तात्पर्यम्। तथा—तदिव, आत्मनि—

स्वचेतने, शुद्धेऽपीतीहाऽनुषज्यते । निश्चय नयमते शुद्धसच्चिदानन्दमयत्वेन विकाररहितत्वेनाऽविकृतेऽपीत्यर्थः । अविवेकतः—देहाऽऽत्माभेदग्रहाऽज्ञानतः, तदपेक्ष्येत्यर्थः । तन्निमित्तमिति यावत् । तस्मिन् सतीति हृदयम् । विकारैः—कर्मप्रेरितविषयविकल्पैरात्मनः शुद्धत्वाऽऽवरणादूषणाद्विकारपदवाच्यै रागादिभिः, मिश्रता—मिश्रणम्, तादात्म्यमित्यर्थः । आत्मनो रागादिमत्त्वमिति यावत् । विकृतत्वमिति सारार्थः । भातीति सम्बध्यते । आत्मा स्वभावतः शुद्ध एव, किन्त्वविवेकतस्तत्र रागादिप्रादुर्भावः । देहात्मविवेके तु यथा देहे न तस्य रागस्तथाऽन्यत्राऽपीति दारागारादिष्वपि रागादेरविवेक एव मूलम् । तदभावे च सर्वविधरागाद्यभाव इत्यविवेक एव सर्वाऽनर्थमूलमिति विवेकार्थमप्रमादिना श्रेयोऽर्थिना प्रयतनीयमेवेति तात्पर्यम् । अत्रैकं मिश्रतापदमधिकम्, एकेनाऽपि मिश्रतापदेनाऽन्वयवशादिष्टार्थलाभसम्भवादिति ध्येयम् ॥ ३ ॥

ननु देहात्मनोरैक्यमेव । कथमन्यथा देहे स्वस्थे सुखीति तदस्वास्थ्ये च दुःखीत्यात्मसामानाधिकरण्येन प्रत्ययः स्यात् । न च तत्राऽऽत्मा निमित्तमित्यतस्तथाप्रत्ययः, तत्र कर्मणो निमित्तत्वात्, आत्मनः शुद्धत्वेन निर्व्यापारत्वादिति शिष्यशङ्कां निराकुर्वन्नाह—

यथा योधैः कृतं युद्धं स्वामिन्येवोपचर्यते ।
शुद्धात्मन्यविवेकेन कर्मस्कन्धोर्जितं तथा ॥ ४ ॥

यथेति । यथा—यद्वत्, योधैः—भटैः, "योद्धारस्तु भटा योधा" इति हैमः । कृतम्—विहितम्, सम्पादितमित्यर्थः । आर-

त्य समापितमारब्धं वा । युद्धम्—सङ्ग्रामः, स्वामिनि—वेतनादिदानादिना प्रभौ नृगादिरूपे एव, नत्वन्यत्र योधादौ, उपचर्यते—आरोप्यते । योधान् हि स्वाम्येव वेतनादिदानादिना युद्धाय प्रेरयतीति स्वामिनिमित्तत्वात्सम्बन्धादतस्मिंस्तथा व्यवह्रियते । निश्चयनयेन तु युद्धानुकूलव्यापाराश्रयस्य योधस्यैव तत्कर्तृत्वं न तु स्वामिन इतीदृशविवेकाऽभावादेव तथाव्यवहारः । तथा—तद्वत्, कर्मस्कन्धोर्जितम्—कर्मस्कन्धैर्भटस्थानीयैर्बद्धैः कर्मवर्गणात्मकैः शुभाशुभाख्यैः, कर्मपुञ्जैः कृत्वेत्यर्थः । ऊर्जितमुदीरितमुद्भावितं वा, कर्मस्कन्धैर्निमित्तभूतैर्जनितं सुखदुःखादिकमिति यावत् । अविवेकेन—देहात्मभेदाऽग्रहात्मकेनाऽज्ञानेन हेतुना, शुद्धात्मनि—साक्षात्सुखदुःखाद्यनिमित्तत्वेऽप्यासन्नवादिना कर्मबन्धकर्तृत्वात्स्वामिस्थानीये सुखदुःखादिनिमित्तत्वरूपदोषशून्यत्वान्निर्दोषेऽप्यात्मनि विषये, उपचर्यत इति सम्बध्यते । आत्मैव सुखीत्याद्ययथार्थो बोधो जायते इत्यर्थः । तादृशज्ञाने चाऽविवेको हेतुः । विवेके सति तु न तथा बोध इति यावदविवेकस्तावत्तथाबोधोऽपि दुर्निवारः, अविवेकाऽपगमे च कारणाऽभावात्कार्यस्याऽप्यभाव इति न ज्ञानिनो लौकिकं सुखं दुखं वेति भावः । यदुक्तम्—" अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम् । विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवाऽत्र पञ्चमम् ॥ १ ॥ शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः । न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥२॥ तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः । पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिरि"ति ॥४॥

ननु वस्तुतो देहात्मनोर्भेदे तत्राऽभेदो दुर्ग्रह इति शिष्यशङ्कां

बिभित्सुराह—

इष्टकाद्यपि हि स्वर्णं पीतोन्मतो यथेक्षते ।
आत्माऽभेदभ्रमस्तद्वदात्मादाविविवेकिनः ॥ ५ ॥

इष्टकाद्यपीति । यथा—येन प्रकारेण, पीतोन्मत्तः—पूर्वं पीतः कृतसुरादिपानः पश्चादुन्मत्तो मदमुपगतः स तादृशः । मदिरादिपानाद्धयुन्मत्तताऽज्ञानिनः प्रसिद्धैव, न च ज्ञानी पानशौण्ड इति व्यक्तमेव । यद्वा—पीत उन्मत्तो धत्तूरो येन स तादृशः, उन्मत्त उन्मादवति धत्तूरमुचुकुन्दयोरि "ति विश्वः । मदेनलुप्तस्वर्णेष्टकविवेक इत्युभयत्राऽपि निष्कर्षः । इष्टकाद्यपि—इष्टका पीतवर्णा मृत्पिण्डश्चितादौ पक्वश्चतुरस्रः, आदिना तादृश पीतवर्णा उपलादयः । तदपि—असुवर्णमपीति हृदयम् स्वर्णम्-स्वर्णरूपम्, सुवर्णत्वेनेत्यर्थः । ईक्षते—भ्रान्त्या चक्षुषविषयं करोति । तत्र निमित्तं च पीतवर्णतादिकं सामान्यम् । अपिनेष्टकादौ स्वर्णवैलक्षण्याऽतिशयो द्योत्यते । हिरिति प्रसिद्धौ, अतस्मिंस्तज्ज्ञानरूपो भ्रमः प्रसिद्ध इत्यर्थः । तद्वत्—तथा, अविवेकिनः—वस्तुयाथात्म्यज्ञानं विवेकः तच्छून्यस्येत्यर्थः । देहात्मविवेकविकलस्येति हृदयम् । देहादौ—शरीरपरिवारादौ, आत्माऽभेदभ्रमः—आत्मा स्वः स्वकीयश्चतस्याऽऽत्मनो जीवस्य देहादिना योऽभेदस्तादात्म्य तद्भ्रमः, अहन्तामम-त्वमानमिति यावत् । यस्य हि न देहादियाथात्म्यज्ञानं तस्य भेदग्राहकसामग्र्यभावादहं सुखीत्यादि व्यवहारादभेदग्रहसामग्रीसत्त्वाच्च देहात्मनोरभेदभासो भ्रम एव । तयोर्वस्तुतो भेदात् । जनानां हि विवेकाऽभावे भ्रम उत्सर्गः । अत एवेष्टकादौ स्वर्णादिभ्रमस्य

प्रसिद्धत्वादेहात्मनोरभेदभ्रमो न पर्यनुयोगर्हतीति भावः। एवञ्च तथाप्रयतनीयं यथा तादृशभ्रमो निवर्त्तत इति हृदयम् ॥५॥

शिष्यजिज्ञासां कलयन् विवेकस्याऽपायोपायावाह—

इच्छन्नपरमान् भावान् विवेकाद्रेः पतत्यधः।
परमं भावमन्विच्छन्नाऽविवेके निमज्जति ॥ ६ ॥

इच्छन्निति। न परमान्—न परमा उत्तमाः, उपादेयास्तानित्यर्थः। न शब्देन समासः। यद्वाऽपरमानितिच्छेदः, अर्थस्तु तुल्य एव। उभयथा हि नकारद्वयश्रुतिसम्भवादिति ध्येयम्। अनित्यत्वाऽशुभानुबन्धित्वादिना हेयानित्यर्थः। भावान्—देहधनादीन् पदार्थान्, इच्छन्—अभिलष्यन् जनः, कामनापरवश इति सारः। देहधनादिबहुमान्यज्ञानीति हृदयम्। विवेकाऽद्रेः—विवेको वस्तुयाथात्म्याऽवबोध एवाऽद्रिरिव दुरारोहत्वाद्दुरधिगमत्वादद्रिस्ततः। अधः—नीचैः, विवेकाद्रेस्तले, वस्तुयाथात्म्याऽनवबोधात्मकस्थितौ, देहात्माद्यभेदभ्रम इति सारः। पतति—गच्छति, अविवेकेन पराभूयते इति निष्कर्षः। यद्यपि पतनमधोगमनमेव, तथाप्यत्र पतितिर्गतिमात्राऽर्थो विशेषगवाचकपदसान्निध्यादिति बोध्यम्। रागादिलिप्तो विवेकाद्भ्रश्यतीति भावः। विवेकिनोऽपि रागादिवशात्पतनमिति रागादिकं विवेकिनोऽपायस्थानमिति भावः। यथा—अपराऽद्रिशिखराऽपेक्षया विलक्षणाऽन्यादृश्यपकृष्टा वा मा शोभा येषां ते तादृशास्तान् भावान्, अद्रितलस्थोपवनलतादीनिति यावत्।

इच्छन्–उपबुभुक्षुर्जनोऽद्रेरधः पतत्यागच्छति, अन्यथा तदनुपलब्धेरिति प्रकटम्। अथवाऽनात्मनीयत्वाद्देहधनादिकानपारमार्थिकान् भावानभिलाषुको रागादिमान् जनो विवेकाद्रिमारोढुं कृतोद्यमोऽपि नोर्ध्वं विवेकं सन्मार्गज्ञानादिसाधनं विना दुर्गविगममद्रिमधिरोहति, प्रत्युताऽध एव पतति। सम्यक्त्वादिना रागादिनिग्रहेणैव विवेकाऽद्रिरोह सम्भवादिति विवेकलाभार्थं रागादि हेयः सम्यक्त्वञ्चाऽऽध्यमिति तात्पर्यम्। तदाह–परमम् नित्यत्वाऽनन्तत्वाऽऽत्मीयत्वादिना पारमार्थिकम्, उपादेयमित्यर्थः। भावम्–परिणामम्, सच्चिदानन्दात्मकाऽऽत्मस्वभावमिति यावत्। मुक्तिमिति हृदयम्। अन्विच्छन्–सञ्जिघृक्षुः, परभावलाभार्थं विहितोद्यम इति तात्पर्यम्। अविवेके–देहात्मादियाथात्म्याऽनवबोधाऽऽत्मकेऽज्ञाने विविधाऽपायाश्रयगहनगर्त्तरूपे इति निमज्जतीति क्रियास्वारस्याद्गम्यते। न–नैव, निमज्जति–ब्रुडति, नाऽविवेकेन पराभूयत इत्यर्थः। अविवेकं नाऽऽप्नोति, सन्तं च त्यजति। परमभावसाधनस्याविवेकाऽपाकृतिप्रयोजकत्वादविवेकसत्त्वे परमभावलाभाऽसम्भवाश्चेति भावः। परममद्रिशिखरस्थत्वादुत्तमं भावमन्विच्छन् हि सञ्चिततादृशसामग्रीसमग्रोऽद्रिमारोहति, न च ततोऽपरोहति, तथा सति परमभावाऽलाभादिति तात्पर्यम्। श्लेष सङ्कीर्णं रूपकमत्राऽलङ्कारः ॥ ६ ॥

ननु परमं भावमिच्छतोऽपि शरीररक्षाद्यर्थमपरमभावेच्छाऽशक्यपरिहारेति तन्मूलोऽविवेको लेशतोऽपि दुर्निवार इति शिष्य विप्रतिपत्तिं निराचिकीर्षुराह—

आत्मन्येवाऽऽत्मनः कुर्याद्यः षट्कारकसङ्गतिम् ।
क्वाऽविवेकज्वरस्याऽस्य वैषम्यं जडमज्जनात् ॥ ७ ॥

आत्मनीति । यः–यादृशः सम्यक्त्वसम्पन्नो जनः, आत्मनि–स्वस्मिन् जीव एव, एव कारेण देहादिव्यवच्छेदः । आत्मनः–गुणगुणिनोरभेदादात्माऽभिन्नस्य ज्ञानस्येत्यर्थः । अस्य च षट्कारकेत्यनेनाऽन्वयः । न च वृत्तस्य विशेषणयोगो नेत्युद्भावनीयम् । नित्यसापेक्षत्वाद् देवदत्तस्य गुरुकुलमित्यादिवदेवाऽन्वयस्य निरवद्यत्वात् । स्वस्येति तु नार्थः, क्रियाया हि कारकं न त्वात्मनो द्रव्यस्य । न चाऽऽत्मसम्बन्धीत्यर्थः, आत्मनि षट्कारकसङ्गतिमित्येतावतैवेष्टार्थलाभे आत्मन इत्यस्याऽधिक्यापत्तेरिति ध्येयम् । षट्कारकसङ्गतिम्–षट् षट्त्वसङ्ख्याविशिष्टानि यानि कारकाणि ज्ञानक्रियासाधनानि कर्तृकर्मकरणसम्प्रदानाऽपादानाऽधिकरणानि, तेषां सङ्गतिं घटनां योग्यतया योजनां वा, कुर्याद्–विदधीत । तच्चेत्थम्–आत्मा देहादिविशिष्टः कर्त्ता शुद्धसच्चिदानन्दमयमात्मानं कर्म गुणगुणिनोरभेदात्सम्यग्ज्ञानेनाऽऽत्मना करणेन कृत्वा मुक्तमात्मानमुद्दिश्य ज्ञानपञ्चकाऽभिन्नत्वात्पूर्वत आत्मनो मत्यादिज्ञानात्पर पर ज्ञानमये आत्मन्येव जानातीत्येवमात्मैव ज्ञानस्य षट्कारकाणि । य आत्ममग्न इति निष्कर्षः । अस्य–ईदृशस्याऽऽत्मनि षट्कारकसङ्गतिं कुर्वाणस्य जनस्य साधोः, जडमज्जनात्–जडा अचेतनाः, पुङ्गला इत्यर्थः । डलयोरैक्याज्जलानि च, तत्र मज्जनान्मग्नतायाश्च हेतोः, अविवेकज्वरस्य–अविवेकस्य देहादिष्वहन्त्वममत्वादे र्ज्वरवद्भवतापाऽऽधिक्यहेतुत्वात्तद्रूपस्य ज्वरस्य, ज्वरस्य

च स्वनामख्यातस्य रोगविशेषस्य, वैषम्यम्-अनर्थप्रयोजकत्व-मसाध्यत्वं प्रकोपो वृद्धिर्वा, क्व ?-काक्वा न क्वाऽपीत्यर्थः। ज्वरार्त्तस्य हि स्नानं ज्वरवैषम्याय जायत इति भिषजः। यस्तु चिकित्साशास्त्रोक्तप्रस्वेदवस्तिविरेचनादिषट्कायशोधककारकाणि सेवते, तस्य स्नानादिना न विषमज्वरादिसम्भवः। तथाऽऽत्म-मग्नस्योक्तरीत्या स्वस्मिन् षट्कारकसङ्गतिमादधानस्य शरीररक्षाद्य-र्थपुङ्गलसम्पर्को नाऽविवेकायेति सारार्थः। अत्र श्लेषाऽनुप्राणित-परम्परित रूपकाऽलङ्कारः ॥ ७ ॥

अथ शिष्य प्रवृत्तये विवेकस्य फलं सूचयन्नुपसंहरति—

संयमाऽस्त्रं विवेकेन शाणेनोत्तेजितं मुनेः।
धृति धारोल्बणं कर्मशत्रुच्छेदक्षमं भवेत् ॥ ८ ॥

इति महोपाध्याय श्रीयशोविजयोपाध्यायविरचिते ज्ञानसारे विवेकाऽष्टकं नाम पञ्चदशमष्टकम् ॥ १५ ॥

संयमाऽस्त्रमिति। मुनेः-सम्यक्त्ववतः साधोः, "सम्यक्त्वमेव तन्मौनं मौनं सम्यक्त्वमेव वे" त्युक्ते रिति बोध्यम्। संयमाऽस्त्रम्-संयमश्चारित्रमेव कर्मच्छेदसाधनत्वादस्त्रमायुधमिव, तत्, संयम-रूपमस्त्रमिति वा। विवेकेन-देहात्मभेदज्ञानेन, तद्रूपेणेत्यर्थः। शाणेन-शस्त्रादिनिशानकषोपलेन, "शाणस्तु निकषः कष" इति हैमः। उत्तेजितम्-तीक्ष्णीकृतम्, साध्यसाधनक्षमं कृतमिति संस्कृतमुत्कर्षमापादितं च। एतेन च्छेदयोग्यता समर्थिता। तीक्ष्णं हि च्छेदयोग्यं न तु मन्दमिति बोध्यम्। तथा, धृतिधारोल्बणम्-

धृतिः सन्तोषः, " धृतिः सन्तोषः स्वास्थ्यं स्यादि "ति हैमः । सैव धारा नेमिस्तयोल्बणं व्यक्तम्, सम्यक्परिलक्ष्यमाणं भास्वरं प्रकटं चेत्यर्थः । शाणेनोत्तेजिता हि शस्त्रस्य धारा सती स्पष्ट लक्ष्या भवति । संयमोऽपि च विवेकसंस्कृतो धृत्या प्रकाशते इति बोध्यम् । तादृशं सत् । " धारा प्रधिः पुनः । नेमिरि " ति " प्रकाशः प्रकटोल्बणो व्यक्तमि "ति च हैमः । कर्मशत्रुच्छेद-क्षमम्–कर्माणि शुभाऽशुभानि ज्ञानावरणादीनि, तानि नानाविध जन्मजराद्यनिष्टापादकत्वाच्छत्रवस्तेषां छेदे नाशे क्षमं समर्थम्, भवेत्–स्यात् । अस्त्रं हि निशातं प्रकटधारं शत्रुच्छेदक्षमम्, तथा संयमोऽपि विवेकसंस्कृतो धृत्योत्कर्षमाप्तः कर्मच्छेदक्षमः । विवे-काऽभावे तु मन्दधाराऽस्त्रवदेव सन्नपि न कर्मच्छेदक्षम इति विवेकः परम्परया कर्मच्छेदायेति सोऽत्रेयं साध्य इति भावः । परम्परित-रूपकाऽलङ्कारः ॥ ८ ॥

इति ज्ञानसारे प्रख्यानव्याख्यातृकविरत्नपन्यासप्रवर श्रीयशो-भद्रविजयगणिवरशिष्यपन्यासश्रीशुभङ्करविजयगणिविरचितायां भद्र-ङ्करोदयाख्यायां व्याख्यायां विवेकाऽष्टकं नाम पञ्चदशमष्टकम् ॥१५॥

---

## ॥ मध्यस्थाऽष्टकम् ॥

ननु देहाऽऽत्मवादिनां देहाऽऽत्माऽभेदबोध एव विवेको-ऽन्येषां चाऽन्यादृश इति विवेको दुर्वचो दुर्लभश्चेति व्यामूढमनसं शिष्यमुपलक्ष्य विवेक प्राप्तये माध्यस्थ्यं द्वारमिति तदुपदिदिक्षु-

मध्यस्थाऽष्टकमाह—

स्थीयतामनुपालम्भं मध्यस्थेनाऽन्तरात्मना ।
कुतर्ककर्करक्षेपैस्त्यज्यतां बालचापलम् ॥ १ ॥

स्थीयतामित्यादि। अन्तरात्मना—अन्तःकरणेन, मध्यस्थेन—मध्ये पक्षप्रतिपक्षयोरभ्यन्तर एवोभयोः कक्षाऽप्यनाग्रहात्परमार्थतो वस्तुतत्त्वग्रहमात्रकृतादरस्तिष्ठतीति स तादृशो मध्यस्थो वक्ष्यमाणलक्षणो नयेषु समशीलो रागद्वेषहीनः, तेन तादृशेन कृत्वा, अनुपालम्भम्—न उपालम्भोऽपवादो यथा स्यात्तथेति स्थिति क्रियाविशेषणमेतत्। स्थीयताम्—आस्यताम्। यो ह्यन्तःकरणेन मध्यस्थो भवति न तु बहिः प्रदर्शनमात्रेण, तस्यैव पारमार्थिकवस्तुतत्त्वग्रहरूपविवेकोदय इति न तस्य कुतोऽप्यपवादसम्भवः, पक्षपातिन एव तदवसरात्। तथा च मध्यस्थमनसो विवेक एवोपालम्भाऽविषयत्वाद्विवेक इति भावः यद्वा—अन्तरात्मना—देहिना, यदुक्तम्—"परमात्मा सिद्धि प्राप्तौ बाह्यात्मा तु भवान्तरे। अन्तरात्मा भवेद्देह इत्येष त्रिविधः शिव" इति। मध्यस्थेन सताऽनुपालम्भं स्थीयतामित्यर्थः। यो हि जीवो मध्यस्थो भवति सोऽनुपालम्भं तिष्ठति। अत एव तस्यैव विवेकः सर्वमान्यो भवति, आग्रहपरिहारपूर्वकवस्तुतत्त्वनिर्णयादिति भावः। जल्पवितण्डे परिहृत्य वादेन स्थेयम्। तथा सति च यादृशं वस्तुस्वरूपं निर्णीयते, तद्बोध एव विवेक इति न विवेको दुर्वचो दुर्लभश्चेति हृदयम्। उपादेयमुपदिश्य हेयमुपदिशन्नाह—कुतर्ककर्करक्षेपै—कुत्सिता

हेत्वाभासादिदोषदुष्टतया हेयप्रकारा ये तर्का युक्तय ऊहा वा, त एव वस्तुतत्त्वाऽन्वेषणार्थं सद्युक्तिमार्गगामिणामरुन्तुदतया गतिविघ्नकारितया च कर्कराः पान्थानां पद्याः शर्करा इव, तत्क्षेपैः प्रक्षेपैरुपन्यासैश्च कृत्वा, यद्, बालचापलम्-बालकृताऽसमीक्षितप्रवृत्तिः, तत् तदिवेत्यर्थ। बालस्य चापलमिव चापलवेति यावत्। यथा हि मार्गं गच्छति पान्थे दुर्विनीतो बालः स्वचापल्यान्मार्गे कर्करान् क्षिपति यथा पान्थः पीडामनुभवति, न च गन्तुं शक्नोति। न वा तेन तस्य बालस्य कोऽपि लाभः, प्रत्युत स उपालभ्यत एव लोके। तथा तत्त्वान्वेषणमार्गे कुतर्कोपन्यासस्तत्त्वबुभुत्सूनां पीडाफलस्तत्त्वबोधपरिपन्थी च। न वा तेन कुतर्कोपन्यासकानां कोऽपि लाभः, कुतर्कस्य विदुषा निराकरणात्, प्रत्युत लोकापवाद एवेति कुतर्कोपन्यासो बालचापलमेवेति भावः। अत एव, त्यज्यताम्-हीयताम्। नाऽन्यथा विवेकलाभसम्भव इति भावः। विवेकलाभाय वादः समाश्रयणीयो जल्पवितण्डे च हेये, नाऽन्यथा निरुपालम्भं स्थिति र्विवेकलाभो वा, प्रत्युत बालचपलोऽयमित्यपवाद एवेति निष्कर्षः ॥ १ ॥

ननु मध्यस्थस्य कथं तत्त्वनिर्णय इति शिष्यजिज्ञासां समाधित्सुराह—

मनोवत्सो युक्तिगवीं मध्यस्थस्याऽनुधावति।
तामाकर्षति पुच्छेन तुच्छाग्रहमनः कपिः ॥ २ ॥

मनोवत्स इत्यादि। मध्यस्थस्य—नयेषु समशीलस्य राग-

द्वेषहीनस्य जनस्य, मनोवत्सः–मनश्चित्तम्, तदेव तत्त्वनिर्णयात्मकक्षीरसमुत्सुकत्वाद्वत्सो वत्सतरः, सः। युक्तिगवीम्–युक्तिर्निर्दुष्टत्वात्सत्तर्क एव तत्त्वनिर्णयात्मकक्षीरप्रदा गौस्ताम्। समासान्तोऽट्। अनुधावति–शीघ्रमनुसरति। मध्यस्थस्य मनसि तत्त्वनिर्णयप्रयोजिका सद्युक्तिः सद्य एव स्फुरतीति तात्पर्यम्। अत एव तस्य सुकर स्तत्त्वनिर्णयः सुलभश्च विवेकः। गौर्ह्यनुधावन्तं वत्सं दुग्धेन तोषयत्येवेति परम्परित रूपकेण ध्वन्यते।

नन्वन्यस्य किमिति चेत्तत्राह–ताम्–युक्तिगवीम्, तुच्छाग्रहमनः कपिः–तुच्छः सद्युक्तिरहितत्वात्फल्गुराग्रहः पक्षपातो यस्य स तादृशः कदाग्रही, तस्य मन एव निष्कारणमपराधप्रवृत्तत्वात्कपिर्वानरः। पुच्छेन–लाङ्गूलेन, तत्तुल्येनैकदेशेनेत्यर्थः। पुच्छे गृहीत्वेति हृदयम्। पश्चाद्भागत इति यावत्। न तु शृङ्गादिना साम्मुख्येन च, तथा सति ताडननिराकरणसम्भवादिति भावः। आकर्षति–पश्चात्कर्षति, कदर्थयति, सद्युक्तिं चालयितुं गाञ्चाऽऽप्रीतां सम्भ्रान्तां च कर्तुं यतते। यथा न तत्त्वनिर्णयात्मकदुग्धलाभ इति भावः। गौर्हि पुच्छादिना कृष्टा कदर्थिताऽप्रीता सम्भ्रान्ता च वत्सायाऽपि दुग्धं न ददातीति प्रसिद्धम्। तथा सद्युक्तिः कदाग्रहिणा कुतर्कैरेकदेशेऽपिच्छलाद्याश्रित्य दूषिता तत्त्वनिर्णये विलम्बत एव। मध्यस्थो युक्तिमनुसरति, कदाग्रही च तां छलादिना दूषयतीति कदाग्रहं परित्यज्य मध्यस्थेनैव तत्त्वबुभुत्सुना भाव्यम्। मध्यस्थस्यैव हि तत्त्वनिर्णयो न कदाग्रहिण इति तात्पर्यम्॥ २॥

सम्प्रति को मध्यस्थ इति विप्रतिपन्नस्य शिष्यस्य स्पष्ट-प्रतिपत्तये तल्लक्षणमाह—

नयेषु स्वार्थसत्येषु मोघेषु परचालने ।
समशीलं मनो यस्य स मध्यस्थो महामुनिः ॥३॥

नयेष्वित्यादि । स्वार्थसत्येषु—स्वेषां तत्तन्नयानां येऽर्था अभिमता धर्मास्तेषु तद्विषये सत्याः सन्तस्तेषु तादृशेषु, सदर्थेष्वित्यर्थः । वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वात्तत्तन्नयाऽभिमतोऽर्थस्तत्राऽस्त्येवेति सर्वे नयाः स्वार्थे सत्या नत्वसदर्थका इति भावः । अत एव, परचालने—परे स्वस्मात्तत्तन्नयाद्भिन्ना येऽन्ये नयास्तेषां चालने दूषणे निराकरणे च, मोघेषु—निष्फलेषु, प्रयस्याऽपीतिशेषः । वस्तुन्यन्यनयाभिमतार्थानामपि सत्त्वात्, सतश्च प्रयाससहस्रेणाऽपि दूषणनिराकरणयोरसम्भवादिति भावः । " वन्ध्ये मोघाऽफलमुधा " इति हैमः । नयेषुः वस्त्वेकांशप्रतिपादकवचनमार्गेषु नैगमसङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूताख्येषु नयशब्देन प्रसिद्धेषु, यस्य—यादृशस्य प्राक्तनपुण्यशालिनो जनस्य, मनः—चित्तम्, अन्तःकरणमित्यर्थः । समशीलम्—तुल्यभावम्, अपक्षपातीत्यर्थः । यो हि सर्वनयाऽभिमतार्थानिच्छति, वस्तुनस्तथात्वात् । नत्वेकं समर्थयति, कदाग्रहवशादपरं च निराकरोति। तथा सति समशीलत्वाऽभावाद्दुस्तु याथात्म्यग्रहाऽनापत्तेश्च । वस्तुनोऽनेकान्तात्मकस्यैवमध्यस्थदृशाऽवधारणादिति भावः । किञ्च न पक्षपाती मध्यस्थोऽपि तु समदृष्टिरित्याह—सः—तादृशो जनः, मध्यस्थः—पक्षप्रतिपक्षपरिहारपूर्वकं सर्वेषामेवाऽविशेषेणाऽवलोकनान्मध्ये पक्ष-

प्रतिपक्षाभ्यामसंस्पृष्ट एवाऽन्तराले तिष्ठत्युभयाऽभिमतानर्थानङ्गीकरोतीति व्युत्पत्त्या वस्तुतो मध्यस्थः । अत एव, सः, महामुनिः माध्यस्थ्यात्मकमहत्त्वविशिष्टत्वान्महांश्चाऽसौ मुनिश्च स तादृशः । अत्र च यो मध्यस्थः स एव महामुनिः, महत्त्वस्याऽन्यथाऽनिर्वाहात् । न च महामुनेरन्यो मध्यस्थो भवितुमर्हति, समताया अल्पसत्त्वेनाऽसाध्यत्वादिति ध्वन्यते । सर्वनयार्थसमवृत्तिः स्याद्वादसिद्धान्तपूतात्मैव भवतीति स एव मध्यस्थस्तन्निर्वारितार्थग्रह एव च विवेक इति गूढाकूतम् ॥ ३ ॥

ननु लोके वीतराग एव महामुनि र्गीयत इति शङ्कितमानसं शिष्यमाश्वासयन्नाह—

स्वस्वकर्मकृतावेशाः स्वस्वकर्मभुजो नराः ।
न रागं नाऽपि च द्वेषं मध्यस्थस्तेषु गच्छति ॥ ४ ॥

स्वस्वेत्यादि । नराः—उपलक्षणत्वात्प्राणिमात्रम्, स्वस्वकर्मकृतावेशाः—स्वस्य स्वस्य स्वसम्बन्धीनि यानि कर्माणि जीवनयात्रार्थं सावद्या विविधाः व्यापारा इत्यन्यान्यप्रादुर्भावादिवत्समासः । तेषु तादृशेषु व्यापारेषु कृत आवेशः संरम्भो यैस्ते तादृशाः, जीवनयात्रार्थं साटोपं स्वस्वव्यापारेषु प्रवृत्ता इत्यर्थः । दृश्यते हि लोकेऽज्ञानिनां प्राणिनां जीवनयात्रार्थं तत्तत्कर्मसु साटोपं प्रवृत्तिरिति भावः । ननु किमिति तादृशक्रियासु प्रवृत्ति स्तेषां न पुनरात्मलाभार्थमिति जिज्ञासापूरणाय तत्र विशेषणद्वारेण हेतुमाह स्वस्वकर्मभुजः—स्वस्य स्वस्य स्वेनोपार्जितत्वात्स्वसम्बन्धीनि यानि

शुभाऽशुभात्मकानि कर्माणि ज्ञानावरणाद्याख्यानि तानि लक्षणया तत्फलानि शुभाऽशुभात्मकानि भुञ्जन्ति वेदयतीति ते तादृशाः, कर्मपरवशा इत्यर्थः। कर्मपारवश्यादेव तेषां तथाप्रवृत्तिरिति भावः। एतेन तेषां रागद्वेषाऽनर्हता समर्थिता, नहि परवशो रागद्वेषादीनां पात्रमपि तु करुणाया इति बोध्यम्। अत एव, तेषु–तादृशेषु कर्मपारवश्यात्स्वस्वकर्मणि प्रवृत्तेषु प्राणिषु, मध्यस्थः–समतामति र्जनः, रागम्–प्रीतिमासक्तिं च, न–नैव, गच्छति–आश्रयति, अपि चेति समुदायः समुच्चये। द्वेषम्–अप्रीतिमरुचिं वा, न–नैव, गच्छतीति समुच्चयबलात्सम्बध्यते। एवञ्च न नयेषु समशीलतामात्रं माध्यस्थ्ये प्रयोजकमपि तु प्राणिषु रागद्वेषपरिहारोऽपीति नयेषु समवृत्ती रागद्वेषशून्यश्च मध्यस्थः, स एव च महामुनिरिति सुष्ठूक्तम्–"स मध्यस्थो महामुनिरि"ति हृदयम्। "स्व स्वकर्मकृतावेशाः–स्वेन स्वेन शुभाशुभपरिवर्तनपरिणामेन निष्पादितानि यानि कर्माणि ज्ञानावरणादीनि तैः कृतः सम्पादित आवेशो ग्रहावेशादेरिव पारवश्यं येषां ते, तथा–स्वस्व-कर्मभुजः–स्वकीयस्वकीयकर्मणः शुभाशुभं फलं भुञ्जन्ति तथाविधा" इत्येवं व्याचक्षाणाः पौनरुक्त्यमनीक्षमाणाः प्रेक्षावतामुपालभ्या एव। नहि कर्मफलभोगादन्यत्कर्मकृतं पारवश्यं किञ्चिदिति सुधियो विदाङ्कुर्वन्तु॥४

उक्त प्रकारमाध्यस्थ्ये सत्यपि परगुणदोषचिन्ता हेया, आत्मलाभपरिपन्थित्वादिति शिष्यमुपदिशन्नाह—

मनः स्याद् व्यापृतं यावत्परदोषगुणग्रहे।
कार्यं व्यग्रं वरं तावन्मध्यस्थेनाऽऽत्मभावने ॥ ५ ॥

मन इत्यादि । मनः-चित्तम्, अर्थान्मध्यस्थस्येति बोध्यम् । यावत्-यदवधि, परदोषगुणग्रहे-परे स्वस्मादन्ये ये प्राणिनस्तेषां दोषा आत्ममालिन्यरूपदूषणाधायकत्वात्सावद्यप्रवृत्तयः, कायादीनामवगुणा वा, ते च, गुणा आत्मनैर्मल्यापादिकाः शुभप्रवृत्तयः कायादीनां शुभधर्मा वा, ते च, तेषां ग्रहे विचारणायाम्, अस्येमे दोषा गुणाश्चेत्येवंचिन्तायामित्यर्थः । रागद्वेषाद्यभावेऽपीति शेषः । लोको हि रागादिकं विनाऽपि परगुणदोषान् विचारयतीति बहुशो दृष्टमितिभाव, । यद्वा-परे नयेषु समशीलान्मध्यस्थादन्ये एकान्तवादिनस्तेषामुपलक्षणत्वात्तद्वादानां दोषाणां गुणानां च ग्रहे इत्यर्थः । एकान्तवादेषु के दोषा गुणाश्चेत्येवं पर्यालोचन इति सारार्थः । व्याप्तम्-लग्नम्, स्यात्-भवेत्, तावत्-तदवधि, मध्यस्थेन-नयेषु समशीलेन रागद्वेषशून्येन कर्त्रा, आत्मभावने-आत्मन आत्मस्वरूपस्य शुद्धसच्चिदानन्दमयत्वस्य भावने परिशीलने, व्यग्रम्-समासक्तम्, मन इति सम्बध्यते । कार्यम्-विधेयम्, तदेतत्, वरम्-इष्टमुचितं च । परगुणदोषचिन्ता ततः कदाचिद्रागाद्युदयसम्भवादनिष्टेति मध्यस्थस्य हेयैव । आत्मपरिशीलनं तु सर्वदा सर्वथा च श्रेयो निमित्तमेवेति तदेवोपादेयमनुरूपं चेति मध्यस्थः परगुणदोषचिन्तां परित्यज्याऽऽत्मानमेवाऽनुशीलयतीति परगुणदोषचिन्तां विहाय मध्यस्थेन सताऽऽत्मैव परिशीलनीय इति वा, परवाददोषगुणचिन्तात आत्मपरिशीलनमेव मध्यस्थानां श्रेष्ठम्, ततः कालव्ययं विहाय फलान्तराऽभावादिति वा तात्पर्यम् । मध्यस्थस्याऽपि परचिन्ता माध्यस्थ्यभङ्गसम्भावनाया

मवस्थानं फलविशेषाऽभावादनुचितं चेतिहृदयम् ॥ ५ ॥

ननु नयेषु समशीलानां मध्यस्थानामपि विभिन्नाः पन्थानः । तथाहि केचन दिगम्बराः, केचन श्वेताम्बराः, केचन मूर्त्तिं पूजयन्ति, अन्ये च तन्निषेधन्ति, अथवा मध्यस्था अप्यपुनर्बन्धकादयो बहवः, तेषां साधनमार्गाश्च जिनकल्पादयो विविधा इति वैद्यगृहेऽपि कारणप्रवेश इति मादृशानां मन्दमतीनां महान् व्यामोह इत्याकुलं शिष्यमनुगृह्णन्नाह—

विभिन्ना अपि पन्थानः समुद्रं सरितामिव ।
मध्यस्थानां परं ब्रह्म प्राप्नुवन्त्येकमक्षयम् ॥ ६ ॥

विभिन्ना इत्यादि । सरितां—नदीनाम्, "अथ नदी सरिदि"त्यमरः । विभिन्नाः—विविधाः, परस्परं विलक्षणाः, अनेके इत्यर्थः । अपिना सदृशानां तु पथां कथैव केति सूच्यते । पन्थानः—मार्गाः, प्रवाह प्रणाल्य इत्यर्थः पक्षे आत्मसाधनपद्धतय इत्यर्थः । अक्षयम्—न क्षयो न्यूनता यस्य तं तादृशम्, सर्वदा पूर्णमित्यर्थः । अति विपुलत्वात्कैरपि क्षयाऽदर्शनाद् भाविनि क्षये मानाऽभावाच्चेति बोध्यम् । पक्षे नित्यत्वादविनश्वरमित्यर्थः । एकम् केवलम्, "एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथे" त्यमरः । समुद्रम्—सागरमिव, सागरमेव नत्वन्यमिति समुदायार्थः । मध्यस्थानाम्—नयेषु समशीलानां रागद्वेषशून्यानां श्वेताम्बरादीनामपुनर्बन्धकादीनां वा । औपम्यबलाद्विभिन्ना अपि पन्थान इति सम्बध्यते । परस्परं विलक्षणा अपि स्थविरकल्पजिनकल्पाद्याख्या

आत्मसाधन पद्धतय इति चार्थः । औपम्यबलादेव चाऽक्षयमेक-मिति च विशेषणमिहाऽपि बोध्यम् । नित्यत्वादविनश्वरं केवल-मितिचाऽर्थः । परम्–विशुद्धत्वात्सर्वोत्तमम्, ब्रह्म–सच्चिदानन्दमय-मात्मानम् । प्राप्नुवन्ति–गच्छन्ति, आत्मानमेव साधयन्तीति मिलितार्थः । यथा नदीनां नानामार्गा अन्ततः समुद्रमेव गच्छन्ति, तथा मध्यस्थानां विविधाः साधनोपाया आत्मानमेव साधयन्ति । अतः कमप्येकं मार्गं यथारुच्याश्रित्य कृतकृत्यत्वसम्भवान्न मोहः कार्य इत्याशयः । अत्र सरिन्मार्गमध्यस्थमार्गयो र्भेदेऽप्यभेदाऽध्य-वसायादतिशयोक्त्यनुप्राणितोपमालङ्कारो बोध्यः । मध्यस्थानां मार्गेषु न संशयः कार्यः, तेषां सर्वेषामेव साध्यसाधनसामर्थ्य-सद्भावात्, मध्यस्थानामेव तत्र प्रामाण्यात्, मार्गानुसारितयैव माध्यस्थ्य निर्वाहादिति हृदयम् ॥ ६ ॥

ननु स्याद्वादो मध्यस्थदर्शनमिति तदेवोपादेयमिति भवत आकूतम्, तत्रैव वस्तुस्वरूपस्य सर्वनयाऽभिमतधर्मात्मकतया प्रति-पादनात् । यदुक्तम्–" नयानशेषानविशेषमिच्छन्न पक्षपाती समय-स्तथा ते " इति । भवांश्च स्याद्वादकृतादरः इति भवतः पक्ष-पातित्वमापतति, सर्वैव हि गोपालिका स्वं दधिमधुरमाहेति शिष्यशङ्कां समाधित्सुराह—

स्वागमं रागमात्रेण द्वेषमात्रात्परागमम् ।
न श्रयामस्त्यजामो वा किन्तु मध्यस्थया दृशा ॥ ७ ॥

स्वागममित्यादि । स्वागमम्–स्वस्य स्वपूर्वजादिभिराराधि-

तत्वात्कुलपरम्पराऽऽयातत्वात्स्वयं स्वीकृतत्वाच्चायं ममेति संस्कारात्स्वसम्बन्धी य आगमः सिद्धान्तः, जिनोक्तं स्याद्वादाख्यं दर्शनम्। तम्। रागमात्रेण-रागो वासनाजनिताऽऽसक्तिः, स एव रागमात्रम्, तेन, केवलं रागेण हेतुनेत्यर्थः आबाल्यादेवाऽऽराधितत्वाच्चिरसम्पर्कात्कुलपरम्पराप्राप्तत्वाच्च हृदि तद्वस्तुविषया वासना जायते, ततश्च तत्र समासक्तिः। तस्यां च सत्यां न्यूनमपि तदेव रोचत इति बोध्यम्। न-नैव, श्रयामः-आराधयामः। स एव मध्यस्थदर्शनमिति तदेवोपादेयमित्येवं प्रतिपादयामो वा। वा-तथा, परागमम्-परे बुद्धादयस्तेषामागमं सिद्धान्तम्, द्वेषमात्रात्-द्वेषोऽप्रीतिः, इदं परकीयं दर्शनं मत्सिद्धान्तविरोधीत्येतावता तस्मिन् जाताऽरुचिः। स एव द्वेषमात्रं ततो हेतोः, सर्वो हि स्वविरोधिनं द्वेष्टीति भावः। न-नैव, त्यजामः-परिहरामः, यत्र द्वेषः स उत्तमोऽपि त्यज्यते लोकै रिति भावः। ननु तर्हि तादृशाश्रयत्यागमयोः को हेतुरितिचेत्तत्राह-किन्त्विति। हेत्वन्तरमेवाऽत्राऽस्तीत्यर्थः। तदेवाह-मध्यस्थया-स्वागमपरागमयोः समशीलया रागद्वेषरहितया, दृशा-दृष्ट्या, विचारणयेत्यर्थः। परीक्षयेति यावत्। श्रयामस्त्यजामो वेति सम्बध्यते। रागद्वेषरहितया समशीलया दृशा स्वागमपरागमयो र्गुणदोषान् विचार्यैवाश्रयत्यागौ न तु तत्र रागद्वेषौ हेतू इत्यर्थः। यदुक्तम् " पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः सुगतादिषु। युक्तिमद्वचनं यस्य स एव परिगृह्यते " इति, तथा " न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु। यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु त्वामेव वीर! प्रभुमाश्रिताःस्म " इति च।

स्याद्वाददर्शनमेव मध्यस्थदर्शनमित्यत एव तदाश्रयाम इति हृदयम्। मध्यस्थया दृशा परीक्षया यद्युक्तं तदाश्रीयते। तादृशश्चेदस्मदागमस्तत्राऽस्माभिः किं कर्त्तव्यम्?। मम सद्वस्तुग्रहमात्राऽऽदरादिति भावः ॥ ७ ॥

ननु मध्यस्थानामेकैव पथा भाव्यम्, यदुक्तम्-" विपक्षस्ते विरक्तश्चेत्स त्वमेवे "ति, भवता चोक्तम्-" मनोवत्सो युक्तिगवीं मध्यस्थस्याऽनुधावती "ति। न च साध्ये समानेऽपि तत्साधनपन्थानो विविधा लोके इव शास्त्रेऽपि विविधा इति नाऽसमञ्जसम्। अत एवोक्तम् " विभिन्ना अपि पन्थानः समुद्रं सरितामिव। मध्यस्थानां परं ब्रह्म प्राप्नुवन्त्येकमक्षयमि "ति वाच्यम्। एवमपि तेषु तारतम्यसम्भवात्कतमो हिततम इति शिष्यचिन्तां शमयितुमुपसंहरन्नाह—

मध्यस्थया दृशा सर्वेष्वपुनर्बन्धकादिषु।
चारि सञ्जीवनीचारन्यायादाशास्महे हितम् ॥ ८ ॥

मध्यस्थयेत्यादि। सर्वेषु-निखिलेषु नत्वेकस्मिन् द्वयोरेव वा, विशिष्य तथा निर्देशस्य स्वस्य तादृशसाधनशून्यतयाऽशक्यत्वादिति भावः। अपुनर्बन्धकादिषु-अपुनर्बन्धकादिशब्दवाच्येषु मध्यस्थलक्षणलक्षितेष्वेव, लक्षणया तदाराधिनमार्गेष्वेव, नतान्यत्र। सर्वं सावधारणमितिन्यायादवधारणलाभ इति बोध्यम्। मध्यस्थयानयेषु समशीलया रागद्वेषशून्यया, दृशा-दृष्ट्या हेतुना, मध्यस्थदृष्टिसद्भावाढौतोरित्यर्थः। चारिसञ्जीवनीचारन्यायात्-चारं रूपप-

सङ्कल्यादिकारि कृत्रिमं विषम्, उपलक्षणत्वात्तादृशं गुटिकौषधादिकं च, तदस्त्यस्येति चारी गुटिकादिप्रयोगतो वृषभादिरूपं प्राप्तो जनः। तस्य यत्सञ्जीवन्यास्तदाख्यौषधिविशेषस्य तादृशचारपरिणामनाशपूर्वकपूर्वस्वरूपसम्पादकस्य चारश्चारणं भक्षणं तद्रूपो यो न्यायो दृष्टान्तस्तदाश्रित्येति यञ्लोपे पञ्चमी। हितम्—सामर्थ्याद्धिततमम्, " विभिन्ना अपि पन्थान " इत्याद्युक्तदिशा सर्वेषामेव हितत्वात्तदाशंसाया एकत्राऽनुचितत्वादिति बोध्यम्। आशास्महे सम्भावयामः। अयं भावः, " यथा गुटिकादिप्रयोगतो वृषभत्वमापन्नं निजं पतिं तस्य स्वपूर्वस्वरूपप्राप्तये ' वटतलस्थसञ्जीवनीचारादस्य पूर्वस्वरूपलाभ ' इति कुतोऽपि प्रमाणीभूताद्विद्याधरादेर्ज्ञात्वा सञ्जीवनीमजानती काऽपि स्त्री वटतलस्थां सर्वामेवौषधीं चारयामास। तथाकृते च सति तत्रत्यायाः सञ्जीविन्या अपि चारणात्तस्याः पतिः स्वपूर्वरूपमाप्तवान्। तथामध्यस्थदृष्टिसद्भावात्प्रामाण्यादपुनर्बन्धकादिमार्गेष्वेव कमपि हिततमं सम्भावयामो नत्वन्यत्र, मध्यस्थदृष्ट्यभावात्। तेषु कतमो हिततम इत्यज्ञानाद्विशिष्य निर्णेतुं न शक्यत इत्यन्यदेतत्। अधिकारिविशेषमपेक्ष्य सर्वमेव वा हिततमम्। एवं च सर्वे एव मध्यस्थपन्थानः समादरणीयाः, न तु संशय्य ततो विरतेन भाव्यम्। अन्यथा हितस्याऽप्यप्राप्तेः, दूरे हिततमवार्त्ता। तादृशमार्गतोऽन्यत्र हितस्यैकान्तेनाऽभावादितिहृदयम् ॥ ८ ॥

इति ज्ञानसारे प्ररूपातव्याख्यातृ-कविरत्न-पन्न्यासप्रवर-श्री

यशोभद्रविजयगणिवर-शिष्य-पन्यास-श्रीशुभङ्करविजयगणि-विरचितायां भद्रङ्करोदयाख्यायां व्याख्यायां मध्यस्थाऽष्टकं नाम षोडशमष्टकम् ॥ २६ ॥

## ॥ निर्भयाऽष्टकम् ॥ १७ ॥

नन्वस्तु मध्यस्थदृष्ट्या विवेकलाभस्तेन किमिति शिष्यजिज्ञासां समाधातुं विवेकिनो ज्ञानचारित्रसाहाय्येन निर्भया भवन्तीति निर्भयाष्टकं प्रस्तुवन् कस्य न भयमित्याह—

यस्य नास्ति पराऽपेक्षा स्वभावाऽद्वैतगामिनः ।
तस्य किं न भयभ्रान्तिक्लान्तिसन्तानतानवम् ? ॥ १ ॥

यस्येत्यादि । यस्य—यादृशस्य विवेकिनो मध्यस्थस्य, स्वभावाऽद्वैतगामिनः—स्वस्याऽऽत्मनो यो भावः स्वरूपं शुद्धसच्चिदानन्दात्मकं तस्य तन्निष्ठत्वात्तत्सम्बन्धि यद्, द्वयोर्भावो द्वितं सैव द्वैतं भेदो न द्वैतमद्वैतमभेदः, तादात्म्यमित्यर्थः । स्वभावेन सह तादात्म्यमिति यावत् । स्वभावलीनतेति सारार्थः । तद्गच्छत्यनुभवतीत्येवंशीलस्तस्य, स्वभावमग्नस्येति निष्कर्षः । पराऽपेक्षा—परः स्वभावादन्यो देहाऽगारदारादि लौकिकसुखजनकत्वेनेष्टो विषयस्तस्य तद्विषयिण्यपेक्षाऽऽकाङ्क्षा, लौकिकसुखलाभार्थमिति प्रस्तावाल्लभ्यते, नास्ति—न विद्यते । न भवति वा । वस्तुस्थितिरेवैषा, विषयविरागं विना स्वभावमग्नताऽसम्भवात् । स्वभावमग्नस्य च विषयेहाऽभावादिति बोध्यम् । तस्य—तादृशस्य विषयविरक्तस्य स्वभावलीनस्य पुण्यशालिनो जनस्य, भयभ्रान्तिक्लान्तिसन्तान-

तानवम्—भयं लौकिकसुखाद्यपहारदुःखाऽऽगमादिशङ्कया जाय-
माना भीतिस्तस्य या भ्रान्ति र्मिथ्यामतिः, तादृशं भयं भ्रम एव,
अनित्यतयाऽनिष्टानुबन्धितया च लौकिकसुखादेर्हेयतयाऽऽत्मनश्च
शुद्धसच्चिदानन्दात्मकतया कुतोऽपि दुःखाद्यसम्भवाच्च । नहि यद्धेयं
तदपहारशङ्कया कोऽपि बिभेति, न वा शाश्वताऽखण्डानन्दात्मकस्य
दुःखावसर इति बोध्यम् । तादृशभ्रान्तियुक्ता या कलान्तिस्ता-
दृशभयत्राणार्थविहितमहारम्भादिश्रमजन्यः खेदस्तस्या यः सन्तानः
पुनः पुनः प्रादुर्भावात्परम्परा तस्य तानवमल्पता । यद्वा भयमुक्त-
प्रकारम्, तच्च, भ्रान्ति र्विषयेषु वस्तुतो दुःखनिमित्तेषु सुखजन-
कत्वज्ञानम्, सा च, कलान्ति र्महारम्भपरिग्रहादिश्रमजन्यः खेदः,
सा च, तेषां सन्तानस्य तानवम् । " तनुः काये कृशेऽल्पेचे "
त्यमरः । किं न—काक्वाऽपित्ववश्यमेव, भवतीति शेषः । यो हि
विषयव्यासङ्गं विहाय स्वभावमग्नो भवति, स क्रमशो निर्भयो भव-
तीति सारार्थः । मध्यस्थो हि विवेकी विषयान् विहाय स्वभाव
एव रमते । ततश्च तस्य न कुतोऽपि भयादि, तद्धेतो र्विषयाऽपे-
क्षाया एवाऽभावात् । प्रत्युत स्वभावमग्नतया निर्भयो निराकुलश्च
स भवतीति तादृशनिर्भयत्वलाभार्थं मध्यस्थेन विवेकिना भाव्य-
मिति भावः ॥ १ ॥

शिष्यमनःसमाधानार्थं भवसौख्यं विगीय निर्भयसुखश्रेष्ठ-
त्वमाह—

भवसौख्येन किं भूरिभयज्वलनभस्मना ।
सदा भयोज्झितज्ञानसुखमेव विशिष्यते ॥ २ ॥

भवसौख्येनेत्यादि । भवसौख्येन—भवस्य भवे विषयादिलभ्यत्वाद्भवसम्बन्धि यत्सुखमेव सौख्यं तेन, आत्मस्वभावेतरबोद्गलिकसक्चन्दनाऽङ्गनादिजनितसुखेनेत्यर्थः । भूरिभयज्वलनभस्मना—भूरीणि प्रचुराणि यानि भयानि तादृशसुखनाशमरणादिप्रयुक्ता भीतयस्तान्येव तादृशसुखेन्धनज्वालनप्रगुणत्वाज्ज्वलनो वह्निस्तत्कृतं यद्भस्म भसितं तद्रूपेण, यथा वह्निना दग्धं चन्दनादिप्रभृत्युत्तमकाष्ठाद्यपि भस्मरूपेण परिणतं निःसारं तथा भयाऽनुविद्धं सुखमपि, भयाऽनुभवस्य प्राबल्यात् । सुखानुभवो मन्दीभूतो निःसार इति रूपकेण ध्वन्यते । "भीतिर्भीः साध्वसं भयमि"ति, " अग्नि र्वैश्वानरो वह्नि र्वीतिहोत्रो धनञ्जयः । कृपीटयोनिर्ज्वलन " इति " भूतिर्भसितभस्मनी "ति चामरः । किम् ?—काक्वा न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः । तादृशसौख्येन कृतमिति यावत् । स एव सुखाऽनुभवो यः शुद्धः, भवसुखाऽनुभवस्तु तन्नाशादिभयादिभिस्तदाभासीकृत इति वह्निज्वालितेन्धनभस्मवन्निःसार इति हेय एवेति हृदयम् । ननु तर्हि किं सुखं सारवदुपादेयं चेति चेत्तत्राह—सदेत्यादि । भयोज्झितज्ञानसुखम्—भयेनोक्तप्रकारेणोज्झितः शून्यस्तस्य यज्ज्ञानमहं निर्भय इत्येतादृशं ज्ञानं तस्य तज्जन्यत्वात्तत्सम्बन्धि यत् सुखं तत्, निर्भयत्वप्रकारकज्ञानजन्यसुखमित्यर्थः । निर्भयत्वे हि सति मनःस्वास्थ्यम्, ततश्चाऽनुपहतं सुखमिति बोध्यम् । एवकारेण भवसौख्यं व्यवच्छिद्यते । सदा—सर्वदा, कालत्रयेऽपि सर्वास्ववस्थासु च, विशिष्यते—प्रशस्यते, तस्य केवलसुखानुभवरूपत्वादिति बोध्यम् । अतस्तदेवोपादेयम्, तल्लाभो यथा स्यादिति

निर्भयेन भवितव्यं चेत्याशयः ॥ २ ॥

कथं तादृशनिर्भयत्वं साध्यमिति शिष्यजिज्ञासां समादधदाह—

न गोप्यं क्वाऽपि नाऽऽरोप्यं हेयं देयं च न क्वचित् ।
क्व भयेन मुनेः स्थेयं ज्ञेयं ज्ञानेन पश्यतः ॥ ३ ॥

न गोप्यमित्यादि । मुनेः—सम्यक्त्वशालिनः परापेक्षां विहाय स्वभावाऽद्वैतगामिनः, ज्ञानेन—सम्यग्ज्ञानेन, ज्ञेयम्—प्रमेयम्, आत्मनस्तद्भिन्नानां पौद्गलिकानां दारागारादीनां च पारमार्थिकं नित्याऽनित्येष्टाऽनिष्टानुबन्धित्वादिरूपं स्वरूपमित्यर्थः । ज्ञेयज्ञानं हि ज्ञेययाथात्म्यज्ञानमेवेति बोध्यम् । पश्यतः—जानतः सतः, क्वापि—शत्रौ मित्रे ग्रामेऽरण्ये दिवा निशि वा, गोप्यम्—अप्रकाशनीयम्, स्वीयमपकर्म धनादिकं वा किमपीत्यर्थाल्लभ्यते । न—नैव, मुनेर्ज्ञानेन वस्तुपरमार्थाऽवलोकनाद्विषयत्यागात्स्वभावाऽद्वैतगामित्वाच्च तादृशकर्मादेरभावात्स्वभावस्य चारित्रस्य वा प्राकट्येऽपि क्षत्यभावाच्चेति भावः । तथा, आरोप्यम्—स्थापनीयम्, न्यासरूपेण किमपि सुवर्णादिकं क्वाऽपीत्यर्थाल्लभ्यते । न—नैव, नश्वरत्वेन तत्त्यागादभावात्स्वस्वरूपात्मकस्य च धनस्य रत्नत्रयस्य च स्थापनाऽयोग्यत्वाच्चेति बोध्यम् । तथा, क्वचित्—कुत्राऽपि, हेयम्—त्याज्यम्, न—नैव, किमपि निषिद्धं कर्म वस्तु वा, हेयस्य सर्वस्यैव हानात्स्वभावस्य रत्नत्रयस्य चाऽहेयत्वादिति बोध्यम् । देयम्—दातव्यम्, चेन क्वचिन्नेति सम्बध्यते । किमपि धनादिकं हि दीयते, मुनेश्च निष्परिग्रहत्वात्तद्भावात्स्वस्वभावस्य रत्नत्रयस्य चाऽदेयत्वादिति

बोध्यम्। एवं सति, भयेन—भीतिरूपेण कर्त्रा, मुनिविषये इत्यर्थाल्लभ्यते। क्व—कुत्र, स्थेयम्—स्थितिः कार्या, काक्वा न क्वापीत्यर्थः। यो हि सम्यग्ज्ञानेन वस्तुनो याथात्म्यं पश्यति, सोऽनिष्टाऽनुबन्धितया लौकिकान् विषयान् त्यजति, श्रेयस्तया स्वस्वभाव एवाऽवतिष्ठते। भयस्थानानि च चत्वारि गोप्यस्थाप्यहेयदेयानि। गोप्ये हि प्राक्त्यभयं स्थाप्ये अपहारादिभयं हेये ग्रहणभयं देये चाऽदानभयम्। मुनेश्च न गोप्यादिकं किञ्चित्क्वाऽपि। तदेवं स्थानाऽभावादेव मुनेर्न भयमिति ज्ञानी मुनिरेव निर्भयोऽन्यस्तु भयस्थानसत्त्वाद्भीत एवेति ज्ञानेन निर्भयत्वं साध्यमिति भावः ॥३॥

शिष्यप्रबोधार्थं ज्ञानेनैव निर्भयत्वं साध्यमिति पुनराह—

एकं ब्रह्मास्त्रमादाय निघ्नन् मोहचमूं मुनिः।
विभेति नैव सङ्ग्रामशीर्षस्थ इव नागराट् ॥ ४ ॥

एकमित्यादि। मुनिः—सम्यक्त्वसम्पन्नः साधुः, एकम्—अमतिविषेयत्वादमोघत्वाच्च सर्वास्त्रेषु प्रधानं केवलं च, ब्रह्मास्त्रम्—स्वनामरूयातं ब्रह्मास्त्रमिव ब्रह्म शुद्धसच्चिदानन्दमय आत्मा, लक्षणया तत्स्वरूपप्रकाशकं सम्यग्ज्ञानम्, मोहचमूनाशकत्वात्तद्रूपमस्त्रं ग्रहणम्, आदाय—गृहीत्वा, मोहचमूम्—मोहो विषयेषु मूर्छा स एवाऽऽक्रामकत्वाद्विनाश्यत्वात्प्रचुरत्वाच्च चमूरिव, मोहस्य चमूः सेना, विविधप्रकारो मोहो वा, ताम्, निघ्नन्—नाशयन्, सम्यग्ज्ञानेन कृत्वा विषयव्यासङ्गं त्यजन्निति यावत्। ब्रह्मास्त्रेण चमूनाशः प्रसिद्ध एवेतिभावः। मोहचम्वा अतिप्रबलत्वान्न विना

ब्रह्मास्त्रं तन्नाश इत्यपिध्वन्यते। सङ्ग्रामशीर्षस्थः—सङ्ग्रामो युद्धं तस्य शीर्षमिव प्रकृष्टत्वाच्छीर्षम्, तुमुलं युद्धमित्यर्थः। तत्र तिष्ठतीति सः। यद्वा सङ्ग्रामस्य शीर्षस्थःपुरस्सरः, नागराट्—नागो गजः स चाऽसौ राट् राजा च सः, गजेन्द्र इत्यर्थः। स इव, "मतङ्गजो गजो नाग" इत्यमरः। नैव, बिभेति—भयमाप्नोति। यथा रणमूर्धनि स्थितो गजेन्द्रो तीव्रे प्रहारे सत्यपि न बिभेति सैन्यं नाशयति च, तथा मुनिरपि सम्यग्ज्ञानेन मोहं नाशयति, निर्भयश्च भवति। मोहे सति गोप्यादिभावाद्भयाऽवसरः। मोहाऽभावे च गोप्यादेरप्यभावान्न भयाऽवसर इति निर्भयो भवतीति भावः। सम्यग्ज्ञानेन मोहनाशद्वारा निर्भयत्वं साध्यमिति हृदयम् ॥ ४ ॥

शिष्यस्य श्रद्धा दृढा यथा स्यादिति ज्ञानेन निर्भयत्वलाभं प्रकारान्तरेण वर्णयन्नाह—

मयूरी ज्ञानदृष्टिश्चेत्प्रसर्पति मनोवने।
वेष्टनं भयसर्पाणां न तदाऽऽनन्दचन्दने ॥ ५ ॥

मयूरीत्यादि। चेत्—यदि, मनोवने—मनोहृदयं ज्ञानमयूरादिसञ्चारयोग्यत्वादानन्दचन्दनादिपरोहभूमित्वाच्च वनमिव वनम्, तत्र, मयूरी—मयूरीव मयूरी, भयसर्पाऽपहारकतया केकिनीतुल्या, ज्ञानदृष्टिः—ज्ञानमात्मतदितरयाथात्म्यग्राहि सम्यग्ज्ञानं तदेव दृष्टिरिव साक्षादिव वस्तुयाथात्म्यपरिच्छेदकत्वाद्दृष्टिः, सा, ज्ञानाख्या दृष्टिरित्यर्थः। प्रसर्पति—इतस्ततः सञ्चरति, पुनः पुनः प्रादुर्भवति, यदि मनसि सततं सम्यग्ज्ञानपरम्परोदेतीति निष्कर्षः।

तदा–तर्हि, आनन्दचन्दने–आनन्द आत्मानन्दो भवतापाऽप-हारकतया शाश्वताऽखण्डसुखात्मकशैत्यप्रदत्वाच्च चन्दनं श्रीखण्ड-द्रुम इव, तत्र, भयसर्पाणाम्–भयानि गोप्यादिप्राकट्यादिभयानि, तान्येव ज्ञानदृष्टिमयूरीनाश्यत्वादानन्दरोधकत्वाच्च सर्पा इव, तेषाम्, वेष्टनम्–निजभोगेनाऽऽवरणम्, पक्षे तदाक्रान्तत्वमित्यर्थः। न–नैव, भवतीति शेषः। यथा यत्र वने मयूरी सञ्चरति, तत्रत्य-चन्दनादीन् सर्पा मयूर्या स्वभक्षणादिभयान्न वेष्टयन्ति, प्रत्युत कुतोऽप्यन्यत्रैव गच्छन्ति, तथा मनसि सम्यग्ज्ञाने विलसमाने गोप्याद्याश्रयाऽभावाद्भयानि नाविर्भवन्त्येवेत्यर्थः। सम्यग्ज्ञानेन वस्तुयाथात्म्यपरिच्छेदान्मोहापगमाद्धेयस्य हानादुपादेयस्य चोपादा-नान्नित्यशुद्धसच्चिदानन्दात्मकस्वरूपाऽवभासाच्च भयस्थानाऽभावा-न्निर्भयत्वं सिद्ध्यतीति भावः। ज्ञानिनो न भयमिति यावत्॥ ५॥

शिष्यस्य दृढप्रबोधाय पुनर्ज्ञानस्य मोहनाशद्वारा निर्भयत्व-साधकत्वमाह—

कृतमोहाऽस्त्रवैफल्यं ज्ञानवर्म बिभर्ति यः।
क्व भीस्तस्य क्व वा भङ्गः कर्मसङ्गरकेलिषु ?॥ ६॥

कृतेत्यादि। यः–यादृशः पुण्यशाली जनः, कृतमोहाऽस्त्रवै-फल्यम्–कृतं मोहोऽस्त्रे स्वबुद्धिरतस्मिंस्तत्त्वप्रहरूपोऽविवेकः, स एव वस्तुयाथात्म्यावभासात्मकशरीराङ्गोपाङ्गभूतसम्यग्दर्शनादिघात-कत्वादस्त्रं प्रहरणम्, तस्य वैफल्यं मोघता येन तादृशम्, मोहास्त्र-प्रतीकारप्रगुणमित्यर्थः। ज्ञानवर्म–ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमेव दृढत्वा-

दुर्भेद्यत्वान्मोहास्त्रघातक्षमत्वाच्च वर्म कवचं तत्, "सन्नाहो वर्म कङ्कटः। जगरः कवचं दंश" इति हैमः। बिभर्ति-धारयति, वर्मणाऽस्त्रस्येव ज्ञानेन मोहस्य प्रतीकार इति भावः। तस्य-मोहास्त्र-प्रतीकारप्रगुणज्ञानवर्मविभूषितस्य, कर्मसङ्गरकेलिषु-कर्मभिरनर्थ-हेतुत्वाच्छत्रुभि र्ज्ञानावरणीयादिभिर्यः सङ्गरो युद्धम्, कर्मनाशनाय तपःसंयमादिव्यापाराः, तद्रूपा याः केलयः क्रीडास्तासु। एतेन ज्ञानिनः कर्मनाशः केलिवत्सुकर इति ध्वन्यते। भीः-भयम्, क्व-काक्वा न क्वापीत्यर्थः। वा-तथा, भङ्गः-कर्मणः प्राबल्यात्स्वस्य तदधीनत्वरूपः पराजयः, क्व-काक्वा न क्वापीत्यर्थः। युद्धे ह्यवर्मण एवाऽस्त्रमेव भयहेतुः पराजयहेतुश्च, ज्ञानिनस्तु ज्ञानेन मोहनाशान्न भयहेतुः पराजयहेतुर्वा किमपि क्वापीत्यर्थः। कर्माणि हि मोहोद्भावनेन जनान् वशगान् करोति, ज्ञानी तु ज्ञानेन मोहं विनाश्य कर्माण्यपि नाशयतीति स निर्भयो विजयी चेति ज्ञानेन मोहनाशद्वारा निर्भयत्वं कर्मक्षयरूपमुक्तिश्चेति ज्ञानेन निर्भयत्वं साध्यमिति तात्पर्यम्। परम्परितरूपकाऽलङ्कारः॥ ६॥

शिष्यस्य 'ज्ञानेनाऽवश्यमेव निर्भयत्वमज्ञानिन एव च भय-हेतुरनर्थ" इत्येवं दृढा धारणा यथा स्यादित्यज्ञानिनो भयं ज्ञानि-नश्च निर्भयत्वं विवृण्वन्नाह—

तूलवल्लघवो मूढा भ्रमन्त्यभ्रे भयाऽनिलैः।
नैकं रोमाऽपि तै र्ज्ञानगरिष्ठानां तु कम्पते॥ ७॥

तूलेत्यादि। मूढाः-मोहाश्रया अज्ञातवस्तुयाथात्म्या अस्वेऽ-

नित्ये च स्वत्वनित्यत्वबुद्धयोऽज्ञानिनः, तूलवत्–तूलं पिचुस्तद्वत्, "तूलकं पिचुरि"ति हैमः। लघवः–अल्पसाराः, अत एव, भयानिलैः–भयानि पूर्वोक्तप्रकाराणि, तान्येव भ्रमणसाधनत्वाद-निला वायवस्तैः कृत्वा, अभ्रे–आकाशे, लोकाकाश इति यावत्। भ्रमन्तिः–पुनः पुनर्जन्मग्रहणादितस्ततो गतागतात्मकमुड्डयनं प्राप्नुवन्ति। अनिलैस्तूलस्याऽल्पसारत्वादभ्रभ्रमणं प्रसिद्धमेव, तथा मोहपरवशा भयाक्रान्ता म्रियन्ते, मोहात्समुपार्जितकर्मवशाच्च लोका-काशे भ्रान्ता जन्म गृह्णन्ति चेति तात्पर्यम्। तुर्विशेषे भेदे च। ज्ञानिनस्ततो विशेषो भेदश्चेत्यर्थः। तदेवाह–नैकमित्यादि। ज्ञान-गरिष्ठानाम्–ज्ञानेन सम्यग्ज्ञानेन कृत्वा गरिष्ठा गुरुतराः, दृढाऽन-ल्पसारा इत्यर्थः, तेषाम्, तैः–भयानिलैः, एकम्–अल्पम्, लक्षण-याऽल्पसारम्, एतेन कम्पयोग्यता प्रतिपादिता, रोम–लोम, अपिना सारवतः स्वस्य तु कथैव केति सूच्यते। उपलक्षणत्वाद्रोमवदति-सूक्ष्म एको जीवप्रदेशोऽपीत्यर्थः। न–नैव, कम्पते–चलति। गुरुतरो हि वायुना न चाल्यते इति प्रसिद्धम्। ज्ञानेन मोहनाश-पूर्वककर्मनाशादाश्रयाऽभावेन भयाऽभावात्कारणाऽभावाज्जन्माद्य-भावान्न ज्ञानिनो लोकाकाशभ्रमणम्, प्रत्युत मोक्षलाभात्स्थिरपरम-पदाऽवस्थानमेवेति ज्ञानेन मोहनाशपूर्वकनिर्भयत्वलाभात्परमपदा-वाप्तिरिति तात्पर्यम्। अज्ञानिनो भयं तत्कृतोऽनर्थश्च न तु ज्ञानिन इति निष्कर्षः ॥ ७ ॥

ननु निर्भयत्वस्य किं स्थानमिति शिष्यजिज्ञासां समाधित्सु-रुपसंहरति—

चित्ते परिणतं यस्य चारित्रमकुतोभयम् ।
अखण्डज्ञानराज्यस्य तस्य साधोः कुतो भयम् ? ॥८॥

इति महोपाध्यायश्रीयशोविजयोपाध्यायविरचिते ज्ञानसारे निर्भयाष्टकं नाम सप्तदशमष्टकम् ।

चित्ते इत्यादि । अखण्डज्ञानराज्यस्य—अखण्डं सम्पूर्णं मिथ्यात्वादिशत्रुभिरनुपहतमनुपद्रुतं निरन्तरं च ज्ञानं सम्यग्ज्ञानरूपं स्वस्वामिभावाद्राज्यं यस्य स तादृशस्तस्य, मिथ्यात्वाद्यदूषितसम्पूर्णनिरन्तरितसम्यग्ज्ञानवत इत्यर्थः । यस्य—यादृशस्य साधोः, चित्ते—मनसि, अकुतोभयम्—न विद्यते कुतोऽपि भयं यस्मिंस्तदकुतोभयं भयस्थानत्यागाद्भयविवर्जितम्, चारित्रम्—संयमः, परिणतम्—वृत्तिरूपतामापन्नम्, परिपक्वं च । ज्ञानफलं विरतिरिति सम्यग्ज्ञानाद्विरतिलाभः, विरतौ च सत्यां गोप्यादिभयस्थानाऽभावाद्भयाऽभाव इतिभावः । तस्य—तादृशस्य सम्यग्ज्ञानिनश्चारित्रवतः, साधोः—मुनेः, सम्यग्ज्ञानी चारित्रवांश्च मुनिरेव भवतीतिभावः । कुतः—कस्मात्, किमवधीत्यर्थः । भयम्—भीतिः, काक्वा न कुतोऽपि भयमित्यर्थः । ज्ञानिनोऽकुतोभयचारित्रसम्पन्नस्य कारणाऽभावाद्विरोधिसद्भावाच्च न भयमिति ज्ञानी चारित्रवांश्च निर्भय इति भावः । एवं च ज्ञानं चारित्रं च निर्भयत्वस्थानमिति तात्पर्यम् । तस्मान्निर्भयत्वलाभाय ज्ञानं चारित्रं चेति द्वयमेवाऽऽराधनीयं नाऽन्यथा भयाऽभाव इति हृदयम् ॥ ८ ॥

इति ज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृ-कविरत्नपन्यासप्रवर-श्री-

यशोभद्रविजयगणिवरशिष्य-पन्यासश्रीशुभङ्करविजयगणिविरचितायां भद्रङ्करोदयाख्यायां व्याख्यायां निर्भयाऽष्टकं नाम सप्तदशाऽष्टकम् ॥ १७ ॥

## ॥ अनात्मप्रशंसाऽष्टकम् ॥ १८ ॥

उक्तरीत्या ज्ञानचारित्रसम्पन्नो निर्भयोऽपि स्वगुणान् कीर्तयन् गर्वाद्यनुषङ्गात्पततीत्यात्मप्रशंसा सर्वैरेव त्याज्येते शिष्यप्रबोधायाऽनात्मप्रशंसाऽष्टकं विवक्षुरादावात्मप्रशंसाया उभयथाऽपि नैष्फल्यमाह—

गुणैर्यदि न पूर्णोऽसि कृतमात्मप्रशंसया ।
गुणैरेवाऽसि पूर्णश्चेत्कृतमात्मप्रशंसया ॥ १ ॥

गुणैरित्यादि । यदि-चेत्, गुणैः-दर्शनज्ञानादिभिराद्यात्मिकैर्नृत्वचक्रित्वादिभिर्बाह्यैश्चोत्तमधर्मै र्गुणपदबोध्यैः प्रसिद्धैर्विशेषणैः पूर्णः-समग्रः, प्राप्तमकर्षैस्तैः समन्वित इति यावत् । न-नैव, असि-भवसि, यदीतेबलात्तदेति लभ्यते, आत्मप्रशंसया-आत्मनः स्वस्य प्रशंसया गुणानां कीर्तनेन, आत्मश्लाघयेत्यर्थः । कृतम्-पर्याप्तम्, आत्मप्रशंसा न कार्येत्यर्थः । गुणहीनो ह्यात्मानमहमेवमुत्कृष्टगुण इत्यादिरूपेण प्रशंसन् लोके "ऽयं मिथ्याऽऽत्मप्रशंसक" इति निन्द्यतेऽवमान्यते उपहस्यते चेति समधिकाऽनिष्टानुबन्धित्वादात्मप्रशंसा त्याज्येवेत्याशयः । यत्प्रशस्यते तदेव न भवतीति स्वमिथ्याप्रशंसा लोके निन्दादिनिमित्तमसत्प्रवृत्त्यात्मकतया दुरितानुबन्धिनीचेति गुणाऽभावे सा हेयैवेत्या-

कृतम्। ननु तर्हि गुणिभिः सा कार्येति चेत्तदपि नेत्याह–गुणैरेवेत्यादि। चेत्–यदि, गुणैः–उक्तप्रकारैराध्यात्मिकैर्बाह्यैश्चोत्तमधर्मैः, पूर्णः–समग्रः, एवकारेण गुणहीनताव्यवच्छेदः। तदाऽपि, आत्मप्रशंसया–आत्मश्लाघया, कृतम्–पर्याप्तम्, गुणसद्भावेऽप्यात्मप्रशंसा न कार्येत्यर्थः। सतां गुणानां स्वयमेव प्रकाशालोकानां स्वयमेव ज्ञानात्तत्कीर्त्तनं नाऽऽवश्यकम्। ख्यातये हि गुणाः कीर्त्यन्ते, सा च स्वयमेव गुणानां तथास्वाभाव्यादेव जातेति तदर्थं श्रमो निष्फलत्वान्न विधेय एव। यदुक्तम्–"यस्य ये च गुणाः सन्ति प्रख्यातिं यान्ति ते स्वयम्। न हि कस्तूरिकामोदो वचनेन विभाव्यते" इति भावः। गुणानां सत्त्वेऽसत्त्वे वोभयथाऽप्यात्मप्रशंसा हेयैव निष्फलत्वादनिष्टानुबन्धित्वाच्चेति तात्पर्यम्। कृतमात्मप्रशंसयेति द्विरुक्तिरात्मप्रशंसायाः सर्वथाऽप्यवश्यहेयत्वसूचनार्थमिति बोध्यम्॥ १॥

ननु ये गुणाः ख्यातास्तेषां कीर्त्तने न काऽपि हानिः सद्भूतार्थकीर्तनादित्यात्मप्रशंसा किमिति न कार्येति शिष्याऽऽशङ्कां निराचिकीर्षुराह—

श्रेयोद्रुमस्य मूलानि स्वोत्कर्षाऽम्भःप्रवाहतः।
पुण्यानि प्रकटीकुर्वन् फलं किं समवाप्स्यसि?॥ २॥

श्रेयोद्रुमस्येत्यादि। श्रेयोद्रुमस्य–श्रेयःकल्याणं निर्वाणं च तद्धेतुर्ज्ञानचारित्रादिगुणोऽपि कारणे कार्योपचाराच्छ्रेयस्तदेव पुण्यमूलत्वाच्छाश्वताऽखण्डाऽनन्तसुखफलप्रदत्वाच्च द्रुमो वृक्षस्तस्य

कल्याणहेतुज्ञानाद्यात्मकवृक्षस्य, " कल्याणं श्रोवसीयसं श्रेयः " इति, " शिवं निःश्रेयसं श्रेयो निर्वाणं ब्रह्म निर्वृतिरि "ति च हैमः। मूलानि–बुध्नाः, द्रुमस्य बुध्ना इव श्रेयस आधारत्वान्मूलरूपाणि, " मूलं बुध्नोऽह्रि नाम चे "ति, हैमः। पुण्यानि–शुभहेतुकर्माणि सुकृतानि कर्म, स्वोत्कर्षाऽम्भःप्रवाहतः–स्वस्याऽऽत्मनो य उत्कर्ष उत्तमगुणवैशिष्ट्यात्मकं महत्त्वम्, तेषां तादृशानां पुण्यानामुत्कर्षोऽतिशयः, स्वसम्बन्धिगुणादिगर्वो वा, स एव कीर्त्तनादिना स्रवणशीलत्वादम्भो जलं तस्य प्रवाहतः सततं पारम्पर्येण प्रवृत्तेः, कीर्तनात्मकधारातः, तादृशगर्व एव गत्वरत्वाद्धारापवाहस्ततो वा, हेतोः, प्रकटीकुर्वन्–अप्रकटं मृदादिच्छन्नमप्रख्यातं च प्रकटं मृदाद्यपाकरणेन लक्षितं ख्यातं च कुर्वन्, फलम्–द्रुमप्रसव आम्रादिकं निर्वाणसुखं च, समवाप्स्यसि किम् ?–प्राप्स्यसिकिम् !, काक्वा नैव प्राप्स्यसीत्यर्थः। प्रवाहतो मृदोऽपगमान्मूलस्य प्राकट्यात्तेन पोषणाऽलाभात्क्रमशो वृक्षः शुष्यतीति फलं न ददाति; तथाऽऽत्मप्रशंसया पुण्येषु ख्यातेषु तत्क्षयाज्ज्ञानादेरपि तानवान्निर्वाणाद्यलाभः, यदुक्तम् " धर्मः क्षरति कीर्त्तनादि "ति। तस्मादात्मप्रशंसाऽवश्यहेयेति भावः। यद्वा–किं फलं कुत्सितं फलमाम्रादिकं परिणामं च समवाप्स्यसीत्यर्थः। यस्य हि वृक्षस्य मूलमनावृत्तं तस्य चारुतया पोषणाऽप्राप्तेः फलं दूषितं जायते, तथाऽऽत्मप्रशंसया पुण्येषु प्रकटितेषु निमित्तशैथिल्याज्ज्ञानादिषु मन्दीभूतेषु कर्मबन्धादिरूपमशुभफलमेव जायते इति कृतमात्मप्रशंसयेति भावः ॥ २ ॥

शिष्यप्रबोधायोक्तमेवाऽर्थं गुणानां परैः स्वयं च ग्रहणस्य

लाभाऽलाभप्रकारेण पुनराह—

आलम्बिता हिताय स्युः परैः स्वगुणरश्मयः ।
अहो ! स्वयंगृहीतास्तु पातयन्ति भवोदधौ ॥ ३ ॥

आलम्बिता इत्यादि । भवोदधौ—भवः संसार एव तत्स्थैर्जनैर्दुस्तरत्वादुदधिः समुद्र इवोदधिस्तत्र, तद्विषये इत्यर्थः । स्वगुणरश्मयः—स्वस्याऽऽत्मनो गुणा ज्ञानादय एवोद्धारसाधनत्वाच्च रश्मयो वरत्राः, उपलक्षणत्वाद्रज्जुमात्रम्, तदिव रश्मयस्ते, परैः—इतरैर्जनैः, आलम्बिताः—स्तुतिमुखेन हस्तेनेव गृहीताः, श्रेयःसाधनत्वात्स्वेष्वाहिता वा, धृताश्च, हिताय—कल्याणाय, उद्धारात्मकेष्टाय च, स्युः—भवेयुः । अर्थात्स्वस्य परेषां चेति लभ्यते । यथोदधौ पतितस्य करादिस्थरज्जुं परे गृह्णन्ति तदा तस्योद्धारः, ते हि रज्ज्वा तमुद्धरन्ति । अथवा स्वयं तीरस्थस्य करस्थां रज्जुमुदधिस्था एव गृह्णन्ति चेत्तदा तेषां तया रज्ज्वा कृत्वाऽऽकर्षणादुद्धारो भवति । तया स्वस्य ज्ञानादिगुणान् भवमग्नस्य चेत्परे स्तुवन्ति, तदा तस्य गुणैरुत्कृष्टैरेव भाव्यम्, नाऽन्यथा परैस्तत्स्तुतिरिति गुणोत्कर्षात्तस्य भवादुद्धारः । अथवा भवस्थाः परे एव चेत्स्वस्य मुन्यादे र्गुणानुत्कृष्टत्वाद्धेतोः स्वेष्वादधति तदा तेषां तद्गुणमहिम्ना भवादुद्धारो भवतीत्युभयथाऽप्यर्थो बोध्यः । तु विशेषे भेदे च । स्वगुणस्य स्वयं ग्रहणे पूर्वतो भेदो विशेषश्चेत्यर्थः । तदेवाह-अहो इत्यादिना । स्वयम्-आत्मना, गृहीताः—आलम्बिताः, स्तुतिमुखेनोपात्ता वा, स्वगुणरश्मय इति

सम्बध्यते। पातयन्ति–मज्जयन्ति,भवोदधाविति सम्बध्यते। तदेतत्, अहो ! यत एवोद्धारस्तत एव पात इति पदार्थधर्मवैचित्र्यमाश्चर्यकरमित्यर्थः उदधिस्थो हि स्वरज्जुं स्वयं गृह्णाति नतु परे गृह्णन्ति चेत्तदाऽऽकर्षणाऽसम्भवान्मज्जनमेव तस्य, एवं स्वस्य गुणाः स्वयमेव स्तुतिमुखेन गृहीता गर्वाद्यनुषङ्गात्क्षयाद्वा कर्मबन्धप्रयोजकत्वाद्भवंवर्धयन्तीति भवे पातयन्तीत्यर्थः। यदुक्तम् "न सौरूप्यसौभाग्यकरा नृणां गुणाः स्वयं गृहीताः सुदृशां कुचाविव। परैर्गृहीता द्वयमेव तन्वते न तेन गृह्णन्ति बुधा निजान् गुणानि "ति सुष्ठूक्तं श्रेयोद्रुमस्येत्यादिनेत्यात्मप्रशंसा हेयैवेति भावः। अत्र यदेव हितं तदेव पातसाधनत्वादहितमिति विरोधोऽहो इत्यनेन द्योत्यते। तत्परिहारस्तु स्वपररूपविषयभेदादिति विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ३ ॥

नन्वात्मप्रशंसायाः कस्त्यागोपाय इति शिष्यजिज्ञासां पूरयन्नाह —

उच्चत्वदृष्टिदोषोत्थस्वोत्कर्षज्वरशान्तिकम्।
पूर्वपूरुषसिंहेभ्यो भृशं नीचत्वभावनम् ॥ ४ ॥

उच्चत्वेत्यादि। पूर्वपूरुषसिंहेभ्यः–पूर्वे चिरन्तना ये पूरुषा नराः सिंहा इव श्वापदेषु गुणपराक्रमप्रतापादिभिः श्रेष्ठाः सिंहाः पूर्वपूरुषसिंहास्तीर्थङ्करगणधरचक्रिप्रभृतयस्तेभ्यः, तानपेक्ष्येति यावत्। "स्युः पुमांसः पञ्चजनाःपुरुषाः पूरुषा नरा" इत्यमरः। भृशम्–अतिशयेन, नतूपचारार्थमेवेति भावः। नीचत्वभावनम्–नीचत्वं हीनता, अपकर्ष इत्यर्थः। तस्य यद्भावनम्–"तेऽति महान्तः

सुदुर्लभगुणप्रभावा अहं च निर्गुणो दुर्गुणोऽल्पगुणो वा सूर्यस्य पुरस्तात्खद्योत इवेत्येवं परिशीलनम्", मनसि पुनः पुनः स्वस्याऽपकर्षचिन्तनमित्यर्थः । तदेव, उच्चत्वदृष्टिदोषोत्थस्वोत्कर्षज्वरशान्तिकम्–उच्चत्वं निजाऽपेक्षया हीनगुणान् दृष्ट्वा तेभ्यः स्वस्योच्चमत्वं तस्य या दृष्टि र्ज्ञानम्, 'इमेऽतिहीनाः, अहमेतेभ्योऽत्युच्चम' इत्येवं मतिः, सैव, स्वोत्कर्षज्वरहेतुत्वाद्दोषः पित्तादिवैगुण्यमिव दोषः, यद्वोच्चत्वस्योक्तप्रकारस्योच्चत्वविषयत्वादुच्चत्वसम्बन्धिनी या दृष्टि र्ज्ञानं सैव दृष्टे र्ज्ञानस्य दोषो वैगुण्यम्, भ्रम इत्यर्थः । पित्तादिवैगुण्यं च । स्वापेक्षयाऽप्यतिमहतां वर्त्तमानानां पूर्वजानां च बहूनां सत्त्वात्स्वोच्चत्वज्ञानं भ्रम एव, वस्तुतः स्वस्य पूर्वजापेक्षयाऽतिनिकृष्टत्वादिति बोध्यम् । तस्मात्तादृशदोषादुत्तिष्ठतीति स तादृशः, तादृशदोषज इत्यर्थः । तादृशो यः स्वस्याऽऽत्मन उत्कर्षोऽहं महानतिशयशाली वेत्येवं गर्वः स एव ज्वरस्तापप्रदरोगविशेष इव विविधाऽत्युग्रभवतापप्रदत्वाज्ज्वरस्तस्य शान्तिरुपशमः प्रयोजनं यस्य तादृशम्, तादृशज्वरशमनमित्यर्थः । यो हि पूर्वजेभ्यो महद्भ्यः स्वस्य हीनत्वं भावयति स न स्वं प्रशंसति, स्वस्य हीनत्वबुद्ध्योत्तमत्वगर्वाऽभावात्कारणाभावात् । यदुक्तम्– " उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति । अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयत इति"। तस्मादात्मप्रशंसां जिहासुर्महतः पूर्वजान् भावयेत्, न तु स्वतो हीनानिति भावः ॥ ४ ॥

ननु यश्च यावांश्चोत्कर्षः स्वस्य, तस्य तावतो ज्ञानं शंसनं वा न दोषो यथार्थत्वादिति शिष्यतर्कं विनघटयिषुराह—

शरीररूपलावण्यग्रामाऽऽरामधनादिभिः ।
उत्कर्षः परपर्यायैश्चिदानन्दघनस्य कः ? ॥ ५ ॥

शरीरेत्यादि । चिदानन्दघनस्य-चिच्छुद्धं ज्ञानमानन्दः शाश्वताऽखण्डनिरतिशयसुखम्, ते घनः सारांशो यस्य स तादृशश्चिदानन्दघनश्चिदानन्दस्वरूप आत्मा तस्य, निश्चयत आत्मनस्तथास्वरूपमेवेति बोध्यम् । परपर्यायैः-परे आत्मभिन्नाः पुद्गलास्तेषां पर्यायै र्धर्मैः, पुद्गलपरिणामरूपैरात्मनोऽस्वैः, शरीररूपलावण्यग्रामाऽऽरामधनादिभिः-शरीरं दृढं यथाक्रमाङ्गसन्निवेशसुभगं गात्रम्, रूपं शोभनाऽऽकृतिः, लावण्यं मुक्ताफलतरलकान्तिः, यदुक्तम्- "मुक्ताफलस्य च्छायायास्तरलत्वमिवाऽन्तरा । प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यत" इति । ग्रामः स्वभूतो नगरादिः, आरामः स्वमुपवनम्, धनं सुवर्णादि, आदिना स्त्रीपुत्रादिः, एवमेतैः, "रूपं स्वभावे सौन्दर्ये" इति; "आरामः स्यादुपवनमि"ति चामरः । कः—कीदृशः, उत्कर्षः-महत्त्वम्, काक्वा न कोऽप्युत्कर्ष इत्यर्थः । नहि कोऽपि परस्वैर्महान्, अन्यथा सर्वो महानेव स्यात् । अपि तु स्वस्वैः । एवं च परस्वैः स्वं महान्तं मत्वा विकत्थनमबुधजनविलसितमुपहासास्पदं चेति शरीरादिभिः स्वोत्कर्षशंसनं दोष एवाऽवास्तवत्वादिति तद्धेयमेवेति भावः ॥ ५ ॥

वस्तुतस्त्वात्मप्रशंसायां कोऽपि हेतुरेव नास्तीति शिष्यं

अबोधयन्नाह —

शुद्धाः प्रत्यात्मसाम्येन पर्यायाः परिभाविताः ।
अशुद्धाश्चाऽपकृष्टत्वान्नोत्कर्षाय महामुनेः ॥ ६ ॥

शुद्धा इत्यादि । महामुनेः—परमस्य सम्यग्ज्ञानिनो मध्यस्थस्य, एतेन वस्तुनो याथात्म्येन ग्रहसामग्रीसाकल्यमुक्तम् । सम्यग्ज्ञानी मध्यस्थ एव वस्तु याथात्म्येन परिच्छिनत्तीति बोध्यम् । परिभाविताः—परिशीलिताः, याथात्म्येन परिच्छिन्ना इत्यर्थः । सन्त इति शेषः । शुद्धाः-निश्चयनयविषयाः, यथार्था इति यावत्, पर्यायाः—निजात्मधर्माः ज्ञानादयः पर्यायशब्दवाच्याः, प्रत्यात्मसाम्येन—आत्मन्यात्मनीति प्रत्यात्मम्, एकैकशः सर्वजीवेष्वित्यर्थः । साम्येन तुल्यतया हेतुना, जीवमात्रस्यैवाऽन्यूनाधिकज्ञानादिमत्त्वात्, द्रव्यनये जीवानां प्रत्येकं स्वरूपतोऽविशेषादिति भावः । उत्कर्षाय—इतराऽपेक्षया महत्त्वाय, स्वस्येत्यर्थबलाल्लभ्यते, न—नैव, भवन्तीति शेषः । यद्धि सर्वेषां तुल्यं न तत्कृतं महत्त्वं कस्यापि, अपितु तुल्यतैव, महत्त्वे विलक्षणोत्कृष्टधर्मस्य साम्ये च तुल्यधर्मस्य प्रयोजकत्वादिति भावः । अशुद्धाः—परसम्बन्धित्वादारोपितस्वत्ववत्त्वाच्चञ्चलत्वादनिष्टानुबन्धित्वाच्च सदोषाश्चक्रित्वादयः, चेन पर्याया इति सम्बध्यते । अपकृष्टत्वात्—अधमत्वात्, आरोपितत्वेन गौणत्वाद्धेतोरित्यर्थः । उत्कर्षाय नेति सम्बध्यते । नह्यपकृष्टे धर्मैः कोऽप्युत्कृष्टो भवति, अन्यथाऽपकृष्ट एव कोऽपि न स्यात् । व्यवहारतस्तथा सम्भवेऽपि निश्चयतस्तदसम्भवादितिबोध्यम् । शुद्धनयेन हि विचार्ये

आत्मनो द्विविधाःपर्यायाः शुद्धा अशुद्धाश्च । निश्चयत आत्मनः स्वरूपभूताः शुद्धाः । अतएवोत्कृष्टाः । व्यवहारतस्तथाभूता अशुद्धाः, अत एवाऽपकृष्टाः । उत्कृष्टाः सर्वजीवेषु तुल्या इति नोत्कर्षप्रयोजकाः । अपकृष्टाश्च जीवेषु प्रत्येकं तारतम्यवन्तोऽप्यपकृष्टत्वादेव नोत्कर्षप्रयोजका इति न तैरात्मा प्रशंसामर्हति तुल्यत्वादपकृष्टत्वाद्वेति निष्कर्षः । अत्र च तैः पर्यायैर्यो नोत्कर्षमेति स महामुनिः, महामुनिरेव च तादृशैः पर्यायैर्नोत्कर्षं गच्छतीति महामुनेरेति श्लोकान्तपदेन ध्वन्यते ॥ ६ ॥

सम्प्रति शिष्यस्याऽऽत्मप्रशंसातो निवृत्तिं यथा स्यादित्यात्मप्रशंसिन उपालभते—

क्षोभं गच्छन् समुद्रोऽपि स्वोत्कर्षपवनेरितः ।
गुणौघान् बुद्बुदीकृत्य विनाशयसि किं मुधा ? ॥ ७ ॥

क्षोभमित्यादि । समुद्रः—मुद्रा मुनिलाञ्छनम्, सुवर्णादिधनं च, तया सहितः समुद्रो मुनिवरविभूषितो लोकदुर्लभमुनिलिङ्गत्यागादिसत्त्वसम्पन्नःसमुद्र इव स्थिरो गभीरश्चाऽपि वा, आढ्यश्च । अथ च समुद्रः सागरः । अपिनाऽमुद्रस्याऽसमुद्रस्य चाल्पसत्त्वाद्यनीयतयोपेक्ष्यतया चाऽनुपालभ्यता मुच्यते । स्वोत्कर्षपवनेरितः—स्वस्योत्कर्षो गुणाधिक्यगर्वः स एव क्षोभप्रदत्वात्पवनो वायुस्तेनेरितः प्रेरितश्चालितो वा, क्षोभम्—अस्वस्थचित्ततां, अस्थिरत्वं च । गच्छन्—प्राप्नुवन्, गुणौघान्—गुणानां स्वकीयोत्तमधर्माणामोघाः समूहास्तान्, गुणा लक्षणया गुणवन्तो वेगगाम्भीर्याऽऽवर्तादिमन्तो

ये ओघा वारिप्रवाहास्तांश्च, बुद्बुदीकृत्य—अबुद्बुदान् बुद्बुदान् कृत्वा, स्वयं प्रशस्य बुद्बुदवदल्पसारान् कृत्वा, बुद्बुदरूपान् कृत्वा चेत्यर्थः। मुधा-निरर्थकमेव, किमिति क्षेपे, विनाशयसि-नाशं प्रापयसि, नैवं कर्त्तव्यम्, गुणनाशनं ह्यनुचितमित्यर्थः। प्रशंसया गुणनाशान्न किमपि फलं प्रत्युत गुणहानिरेवेति मुधैव गुणनाशनमित्याशयः। समुद्रो हि पवनप्रेरितः क्षुभ्यति, तेन च तत्पूरेषु बुद्बुदा जायन्ते नश्यन्ति चेति प्रसिद्धम्। तथा मुनिरन्यो वा गुणगर्वान्मनसःस्थैर्यं विलोप्य गुणान् बुद्बुदवत्प्रकाशयति, आत्मानं प्रशंसतीति यावत्। तेन च गुणहानिरेव न तु कोऽपि लाभ इत्यात्मप्रशंसा न कर्त्तव्या। तादृशश्चोपालभ्यो धीमतो भवतीत्यपरं वैगुण्यमितिहृदयम्। श्लेषानुप्राणितःपरम्परितरूपकाऽलङ्कारः ॥ ७ ॥

सम्प्रति निर्विकल्पाऽवस्थायामेव सर्वथा स्वगुणकीर्तनान्निवृत्तिः सम्भवतीति परमार्थं शिष्यं प्रबोधयन्नुपसंहरति—

निरपेक्षाऽनवच्छिन्नाऽनन्तचिन्मात्रमूर्त्तयः
योगिनो गलितोत्कर्षाऽपकर्षाऽनल्पकल्पनाः ॥ ८ ॥

इति महामहोपाध्यायश्रीमद्यशोविजयोपाध्यायविरचिते ज्ञानसारेऽनात्मप्रशंसाऽष्टकं नामाऽष्टादशाऽष्टकम् ॥ १८ ॥

निरपेक्षेत्यादि। निरपेक्षाऽनवच्छिन्नाऽनन्तचिन्मात्रमूर्त्तयः—निरपेक्षाऽपेक्षाया विषयादिसम्बन्धिन्या निर्गता सा, विषयाद्यपेक्षाशून्या इत्यर्थः। अनवच्छिन्ना देशविशेषविशेषणरहिता, अनन्ता कालविशेषविशेषणरहिताऽनन्तवस्तुविषयत्वादविनश्वरत्वात्सार्वदैशिकत्वाद्व्यापकत्वाच्चैतावदेतदवधीत्यादिरूपेण देशकालमानरहिता या

चित्केवलं ज्ञानमेव चिन्मात्री मूर्त्तिः स्वरूपं येषां ते तादृशाः, विषयानपेक्षदेशविशेषाऽनपेक्षाऽनन्तवस्तुविषयाऽविनश्वरविशुद्धकेवलज्ञानात्मान इत्यर्थः। केवलज्ञानं ह्यतीताऽनागतविषयमपीति विषयाऽनपेक्षम्, मत्यादिकं च विषयाऽपेक्षम्। तथा केवलज्ञानं सर्वदेशविषयत्वाद्व्यापकमिति देशविशेषाऽनवच्छिन्नम्, मत्यवध्यादिकं तु क्षेत्रविशेषाऽपेक्षम्, एवं केवलज्ञानं नित्यमनन्तद्रव्यपर्यायविषयञ्चेत्यनन्तम्, मत्यादिकं त्वनित्यमसर्वद्रव्यपर्यायविषयं चेति बोध्यम्। केवलिन इति सारार्थः। योगिनः-सिद्धदर्शनज्ञानचारित्राः एव, सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायादेवार्थो लभ्यत इति बोध्यम्। निर्विकल्पात्मान इति निष्कर्षः। गलितोत्कर्षाऽपकर्षाऽनल्पकल्पनाः-गलिता विनष्टोत्कर्षस्य स्वमहत्त्वस्याऽपकर्षस्य परकीयन्यूनताया अनल्पाऽतिबहुः कल्पना विकल्पो येषां ते तादृशाः, स्वोत्कर्षपरापकर्षकीर्त्तनविमुखा इत्यर्थः। भवन्तीति शेषः। तेषां निर्विकल्पात्मत्वाद्विकल्पसामान्याऽभावात्स्वोत्कर्षपरापकर्षविकल्पयोग्यताविरहादिति बोध्यम्। अन्येषां त्वल्पशोऽपि तादृशकल्पनालेपः सविकल्पात्मत्वात्सम्भवत्येवेति तेषां तत्परिहाराय प्रयत्नोऽवश्यविधेय इति हृदयम् ॥ ८ ॥

इति ज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृकविरत्नपन्यासप्रवरश्रीयशोभद्रविजयगणिवरशिष्यपन्यासश्रीशुभङ्करविजयगणिविरचितायां भद्रङ्करोदयाख्यायां व्याख्यायामनात्मप्रशंसाऽष्टकं नामाऽष्टादशाऽष्टकम् ॥ १८ ॥

## ॥ अथ तत्त्वदृष्ट्यष्टकम् ॥

यदुक्तं "निरपेक्षाऽनवच्छिन्नाऽनन्तचिन्मात्रमूर्त्तय" इति। तत्र तादृशचिन्मात्रमूर्तित्वं कथं साध्यमिति शिष्यजिज्ञासां समाधातुं तादृशमूर्त्तित्वसाधिका तत्त्वदृष्टिरेवेत्यष्टकेन निरूपयन्नादौ तस्या विपक्षपरिहारेणात्ममात्रविषयकत्वमाह—

रूपे रूपवती दृष्टिर्दृष्ट्वा रूपं विमुह्यति।
मज्जत्यात्मनि नीरूपे तत्त्वदृष्टिस्त्वरूपिणी ॥ १ ॥

रूपे इत्यादि। रूपवती—रूपमस्या अस्तीति सेति मतुः। न्यायनये तेजस्त्वाद् भास्वरशुक्ला, स्वनये च निर्वृत्त्युपकरणात्मिका शुक्लनीलादिरूपवतीत्यर्थः। दृष्टिः—नेत्रम्, चर्मचक्षुरित्यर्थः। बहिर्दृष्टिरिति यावत्। किञ्च—रूपं लक्षणया रूपवत्स्रक्चन्दनाऽङ्गनादिकं विषयतयाऽस्त्यस्या इति सा, पौद्गलिकविषयाऽभिमुखीत्यर्थः, दृष्टिर्मतिः, लक्षणया तादृशदृष्टिमान् पुरुषश्च। रूपे—रूपं मूर्त्तिरिति तत्त्वार्थाधिगमभाष्यम्, निरूढलक्षणया तद्वति, मूर्ते स्रक्चन्दनाऽङ्गनादावित्यर्थः। रूपम्—सौन्दर्यम्, "रूपं स्वभावे सौन्दर्ये" इत्यमरः। दृष्ट्वा—अवलोक्य, ज्ञात्वा च, विषयीकृत्येति यावत्। यद्वक्ष्यति—"बाह्यदृष्टेः सुधासारघटिता भाति सुन्दरी"ति, "लावण्यलहरीपुण्यं वपुः पश्यति बाह्यदृगि"ति च। विमुह्यति—मोहमेति। सुखाशयाऽन्वेऽपि स्वत्वमसुखेऽपि सुखमारोपयतीत्येवमनुरज्यतीत्यर्थः। रूपवतो रूपिणो रूपेऽनुरागस्तादात्म्याऽध्यवसायश्चोचित एव। यदुक्तम्—'पुद्गलैः पुद्गलास्तृप्तिं यान्ती'ति भावः। तुर्विशेषे

मेदे च । तत्त्वदृष्टि र्बहिर्दृष्टेर्भिन्ना विशिष्टा चेत्यर्थः । तदाह— मज्जतीत्यादि । अरूपिणी—रूपस्य मूर्त्तेरभावोऽरूपम्, तदस्या अस्तीति सा, अमूर्त्तेत्यर्थः । यद्वा रूपं विषयतयाऽस्त्यस्या इति रूपिणी तादृशी न भवतीति साऽरूपिणी, बहिर्विषयाऽनभिमुखीत्यर्थः । तत्त्वदृष्टिः—तत्त्वं वस्तुयाथात्म्यं तस्य तद्विषयीकारात्तत्सम्बन्धिनी दृष्टिर्बुद्धिः, पुद्गलादिकमस्वं विहाय सच्चिदानन्दात्मके स्वस्मिन्नेव स्वत्वाऽध्यवसायशीला च मतिः । सम्यग्ज्ञानमित्यर्थः । विवेकपरिपूतान्तर्दृष्टिरिति यावत् । नीरूपे—रूपान्निर्गतस्तस्मिन्नमूर्त्ते, आत्मनि—सच्चिदानन्दात्मन्येव, मज्जति—तन्मात्रविषयतया तत्रैव लीयते इत्यर्थः । सुखाशयेति बोध्यम् । यो हि वस्तुयाथात्म्याऽज्ञानादस्वे पौद्गलिके बहुमानी स तत्रैव लीयते । ज्ञातवस्तुयाथात्म्यश्च सम्यग्ज्ञानी पौद्गलिकमस्वमसुखानुबन्धि चेति तद्विहाय स्वस्मिन्नेव सच्चिदानन्दात्मके आत्मनि लीनो भवतीति तस्य तादृशात्मलाभादुत्कर्षाऽपकर्षाऽनल्पकल्पना गलतीति बहिर्दृष्टिस्त्याज्या तत्त्वदृष्टिश्चोपादेयाऽऽत्मलाभेच्छुनेति भावः । अत्र रूपवतः समे रूपवत्यरूपिणश्च समेऽरूपे योगवर्णनात्समाऽलङ्कारः ॥ १ ॥

ननु स्तवन्दनाऽङ्गादिभ्यः सुखं सर्वाऽनुभवसाक्षिकमिति किमिति तत्र तत्त्वदृष्टि र्न मज्जतीति शिष्याऽऽशङ्कां निराचिकीर्षुराह—

भ्रमवाटी बहिर्दृष्टि र्भ्रमच्छाया तदीक्षणम् ।
अभ्रान्तस्तत्त्वदृष्टिस्तु नाऽस्यां शेते सुखाशया ॥ २ ॥

भ्रमवाटीत्यादि । बहिर्दृष्टिः–बहिरात्मबाह्यपौद्गलिकस्रक्चन्दनाङ्गनादिविषयत्वाद्बहिरिव स्थिता दृष्टि र्बुद्धिः, रूपे रूपाऽवलोकिनी दृष्टिरसन्मतिश्च । यस्य सः, अनात्मज्ञः पुद्गलानन्दी जनः, भ्रमवाटी–भ्रमस्य तज्जनकत्वात्तत्सम्बन्धिनी, लतापुष्पादीनां वाटी गृहोद्यानमिव वाटी, अस्वे स्वत्वस्याऽसुखे सुखस्य चाऽऽरोपणाद्भ्रमभूमिरित्यर्थः । यद्वा बहिर्दृष्टिविषयत्वाल्लक्षणया बहिर्दृष्टिविषयस्रक्चन्दनाङ्गनादिकमेव बहिर्दृष्टि भ्रमवाटी स्वत्वसुखादिभ्रमस्य विषयतया प्रयोजकत्वाल्लतादीनां वाटीव भ्रमोत्पादस्थानमित्यर्थः । अथ च बहिर्दृष्टि र्बाह्यपौद्गलिकविषयाभिमुखीमति भ्रमवाटी भ्रममयत्वाद्भ्रमभूमिरिति चाऽर्थः । ननु वाच्यां तदनुरूपा तापनिवर्तनक्षमा शमप्रदा च च्छायाऽपि स्यादित्यत आह–भ्रमच्छायेति । तदीक्षणम्–तस्य बहिर्दृष्टेस्तत्कृतत्वात्तत्सम्बन्धि, तस्य स्रगादेस्तद्विषयत्वात्तत्सम्बन्धि, तस्या बहिर्दृष्टेस्तत्कर्तृत्वात्तत्सम्बन्धि वा यदीक्षणं दर्शनमस्वेऽसुखादौ च स्वत्वसुखादेरनुभवः स्रगादौ रूपादिपरिच्छेदश्च स्रगादिविषयग्रहश्च, भ्रमच्छाया–भ्रमात्मिका छाया प्रतिबिम्बम्, यस्य हि वाटी तदनुरूपं प्रतिबिम्बमिति भ्रमवाट्या अस्वादौ स्वत्वादेररूपे रूपादेश्च साक्षात्कारात्मको भ्रम एव छाया । तद्दर्शनं भ्रमात्मकं ततो भ्रम एव जायते इति वाऽर्थः । अत एव न तत आत्मलाभः सुखं वा, नहि भ्रमोऽर्थक्रियाकारीति भावः । तु हेतौ, अत एव, अभ्रान्तः–भ्रमस्पर्शशून्यः, अन्यथा तत्त्वदृष्टयनिर्वाहादिति बोध्यम् । तत्त्वदृष्टिः–तत्त्वे दृष्टिर्यस्य तत्त्वात्मिका वा दृष्टिर्यस्य सः, विवेकपूताऽन्तर्दृष्टि र्वस्तुयाथात्म्यज्ञानवान् जनः,

अस्याम्–उक्तप्रकारायां भ्रमवाट्याम्, सुखाशया–सुखस्य शर्मण आशयेच्छया, सुखं लिप्सुरित्यर्थः । न–नैव, शेते–स्वपिति, सुप्त इव लीनो भवतीत्यर्थः । न तामाश्रयतीति यावत् । नहि कोऽपि शुक्तेस्तत्त्वज्ञस्तत्र रजतबुद्ध्या प्रवर्त्तते । तथा यत्र सुखादिभ्रमो न तु सुखं तत्र तज्ज्ञस्तत्त्वदृष्टिः सुखाशया न प्रवर्त्तते । तत्त्वज्ञत्वस्याऽन्यथाऽनिर्वाहादिति भावः ॥ २ ॥

ननु नहि योगिनोऽलोके भवन्ति, लोके च विषयसम्पर्कः केषामपि दुष्परिहरः । एवञ्च तादृशसम्पर्कजो भ्रमस्तत्त्वदृष्टीनामपि भवेदेवेति शिष्यशङ्कामुच्चिच्छित्सुराह—

ग्रामारामादि मोहाय यद्दृष्टं बाह्यया दृशा ।
तत्त्वदृष्ट्या तदेवाऽन्तर्नीतं वैराग्यसम्पदे । ३ ॥

ग्रामारामादीत्यादि । बाह्यया–बहिर्विषयप्रवणया ग्रामारामादौ स्वत्वसुखादिग्राहिण्या बहिर्भवया चर्मचक्षूरूपया च, दृशा–मत्या नेत्रेणच, दृष्टम्–विषयीकृतं सत्, यत्–यादृशम्, ग्रामारामादि–ग्रामः प्रसिद्धं ग्रामनगरादि, आरामं उपवनं च, आदिना स्त्रीपुत्रसुवर्णादि च, मोहाय–अस्वेऽसुखादिरूपे च स्वत्वसुखादिविकल्पात्मकभ्रमाय, जायते इति शेषः । तत्–तादृशमोहजनकग्रामारामाद्येव, तत्त्वदृष्ट्या–तत्त्वं याथात्म्यम्, इदमस्वमसुखमनित्यमनिष्टानुबन्धि चेत्येवं बहिर्वस्तुयाथात्म्यस्य परिच्छेदिकया दृष्ट्या ज्ञानेन, सम्यग्ज्ञानेनेत्यर्थः । अन्तर्नीतम्–अन्तर्मनसि नीतं विचारितं सत्, दृष्टमित्यर्थः । वैराग्यसम्पदे–विच्छिन्नो रागो विरागः,

रागस्याऽभावो विरागमितिवा, तदेव वैराग्यम्, तस्य सम्पदे समृद्धये, वैराग्याऽऽधिक्यायेत्यर्थः। जायते इति शेषः। सातिशयं वैराग्यं जनयतीत्याशयः। विषया बहिर्दृष्ट्या दृष्टा मोहाय तत्त्वदृष्ट्या दृष्टाश्च वैराग्यायेति निष्कर्षः। विषयाश्चिन्तामणिकल्पा इति ततो दृष्ट्यनुसारेणैव फलम्। नहि विषयाः सम्पृक्ताः स्वतो मोहाय वा वैराग्याय वा। किन्तु दृष्ट्यनुसारेणैव ते फलप्रदाः। बहिर्दृष्टयो हि तानतादृशानपि स्वत्वेन सुखादिनिमित्तत्वेन च पश्यन्तीति तेषां ततस्तादृशमोहात्मकमेव फलम्। तत्त्वदृष्टयस्तु तान् याथात्म्येनैव पश्यन्तीति तेषां न ततस्तादृशो मोहोऽपितु तदनिष्टपरिणामज्ञानात्ततो विरक्तिप्रकर्ष एवेति विषयसम्पर्कस्य दुष्परिहरत्वेऽपि तत्त्वदृष्टीनां ततो लाभ एव न दोष इति बाह्यदृष्टिं विहाय तत्त्वदृष्टये यतनीयमिति हृदयम्॥ ३॥

यदुक्तं मोहाय वैराग्यसम्पदे इति च। तत्र सा कीदृशी दृष्टिर्द्वयी, यतो विभिन्नं फलमिति शिष्यजिज्ञासां समाधित्सु र्बाह्यदृष्टितत्त्वदृष्ट्योर्दृष्टिभेदमेव श्लोकचतुष्टयेन विवृण्वन्नादौ स्त्रीविषय एव तद्विवृणोति—

बाह्यदृष्टेः सुधासारघटिता भाति सुन्दरी।
तत्त्वदृष्टेस्तु सा साक्षाद्विण्मूत्रपिठरोदरी॥ ४॥

बाह्यदृष्टेरित्यादि। बाह्यदृष्टेः—बाह्येषु वनितादिषु दृष्टिर्मतिर्यस्य सः, बहिर्विषयस्य बहुमानिमतेरित्यर्थः। अज्ञानिनो मोहपरवशस्य जनस्येति यावत्। सुन्दरी—लोके सौन्दर्यशालितया ख्याता यथा

क्रमाऽङ्गसन्निवेशादिसमग्रा स्त्री, सुधासारघटिता–सुधाऽमृतं तस्या यः सारो दुग्धादेर्नवनीतादिरिव श्रेष्ठोंऽशस्तेन घटिता निर्मितेवेति लुप्तोत्प्रेक्षा । भाति–प्रतिभाति । पुद्गलानन्दी जनःसुन्दरीं पीयूषत इव ततस्तृप्तिविशेषं मोहादवधार्य सम्भाव्य च सुधाघटितामिव मन्यते इत्यर्थः । परमार्थतोऽनिष्टानुबन्धित्वादिकं तस्या न पश्यति, सुखातिशयनिमित्तमेव तां बुध्यते इत्याशयः । तत्र च स्वस्य बहिर्दृष्टिरेव निमित्तमिति बाह्यदृष्टेरित्यनेन ध्वन्यते । तुर्वैपरीत्ये । तदाह–तत्त्वेत्यादि । तत्त्वदृष्टेः–परमार्थपर्यन्तानुधाविमतेः, फले शुभत्वादेवोपाये शुभत्वग्राहिमतेरिति यावत् । सा–बाह्यदृष्टेः सुधासारघटितेव भान्ती सुन्दरी, साक्षात्–प्रत्यक्षत एव, विन्मूत्रपिठरोदरी–विडवस्करो मूत्रं प्रस्रवणं तयोः पिठरं स्थाली, तद्रूपमित्यर्थः । " पिठरं स्थाल्युखा कुण्डमि"त्यमरः । तादृशमुदरं यस्याः सा तादृशी, भातीति सम्बध्यते । अत्रेदं बोध्यम्–" न हि सौन्दर्यं दृष्टिपरतन्त्रम्, किन्तु वस्तुनिष्ठो धर्मविशेषः । एवञ्च सुन्दरी सर्वेषां सुन्दर्येव । किन्तु बाह्यदृष्टेः परिणामाऽज्ञानाज्ज्ञानेऽपि वा गजनिमीलिकया रागवशादुपेक्षणान्मोहात्सौन्दर्यबुद्ध्या तत्र सातिशयमासक्तिमेति । तत्त्वदृष्टिस्तु तस्या दुष्परिणामत्वात्ततोऽपि बाह्यधर्मानुपेक्ष्येयं वस्तुनो विण्मूत्रपिठरोदरीतिकृत्वा ततो विरज्यते । यदुक्तम्–" मांसमूत्रपुरीषाऽस्थिनिर्मितेऽस्मिन् कलेवरे । विनश्वरे न काऽप्यास्थे"ति । एवं च दृष्टिवशादेव प्रामारामादितो मोहो वैराग्यं वेति बाह्यदृष्टे र्मोहो यतस्तत एव तत्त्वदृष्टेर्वैराग्यमितिभावः ॥ ४ ॥

अथ शरीरविषये दृष्टिमेदं विवृणोति—

लावण्यलहरीपुण्यं वपुः पश्यति बाह्यदृक् ।
तत्त्वदृष्टिः श्वकाकानां भक्ष्यं कृमिकुलाकुलम् ॥ ५ ॥

लावण्येत्यादि । बाह्यदृक्–बाह्याऽनात्मनि बहिर्भूते शरीरादौ समासक्तत्वाद्बहिर्भवेव दृग्दृष्टिर्मतिर्यस्य स तादृशः, उक्तप्रकारो बहिर्दृष्टिर्जनः, वपुः–शरीरम्, सामान्योक्त्या स्वकीयं परकीयं चेति बोध्यम् । लावण्यलहरीपुण्यम्–लावण्यस्य मुक्ताफलतरलकान्तेर्या लहर्यस्तरङ्गा इवानुक्षणमुद्भासनात्परम्परास्ता एव पुण्यमिव सुखजनकत्वात्पुण्यं यत्र तत्तादृशम्, यथाऽऽत्मा पुण्येन राजते तथा लावण्यलहरीभिर्विराजमानमित्यर्थः । "ऊर्मिरुत्कलिकोल्लोलकल्लोललहरिस्तथे"ति कोषः । पश्यति–अवलोकते जानाति च । अज्ञानाद्रागवशाद्वस्तुतोबीभत्समपि गुणवदेव मन्यते । यदुक्तम्–"भ्रमबाटी बहिर्दृष्टिर्भ्रमच्छाया तदीक्षणमि"ति भावः । तदेव वपुः, तत्त्वदृष्टिः–उक्तप्रकारोवस्तुयाथात्म्यग्राही पारमार्थिकमतिर्जनः, कृमिकुलाकुलम्–कृमीणां सूक्ष्मतराणां कीटविशेषाणां कुलैः समूहैराकुलमाकीर्णमार्तं च, श्वकाकानाम्–श्वानः कुक्कुराः, उपलक्षणत्वात्तादृशाः श्वापदाः, काका वायसाः, उपलक्षणत्वाद् गृध्रादयश्च, तेषाम्, भक्ष्यम्–भोज्यम्, पश्यतीति सम्बध्यते । बाह्यदृष्टिर्जनो वपुषि कृम्यादिभिर्बीभत्से श्वकाकभक्ष्यत्वादनित्ये च लावण्यं पश्यन् रज्यते बध्यते च । तत्त्वदृष्टिस्तु तदेव वपुर्वस्तुतो बीभत्समनित्यं चेति नात्मनस्तेन कोऽपि लाभो न वा स्वमिति तत्र ममत्वं विहायाऽऽत्मस्वभाव एव

लीयते । यदुक्तम्-" मज्जत्यात्मनि नीरूपे तत्त्वदृष्टिस्त्वरूपिणी"ति भावः । यद्बोभत्सं दूषितं च तत्र लावण्यभ्रमो बाह्यदृशो न तत्त्वदृश इत्यत एकस्य तत्र मोहोऽपरस्य च ततो वैराग्यमिति हृदयम् ॥ ५ ॥

अथागारविषये दृष्टिभेदं विवृणोति—

**गजाश्वै र्भूपभवनं विस्मयाय बहिर्दृशः ।**
**तत्राऽश्वेभवनात्कोऽपि भेदस्तत्त्वदृशस्तु न ॥ ६ ॥**

गजाश्वैरित्यादि । भूपभवनम्-भुवं महीं पाति रक्षतीति भूपो महीपतिस्तस्य भवनं सदनं कर्तृ, " निशान्तपस्त्यसदनं भवनाऽगारमन्दिरमि'त्यमरः । गजाश्वैः-गजैर्हस्तिभिरश्वैर्हयैश्च, उपलक्षणत्वादन्यैरपि परिजनपरिच्छदधनधान्यादिभिः कृत्वा, बहिर्दृशः-उक्तप्रकारस्याऽज्ञानिनोऽनात्मज्ञस्य विषयस्य बहुमानिनः, विस्मयाय-अहो अद्भुतमेतदित्येवं सहर्षाऽऽश्चर्याय, जायते इति शेषः । सुदुर्लभत्वात्तेषां कृते तादृशसमृद्धेरिति बोध्यम् । बहिर्दृशोऽज्ञानात्पौद्गलिकसमृद्धिं सुदुर्लभं मन्यन्ते इति तद्दृष्ट्वा विस्मयं यान्तीति भावः । तुर्वैपरीत्ये । तत्त्वदृशः-पारमार्थिकमतेः, तत्र-गजाश्वादिसमृद्धे भूपभवने, अश्वेभवनात्-अश्वा हया इभा गजाश्च तेषां तदधिष्ठितत्वात्तत्सम्बन्धि यद्वनमरण्यं तदपेक्ष्येति यञ्लोपे पञ्चमी । कोऽपि-ईषदपि, भेदः-विशेषः, न-नैव, विद्यते इति शेषः । यथा वन्यैर्गजादिभिर्नात्मनः कोऽपि लाभस्तथा भूपभवनस्थैरपि नात्मनः किमपि वैशिष्ट्यमित्यतो वस्तुपरमार्थज्ञानवतां न गजादिसमृद्ध्या विस्मयः, प्रत्युताऽनात्मभूतत्वात्तत्रोपेक्षाऽनात्म-

नीनत्वाद्विरागश्चैव भवतीति दृष्टिभेद एव रागवैराग्ययोः प्रयोजको न तु विषयस्य तत्र कोऽपि स्वकृतो व्यापार इति भावः ॥ ६ ॥

तदेवं वस्तुग्रहणे दृष्टिभेदं निरूप्य वस्तुपरीक्षणे तन्निरूपयति —

भस्मना केशलोचेन वपुर्धृतमलेन वा ।
महान्तं बाह्यदृग् वेत्ति चित्सम्राज्येन तत्त्ववित् ॥ ७ ॥

भस्मनेत्यादि । बाह्यदृक्—वस्तुबहिर्गुणबहुमान्यपरमार्थज्ञो वस्तुपरीक्षायामपटुर्जनः, भस्मना—देहसमालिप्तेन भसितेन कृत्वा, केशलोचेन—केशाः कचास्तेषां लोचो लुञ्चनं हस्तेनोन्मूलनं तेन कृत्वा, वा—तथा, वपुर्धृतमलेन—वपुषा शरीरेण धृतोऽनपाकरणाद् धृत इव यो मलः प्रस्वेदादिभिः संश्लिष्टधूल्यादिस्तेन कृत्वा, महान्तम्—श्रेष्ठम्, महात्मानमित्यर्थः । वेत्ति—अवधारयति, बहिर्दृष्टिर्हि जनो बाह्योपाधिभिरेव वस्तुवैशिष्ट्यमवधारयति, अन्तस्तत्त्वपरीक्षणसाधनविकलत्वादिति शोचनीयः सः, कदाचिद्भञ्जनस्याऽपि सम्प्राप्तेः । बहिर्दृष्टि र्बहिर्गुणेष्वेव रज्यतीति यावत् । तत्त्ववित्—वस्तुनोऽन्तस्तत्त्वग्राहिबुद्धिर्बहिरुपाधिभिरप्रभावितमतिर्जनः, चित्सम्राज्येन—चित्सम्यग्ज्ञानम्, तस्य यत्साम्राज्यं वैभवं तेन कृत्वा, महान्तं वेत्तीति सम्बध्यते । यो हि ज्ञानी, वस्तुतः स एव महान् । वेषमात्रस्याऽकिञ्चित्करत्वात् । एवञ्च ज्ञानमेव महत्त्वप्रयोजकम् । अतस्तत्त्वविज्ञानेनैव महान्तं वेत्ति । बहिर्दृक्त्वन्तस्तत्त्वनिरीक्षणाऽक्षमो बहिरुपाधिबहुमानी वेषेणैव महान्तं वेत्ति । इतश्च

स्वस्याऽन्यस्य च तं गुणं प्रशंसति, कदाचिद्वञ्च्यतेऽपि दम्भिना। यदुक्तम्-"दम्भस्य स्फुरितं विदन्नपि जनो जाल्मो गुणानीहत" इति। अत एव बहिर्गुणदृष्टि र्बहिर्दृष्टिरन्तस्तत्त्वदृष्टिस्तत्त्वदृष्टिरित्युच्यते। एवञ्च बहिर्दृष्टिपरिहारेण तत्त्वदृष्टये सर्वथा यतनीयम्, यथा न वञ्चित स्यादात्मप्रशंसातश्च विरतो भवेदिति तात्पर्यम् ॥ ७ ॥

तदेवं तत्त्वदृष्टयस्तत्त्वं दर्शयित्वा विश्वस्योपकुर्वन्तीति शिष्यं प्रबोधयन्नुपसंहरति—

न विकाराय विश्वस्योपकारायैव निर्मिताः।
स्फुरत्कारुण्यपीयूषवृष्टयस्तत्त्वदृष्टयः ॥ ८ ॥

इति महामहोपाध्यायश्रीमद्यशोविजयोपाध्यायविरचिते ज्ञानसारे तत्त्वदृष्ट्यष्टकं नामैकोनविंशतितमाऽष्टकम् ॥ १९ ॥

न विकारायेत्यादि। स्फुरत्कारुण्यपीयूषवृष्टयः-स्फुरत्सामान्यभावेन सर्वतः प्रसरद्व्यक्तं च करुणैव कारुण्यमेव पीयूषवृष्टिरिवोपकारित्वाच्छुभपरिणामप्रदत्वाच्च पीयूषवृष्टिरमृतसेको येषां ते तादृशाः, निर्हेतुकपरमकारुणिका इत्यर्थः। या हि करुणा प्रयोजनवशान्न सा पीयूषतुल्याऽपितु निकृष्टेति बोध्यम्। एतेनोपकारसामग्रीसाकल्यमप्युक्तम्। नहि विना तादृशकरुणां कोऽपि निर्निमित्तमुपकरोतीतिध्येयम्। तत्त्वदृष्टयः-यथावस्थितवस्तुपरमार्थज्ञा जनाः, विश्वस्य-उपलक्षणत्वात्तात्स्थ्यात्तच्छब्दन्यायात्प्राणिनः, उपकाराय-वस्तुतत्त्वोपदेशादिनाऽज्ञानात्मकबहिर्दृष्टिनिवृत्तिपूर्वकसज्ज्ञानात्मकहितायैव, एवकारव्यवच्छेद्यमाह—

न–नैव, विकाराय–वस्तुन उपचरितरूपोपदेशादिनाऽज्ञानात्मकाऽपकाराय, निर्मिताः–लब्धात्मलाभाः, प्राप्तजन्मान इत्यर्थः। सन्तीति शेषः। नहि स्वमते कस्याऽपीश्वरादिना निर्माणमपि तु कर्मवशात्स्वयमेव प्राणिनो निर्मीयन्त इति बोध्यम्। तत्त्वदृष्टयो हि प्रयोजनाऽभावेऽपि निर्हेतुकपरमकारुणिकत्वादेव तत्त्वोपदेशेन विश्वस्योपकुर्वन्ति, न तु कदाचिदपि दाम्भिकवदपकुर्वन्त्यपीति तत्त्वदृष्टय एव सर्वथा प्रशस्या आश्रयणीयाश्चेति भावः ॥ ८ ॥

इति ज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृकविरत्नपन्यासप्रवरश्रीयशोभद्रविजयजीगणिवरशिष्यपन्यासश्रीशुभङ्करविजयगणिविरचितायां भद्रङ्करोदयाख्यायां व्याख्यायां तत्त्वदृष्टयष्टकं नामैकोनविंशतितमाऽष्टकम् ॥ १९ ॥

---

## ॥ अथ सर्वसमृद्ध्यष्टकम् ॥

नन्वस्तु तत्त्वदृष्टिस्तत्त्वदृष्टया विश्वस्योपकाराय, तया तस्य को लाभोऽन्तरेणोक्ततत्त्वदृष्टिमाहात्म्याद् ग्रामारामादिसमृद्ध्यनुपभोगमिति शिष्योपालम्भं सर्वसमृद्ध्यष्टकेनाऽवनिनीषुरादौ सर्वसमृद्धिलाभमेवाह—

बाह्यदृष्टिप्रचारेषु मुद्रितेषु महात्मनः।
अन्तरेवाऽवभासन्ते स्फुटाः सर्वाः समृद्धयः ॥ १ ॥

बाह्येत्यादि। बाह्यदृष्टिप्रचारेषु–बाह्यदृष्टिरुक्तप्रकारा रूपवतीदृष्टिस्तस्या ये प्रचारा व्यापारा रूपे रूपदर्शनाद्यात्मकाः पूर्वोक्ता-

स्तेषु, मुद्रितेषु–निमीलितेषु, निरुद्धेषु सत्स्वित्यर्थः। तन्निरोधश्च तत्त्वदृष्टिसमाश्रयेण कृत्वा, द्वयोर्मिथो विरोधादेकतराऽऽश्रयणस्याऽन्यतरपरिहाराऽविनाभावित्वात्तदुभयभिन्नदृष्टेरभावाच्चेति बोध्यम्। एवञ्च बाह्यदृष्टिनिमीलनपूर्वकतत्त्वदृष्ट्युन्मीलने सतीति निष्कर्षः। महात्मनः–तत्त्वदृष्टिसद्भावेन प्राप्ताऽऽत्मप्रकर्षस्य पुरुषश्रेष्ठस्य, एतेन बहिर्दृष्टिनिमीलनमेव माहात्म्यमिति सूच्यते। अन्तः–आत्मन्येव, नतु बहिरित्येवकारार्थः। आत्मधर्मरूपेणेति बोध्यम्। एवञ्च तस्य न ग्रामारामादिबहिःसमृद्धिसङ्ग्रहक्लेशोऽपीति महत्सौकर्यम्, तत्त्वदृष्टीनां बहिःसमृद्धेस्तत्त्वाऽभावाच्च। यदुक्तम् "तत्राऽऽधेभवनात् कोऽपि भेदस्तत्त्वदृशस्तु ने" बोध्यम्। स्फुटाः–अतिप्रकटं लब्धात्मलाभाः, स्फुटमनुभूयमाना इत्यर्थः। सर्वाः–सर्वप्रकारा इन्द्रादिसम्बन्धिन्यो न तु काश्चिदेव, समृद्धयः–सम्पत्तयः, ऐश्वर्यमित्यर्थः। अवभासन्ते–अनुभवपथमायान्ति, स्वयमनुभूयमानतां यान्तीत्यर्थः। बहिर्दृष्टिमुद्रणे आत्मगुणप्रकर्ष एव सर्वसमृद्धिः, तत एव हि निरतिशयस्वभावसुखसाक्षात्कार इत्यल्पस्य हानि र्बहोश्च लाभ इति न तत्त्वदृष्टिरुपालम्भमर्हतीति तात्पर्यम् ॥ १ ॥

यदुक्तं 'सर्वाः समृद्धय' इति, तच्छिष्यप्रबोधाय विशेषतो विवुर्वूर्षुरादाविन्द्रसमृद्धिमेव विवृणोति—

समाधि र्नन्दनं धैर्यं दम्भोलिः समता शची।
ज्ञानं महाविमानं च वासवश्रीरियं मुनेः ॥ २ ॥

समाधिरित्यादि। समाधिः–योगः, स च ध्यातृध्येयध्यानै-

क्यम्, यदुक्तम्–" ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं त्रयमेकात्मतां गतम्। इति ते योगमाहात्म्यं कथं श्रद्धीयतां परैरि 'ति, तद्रूपमित्यर्थः। नन्दनम्–तदाख्यो देवेन्द्रारामः, यथा देवेन्द्रो नन्दने रमते तथा समाधौ मुनिरिति मुनेः स एव तत्। धैर्यम्–उपसर्गादौ सत्यपि न ग्लान्याद्यनुभवोऽप्रियसहनं स्वव्यवसाये समुत्साहश्चेत्येतत्त्रयात्मकं धीरत्वम्, तद्रूपमित्यर्थः। दम्भोलिः–वज्रम्, यथा देवेन्द्रो वज्रेण प्रतिपक्षिणो जयति तथा मुनि धैर्येणोपतापिन उपसर्गादीनिति धैर्यं वज्रमित्याशयः। समता–साम्यम्, समचित्तवृत्तितेत्यर्थः। प्रियाऽऽप्तौ हर्षस्याऽप्रियाऽऽप्तावुद्वेगस्य चाऽभावः सर्वप्राणिषु समदृष्टिश्च, शची–इन्द्रपत्नीन्द्राणी, यथा हीन्द्राणीन्द्रस्य रतिप्रदा तथा समता मुनेरात्मरतिप्रदेति समता शची। ज्ञानम्–सम्यग्ज्ञानम्, यथावस्थितवस्तुतत्त्वज्ञानमिति यावत्। तद्रूपमित्यर्थः। महाविमानम्–महदितराऽपेक्षया विशालं गुणाढ्यं च विमानं व्योमयानम्। " व्योमयानं विमानोऽस्त्री " त्यमरः। यथा देवेन्द्रस्य विमानं सर्वमहत्सर्वोत्कृष्टं सर्वगमप्रतिहतं च तथा मुने र्ज्ञानं बहुविषयत्वात्सर्वमहद्यथावस्थितवस्तुविषयत्वात्सर्वोत्कृष्टं सर्वद्रव्यपर्यायविषयत्वात्सर्वगं पारमार्थिकत्वादप्रतिहतं चेति ज्ञानं महाविमानम्। चः–समुच्चये। इयम्–वर्ण्यमाना समाध्याद्यात्मिका, मुनेः–तत्त्वदृशः, एतेन मुनेरेवेदृशी समृद्धिर्नाऽन्यस्येति सूच्यते। वासवश्रीः–वासवस्येन्द्रस्य श्रीः समृद्धिरिव श्रीः। वासवस्य हि नन्दनादिकमेव समृद्धिः, मुनेश्चाऽपि समाध्याद्यात्मकनन्दनादिसमृद्धिरिति मुनेरियं समृद्धिर्वासवश्रीरिति तात्पर्यम्। यद्यपि समाध्यादीनां नन्दनाद्यपे-

क्षयाऽतिमहानुत्कर्षस्तथापि बोधार्थं न्यूनेन कृत्वाऽप्यधिकस्य निरूपणमिति सन्तोष्टव्यम् । अत्र रूपकाऽनुप्राणिता निदर्शनाऽलङ्कारः ॥ २ ॥

अथ तत्त्वदृशश्चक्रवर्तिसमृद्धिमाह—

**विस्तारितक्रियाज्ञानचर्मच्छत्रो निवारयन् ।**
**मोहम्लेच्छमहावृष्टिं चक्रवर्त्ती न किं मुनिः ॥ ३ ॥**

विस्तारितेत्यादि । विस्तारितक्रियाज्ञानचर्मच्छत्रः-विस्तारिते, चर्मच्छत्रपक्षे विकासिते विस्फारिते वा, क्रियाज्ञानपक्षे चाऽप्रमत्ततया साफल्येनाऽनुष्ठितं विशुद्धं समस्तवस्तुविषयं चेत्यर्थः । क्रिया चारित्रं च ज्ञानं सम्यग्ज्ञानं च ते रत्ने, तद्रूपे इत्यर्थः । चर्म चर्मरत्नं च छत्रं छत्ररत्नं च ते येन स तादृशः सन्नित्यर्थः । विस्तारणप्रयोजनमाह–निवारयन्नित्यादिना । मोहम्लेच्छमहावृष्टिम्–मोहो मोहनीयकर्मैव भक्ष्याभक्ष्यकार्याकार्यहेयोपादेयविवेकवैकल्यसद्भावात्सम्यक्त्ववतः सतः परिपन्थित्वाच्च म्लेच्छो यवनः किरातो वा तत्प्रयोजिता या महावृष्टि र्महान् नैरन्तर्येण चिरं च रागद्वेषाद्याविर्भावात्मको धारासम्पातः, ताम्, निवारयन्–निष्फलं कुर्वन् । चक्रिणे क्रुद्धा हि म्लेच्छा देवानाराध्य महावृष्टिं कारयामासुः । चक्री च चर्मरत्नं छत्ररत्नं च विस्तार्य स्वस्य सैन्यस्य च बाधाऽभावात्तां निष्फलां चकारेति चक्रिचरितम् । तथा क्रियया ज्ञानेन च मोहजनितरागद्वेषादयो जीयन्ते । चर्मरत्नस्य तत्रोप्तबीजानां झटिति परिणमयितृत्वं सर्वसैन्याधारत्वं च, क्रियाया अपि सर्वगुणवर्ध-

कत्वं धर्माधारत्वं चेति क्रिया चर्मरत्नम् । छत्ररत्नं च समापतन्त्या वृष्टे रक्षति, ज्ञानं च समापततो मिथ्यात्वाद्रक्षति, तज्ज्ञानं छत्ररत्नमिति तात्पर्यम् । तादृशगुणविशिष्टः, मुनिः-तत्त्वदृष्टिः, चक्रवर्त्ती-सार्वभौमः सम्राट्, किं न-किं नास्ति, काक्वाऽपि त्ववश्यमेवाऽस्ति, चक्रिसमृद्धिभूतरत्नसद्भावाऽन्यथाऽनुपपत्तेरितिभावः । उक्तरीत्या चक्रिसमृद्धिमान् मुनिरिति सारः । परम्परितरूपकाऽलङ्कारः ॥ ३ ॥

अथ नागराजसमृद्धिमाह—

**नवब्रह्मसुधाकुण्डनिष्ठाऽधिष्ठायको मुनिः ।**
**नागलोकेशवद्भाति क्षमां रक्षन् प्रयत्नतः ॥ ४ ॥**

नवब्रह्मेत्यादि । नवब्रह्मसुधाकुण्डनिष्ठाऽधिष्ठायकः—नवमतीचारपरिहीणत्वादतिविशुद्धत्वादितरविलक्षणत्वान्नवीनमिवाऽपूर्वम्, वसतिकथानिषद्येन्द्रियनिरीक्षणकुड्यान्तरस्थितिपूर्वक्रीडितस्मरणप्रणीताहाराऽतिमात्राहारविभूषावर्जनात्मकनवसङ्ख्याकगुप्तिसाध्यत्वान्नवसङ्ख्याकं च, नवधेयर्थः । तीर्थान्तरप्रसिद्धस्पर्शनभाषणादिविरमणात्मकत्वाच्च नवभेदं च, यद्ब्रह्म ब्रह्मचर्यं मैथुनविरमणात्मकम्, उपलक्षणत्वाच्चारित्रमात्रं च, तदेव सर्वरोगोपशमनिर्जरत्वाऽमरत्वाऽलौकिकतृप्तिप्रदत्वात्सुधाया अमृतस्य तत्संभृतत्वात्तत्सम्बन्धि यत्कुण्डं पात्रं तद्रूपम् । यथा हि सुधाकुण्डादादाय सुधायाः पानात्सर्वरोगोपशमादि तथा ब्रह्माराधनेन कर्मक्षयात्सम्यग्ज्ञानप्राप्तिपूर्वकं जन्ममरणादिसर्वविधदुःखनाशः शाश्वताऽखण्डमोक्षसुख-

भासिश्चेति ब्रह्म सुधाकुण्डमिति भावः। "पिठरं स्थाल्युखा कुण्डमि"त्यमरः। तस्य या निष्ठा दानवेभ्यो रागादिभ्यस्तदुपहतं मा भूदित्येवं निरुपद्रवा स्थिति स्तदधिष्ठायकः समर्थोऽधिकारी, बलवान् पालक इत्यर्थः। निजात्मवीर्येण निरतीचारब्रह्मचर्यात्मक-सुधाकुण्डपालकपुङ्गव इति समुदायार्थः। तादृशः सन्निति बोध्यम्। प्रयत्नतः-सश्रमम्, बलवता प्रयासेनेत्यर्थः। क्षमाम्-सत्यपि दण्डसामर्थ्येऽपराधसहनात्मिकां क्षान्तिं पृथिवीं च, रक्षन्-धारयन्, शिरस्युत्तोलयंश्च। मुनिः-सम्यक्त्वसम्पन्नस्तत्त्वदृष्टिः साधुः, नागलोकेशवत्-नागलोकः पातालं तस्येशः स्वामी शेषनागस्तद्वत्तेन तुल्यम्, "अधोभुवनपातालं बलिसद्म रसातलम्। नागलोक" इत्यमरः। भाति-विराजते। शेषनागो हि सुधाकुण्डं दानवेभ्यो रक्षति पृथिवीं च शिरस्युत्तोल्य धारयतीति पौराणिकाः। तदेषा-ऽस्य महती विभूतिरसाधारणत्वादन्यैरसाध्यत्वाच्च। मुनिरपि च ब्रह्मात्मकं सुधाकुण्डं रागादिभ्यो रक्षति क्षमां च धारयतीति द्वयोः सादृश्यम्। एवञ्च नागलोकेशवत्समृद्धिर्मुनेरिति भावः। अत्र रूपकश्लेषाऽनुप्राणितोपमाऽलङ्कारः ॥ ४ ॥

लोकेऽन्यैः शिवविष्णुब्रह्माणः सर्वाधिकसमृद्धिमन्तो मन्यन्ते, अतस्तत्समृद्धिरपि तत्त्वदृशः सुलभेति प्रतिपादयन्नादौ शिव-समृद्धिमेवाऽऽह—

मुनिरध्यात्मकैलासे विवेकवृषभस्थितः।
शोभते विरतिज्ञप्तिगङ्गागौरीयुतः शिवः ॥ ५ ॥

मुनिरित्यादि। अध्यात्मकैलासे-आत्मनीत्यध्यात्मं गत-

मोहस्याऽऽत्मानमधिकृत्य प्रवृत्ता शुद्धा क्रिया । यदुक्तम्–" गतमोहाऽधिकाराणामात्मानमधिकृत्य या । प्रवर्त्तते क्रिया शुद्धा तदध्यात्मं जगुर्जिनाः " इति । तदेव शुद्धत्वाद् दुरधिगम्यत्वान्मुनिशिवैकाऽधिष्ठितत्वाच्च कैलासस्तदारूयोऽद्रिस्तत्र, तद्विषये इत्यर्थः । **विवेकवृषभस्थितः**–विवेकश्चेतनाऽचेतनभेदग्राहिमतिः, यदुक्तम्–" कर्मजीवञ्च संश्लिष्टं सर्वदा क्षीरनीरवत् । विभिन्नीकुरुते योऽसौ मुनिहंसो विवेकवान् " इति । स एव विशुद्धत्वादिष्टपरमपदादिस्थानप्रापकत्वाच्च वृषभो नन्द्यारूयो बलीवर्दः रूयातः शिववाहनस्तत्र स्थितस्तमधिष्ठितः, शुद्धविवेकवानित्यर्थः । तथा, **विरतिज्ञप्तिगङ्गागौरीयुतः**–विरतिः सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिरूपं चारित्रम्, ज्ञप्तिः सम्यग्ज्ञानम्, ते एव मुरूयत्वान्मूर्धन्यत्वात्सकलकर्ममलापहारकत्वादात्माऽभेदान्मुक्तिसुखात्मकरतिप्रदत्वाच्च यथाक्रमं गङ्गागौर्यौ मन्दाकिनीपार्वत्यौ ताभ्यां युतः समन्वितः, मुनिः–तत्त्वदृक् साधुः, शिवः–महादेवस्तीर्थान्तरप्रसिद्धस्त्रिलोचनो देवविशेषस्तद्रूपः शोभते–विराजते । पौराणिका हि शिवं कैलासे वृषवाहनं मूर्धनि गङ्गयाऽर्धनारीनटेश्वररूपेण गौर्या च विराजितं वर्णयन्ति, मुनिरप्युक्तप्रकारेण तथेति मुनिः शिवसमृद्धिमानिति भावः ॥ रूपकाऽलङ्कारः ॥ ५ ॥

अथ तत्त्वदृशो विष्णुसमृद्धिमाह—

ज्ञानदर्शनचन्द्रार्कनेत्रस्य नरकच्छिदः ।
सुखसागरमग्नस्य किं न्यूनं योगिनो हरेः ॥ ६ ॥

ज्ञानेत्यादि । ज्ञानदर्शनचन्द्रार्कनेत्रस्य–ज्ञानं वस्तुनो विशेषधर्मग्राहिसम्यग्ज्ञानं दर्शनं तत्त्वार्थश्रद्धानं वस्तुसामान्यस्वभावपरिच्छेदिबोधो वा ते एव वस्तुप्रकाशकत्वात्कर्मक्षयद्वारा भवतापाऽपहारकत्वान्मुक्तिसुखात्मकाऽऽह्लादप्रदत्वाद्विलक्षणरुचिमयत्वात्तत्त्वालोकपटुत्वाच्च यथाक्रमं चन्द्रार्कौ सोमसूर्यौ, ते नेत्रे वस्तुप्रत्यक्षसाधनभूते बहिर्दृशावन्तर्दृशौ च यस्य स तादृशस्तस्य, ज्ञानदर्शनद्वयात्मकचन्द्रसूर्यरूपनेत्रद्वयसमन्वितस्येत्यर्थः । नरकच्छिदः–ज्ञानादिना सर्वकर्मक्षयान्नरकगतिप्रयोजककर्मनाशान्नरकनाशान्नरकं दुर्गतिं छिनत्तीति स तादृशस्तस्य, कर्मक्षयान्नरकगतिरहितस्येत्यर्थः । नरकासुरनाशकस्य च । तथा, सुखसागरमग्नस्य–सुखमात्मसुखं तदेव शाश्वताऽखण्डाऽनन्तत्वात्सागरः क्षीरोदधिस्तत्र मग्नस्तदेकानुभवलीनः सुप्तश्च, तस्य तादृशस्य, योगिनः–तत्त्वदृशः, हरेः–हरिमपेक्ष्येति यञ्लोपे पञ्चमी । बुद्धिकृताऽपादाने वा पञ्चमीबोध्या । किम्–किंनाम वस्तु, न्यूनम्–अल्पम्, काक्वा न किमपि न्यूनमपितु तुल्यमेवेत्यर्थः । पौराणिका हि विष्णुर्नरकासुरहन्ता क्षीरसागरशायी, तथा तस्य चन्द्रार्कौ नेत्रे इति विष्णुविभूतिं वर्णयन्ति, तदुक्तरीत्याऽविकलं मुनेरपीति तत्त्वदृग्विष्णुसमृद्धिमानिति भावः । रूपकश्लेषाऽनुप्राणितोपमाऽलङ्कारः ॥ ६ ॥

अथ तत्त्वदृशो ब्रह्मसमृद्धिमाह—

या सृष्टिर्ब्रह्मणो बाह्या बाह्याऽपेक्षावलम्बिनी ।
मुनेः परानपेक्षाऽन्तर्गुणसृष्टिस्ततोऽधिका ॥ ७ ॥

या सृष्टिरित्यादि । ब्रह्मणः–पौराणिकप्रसिद्धस्य चतुर्मुखस्य विधातुः, तत्कृतत्वात्तत्सम्बन्धिनीत्यर्थः । बाह्याऽपेक्षाऽवलम्बिनी–बाह्यस्य बहिर्भूतस्य पञ्चमहाभूतादे र्याऽपेक्षा स्वविधेये निमित्तभावादाकाङ्क्षा तदविनाभावितयाऽऽवश्यकसन्निधिस्तदवलम्बिनी तदाश्रया, बाह्यभूताद्यधीनात्मलाभेत्यर्थः । या–यत्प्रकारा वर्णिता, सृष्टिः–जगत्सर्गः, यत्तदो र्नित्यसम्बन्धात्सेति लभ्यते । बाह्या–बहिर्भवैव, अनात्मधर्मत्वादनात्मनीनत्वाद्विनश्वरत्वादनिष्टानुबन्धित्वाद्धेयेत्यर्थः । बाह्यचाण्डालादिवदस्पृश्यत्वान्निकृष्टतमेति यावत् । ब्रह्मणेयं सृष्टिः कृतेति पौराणिका इति बोध्यम् । मुनेः–तत्त्वदृशः, तत्कृतत्वात्तत्सम्बन्धिनीत्यर्थः । परानपेक्षा–परस्याऽऽत्मभिन्नस्य भूतादेरनपेक्षाऽनिमित्तत्वेनाऽनाश्रया, गुणसृष्टिः–गुणानां दर्शनज्ञानादीनामुपार्जनात्मकं निर्माणम् , अन्तः–अन्तर्भवा, आत्मधर्मत्वादात्मनीनत्वादविनश्वरत्वाच्छुभानुबन्धित्वादुपादेयेत्यर्थः । अवश्योपादेयत्वादत्युत्कृष्टेति यावत् । यद्वा–बाह्या बहिर्भवा या ब्रह्मणः सृष्टिः सा बाह्यापेक्षावलम्बिनी, अन्त र्या मुने र्गुणसृष्टिः सा परानपेक्षेत्यन्वयः । अत एव, ततः–बाह्यापेक्षब्रह्मसृष्टितः, अधिका–उत्कृष्टा । सापेक्षतो हि निरपेक्षस्योत्कर्षः सर्वलोकप्रसिद्धः । यद्वा–ततः–तस्मात्परानपेक्षत्वाद्धेतोः, अधिका–मुने र्गुणसृष्टिरुत्कृष्टेत्यर्थः ब्रह्मणो विभूतिः सृष्टिः पौराणिकप्रसिद्धा, मुनेश्चाऽतिशयिता सृष्टिरिति मुनि ब्रह्मणा समविभूतिरेव न, किन्तु तदधिकविभूतिरिति तत्त्वदृष्टेर्महन्माहात्म्यमिति भावः । अत्रोपमानस्योपमेयाधिक्यवर्णनाद्व्यतिरेकाऽलङ्कारः ॥ ७ ॥

अलौकिकाऽसाधारणाऽतिशयसमग्रत्वादर्हतः समृद्धिः सर्वोत्कृष्टा सर्वाधिका च । तत्त्वदृशः साऽपि न दुर्लभेत्युपसंहरन्नाह—

रत्नैस्त्रिभिः पवित्रा या स्रोतोभिरिव जाह्नवी ।
सिद्धयोगस्य साऽप्यर्हत्पदवी न दवीयसी ॥ ८ ॥

इति महामहोपाध्यायश्रीमद्यशोविजयोपाध्यायविरचिते ज्ञानसारे सर्वसमृद्ध्यष्टकं नाम विंशतितमाऽष्टकम् ॥ २० ॥

रत्नैरित्यादि । या—यादृशी प्रसिद्धा, अर्हत्पदवी—अर्हतो जिनेश्वरस्य पदवी स्थिति र्मर्यादा पदं वा, आर्हन्त्यमित्यर्थः । सहजदेवकृतमहाप्रातिहार्याऽतिशयसमग्रतेति यावत् । त्रिभिः—त्रिसङ्ख्यैः, रत्नैः—रत्नवदनर्घ्यत्वाद्दुरापत्वादुत्तमत्वाच्च रत्नरूपैः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रै रत्नत्रयैः, स्रोतोभिः—स्वयंप्रवाहैः, ' स्रोतोऽम्बुसरणं स्रवत ' इत्यमरः । त्रिभिरित्युरमाबलात्सम्बध्यते । जाह्नवी—गङ्गेव, गङ्गाया भूर्भुवःस्वस्त्रयः प्रवाहा इति पौराणिका इति भावः । पवित्रा—निर्मला, पूजनीया, सकलकर्ममलाऽपहरणेन पवित्रीकरणात्पवित्रा च । सा—तादृशयर्हत्पदवी, अपिनाऽन्यस्य तु कथैव केति सूच्यते । सिद्धयोगस्य—सिद्ध आराधनया निष्पन्नो योगः समताख्यश्चतुर्थो योगो ज्ञानक्रियाभक्तिध्यानादियोगो वा यस्य स तादृशस्तस्य, योगिनस्तत्त्वदृश इत्यर्थः । न—नैव, दवीयसी—अतिदूरभवा, अपि त्वनतिदूर एवेत्यर्थः । योगिनोऽर्हत्त्वमपि न दुर्लभमिति निष्कर्षः । तस्मात्तत्त्वदृष्टिसमाश्रयेण कृत्वा योगोऽवश्यं

साधनीयो यथाऽन्तरेव सर्वाः समृद्धयोऽवभासेरन्निति भावः ॥ ८ ॥

इति ज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृकविरत्नपन्यासप्रवरश्रीयशोभद्रविजयजीगणिवरशिष्यपन्यासश्रीशुभङ्करविजयगणिविरचितायांभद्रङ्करोदयाख्यायां व्याख्यायां सर्वसमृद्ध्यष्टकं नामविंशतितमाऽष्टकम् ॥ २० ॥

---

## ॥ कर्मविपाकचिन्तनाऽष्टकम् ॥

यदुक्तं "सिद्धयोगस्थे" ति, तत्र मुनिनाऽपि लोकिकसुखदुःखयोरस्वस्थेन न कोऽपि योगः साध्यः । स्वास्थ्ये च कर्मविपाकचिन्तनं सहकारीति शिष्यप्रबोधार्थं कर्मविपाकचिन्तनाऽष्टकं विवक्षुरादौ स्वास्थ्यमेवोपदिशन्नाह—

दुःखं प्राप्य न दीनः स्यात्सुखं प्राप्य च विस्मितः ।
मुनिः कर्मविपाकस्य जानन् परवशं जगत् ॥ १ ॥

दुःखमित्यादि । मुनिः—सम्यक्त्वसम्पन्नः साधुः, जगत्—तात्स्थ्यात्तांच्छब्द्यमिति जगज्जन्तुजातम्, कर्मविपाकस्य—कर्मणां ज्ञानावरणीयादीनां शुभाशुभात्मकानां कर्मपदवाच्यानां तज्जन्यत्वात्तत्सम्बन्धीत्यर्थः । यो विपाकः परिणामः, फलजनकत्वेनोदय इत्यर्थः । तस्य, परवशम्—पराधीनम्, यादृशफलजनककर्मोदयस्तादृशमेव फलं सुखं वा दुःखं वा न तु स्वाधीनम्, अन्यथा सर्वः सुख्येव भवेदिति भावः । "तन्त्राऽऽयत्तवशाऽधीनच्छन्दवन्तः परात्परे" इति हैमः । जानन्—श्रुताद्यभ्यासलब्ध-

सम्यग्ज्ञानेनाऽवधारयन् सन्, दुःखम्—अनिष्टसम्प्रयोगेष्टवियोग-जनितमनभिमताऽनुभवविषयं दुःखपदवाच्यं तद्धेतुं परीषहोप-सर्गादिकं च, प्राप्य—लब्ध्वा, अनुभवन्नित्यर्थः । दीनः—कृपणः, 'अहमत्यन्तं दुर्गतः, ममैव सर्वोपाधयः कुत' इत्येवंशोकाकुल इत्यर्थः । सुखम्-अनिष्टविप्रयोगेष्टसम्प्रयोगजनितमभिमतानुभव-विषयं तद्धेतुं च, प्राप्य—लब्ध्वा, अनुभवन्नित्यर्थः । विस्मितः—अहं धन्यो यन्ममेदृशं सुखमित्येवं हर्षमदाकुलः, चः समुच्चये । न—नैव, स्यात्—भवेत् । सुखदुःखयोः साम्यात्मकं स्वास्थ्यमाश्रये-दित्यर्थः । यद्धि न स्वकृतं यत्र स्वस्य प्रभुत्वं वा न, तत्र दैन्य-विस्मयाभ्यामलम्, तस्य त्यागोपादानयोरसम्भवात्परकृतस्याऽचिर-स्थायित्वाच्चेति भावः । सुखदुःखे कर्माधीने नाऽन्यथा भवितुमर्हतो न च सर्वदा तिष्ठत आगन्तुकत्वादित्यतस्तत्र साम्यात्मकं स्वास्थ्य-माश्रयेदिति तात्पर्यम् । अथ च यो मुनिर्भवति स जगत्कर्मविपा-काऽधीनमिति जानाति, ततो दुःखे दैन्यं सुखे विस्मयं च स न गच्छति । किन्तु न स्वाधीनमेतदिति परकृतत्वादचिरस्थायीति च तयोः समतामाश्रित्य स्वस्थ एव भवति, सुखदुःखयो दैन्यविस्मय-योरज्ञानविजृम्भितत्वादित्यपि हृदयम् । ॥ १ ॥

ननु कर्मविपाकस्य परवशं जगदिति कुत इति शिष्यजिज्ञासां समाधित्सुराह—

येषां भ्रूभङ्गमात्रेण भज्यन्ते पर्वता अपि ।
तैरहो ! कर्मवैषम्ये भूपैर्भिक्षाऽपि नाऽऽप्यते ॥ २ ॥

येषामित्यादि । येषाम्–यादृशानामतुलधनैश्वर्यप्रतापादिसम्पन्नानां भूपानाम्, तत्कृतत्वात्तत्सम्बन्धिनेत्यर्थः । भ्रूभङ्गमात्रेण–भ्रुवौ नेत्रयोरूर्ध्वे रोमपद्धत्यौ तयोर्भङ्गः कोपात्कौटिल्यम्, भ्रुकुटिरित्यर्थः । तदेव तन्मात्रं तेन, कोपात्पर्वतादिभङ्गसूचकभ्रुकुटिमात्रप्रयासेनेत्यर्थः । पर्वताः–गिरयस्तादृशदृढसारा अन्ये पुरुषादयश्च, अपिनाऽल्पसारस्य तु कथैव केति सूच्यते । भज्यन्ते–चूर्ण्यन्ते । एतेन तादृशभूपानामतुलबलैश्वर्यप्रतापादिः सूच्यते । कथमन्यथा तावता व्यापारेणाऽपि तादृशदुष्करकार्यसिद्धिरिति बोध्यम् । तादृशा हि भूपाः कोपाद् यस्मै भ्रुकुटिमारचयन्ति, सद्य एव तेषामाज्ञावशंवदास्तं बलिनमपि सम्भूय स्वयं च निगृह्णन्तीति लोके बहुशो दृष्टमिति भावः । ये बलिनोऽपि निग्रहे समर्था इति सारार्थः । अहो !–हन्त ! महान् विस्मयः खेदश्च, यत्–तैः–भ्रूभङ्गमात्रेण पर्वतभङ्गसमर्थैरेव, भूपैः–महीपतिभिः, कर्मवैषम्ये–कर्मणो वैषम्यं विषमविपाकता, विपरीतफलविपाकस्य कर्मण उदय इत्यर्थः । तस्मिन् सति, भिक्षा–ग्रासमात्रकम्, याचिताऽल्पान्नादिकमित्यर्थः । "भिक्षा स्याद् ग्रासमात्रकमि" ति हैमः । अपिनाऽधिकस्य तु कथैव केति सूच्यते । न–नैव, आप्यते–लभ्यते । तस्मात्सुखैश्वर्यादिकं कर्मविपाकाधीनमचिरस्थायि च । यदि हि तत्स्वाधीनं स्यात्कथं तादृशभूपानां भिक्षाऽपि दुर्लभा स्यात् । तस्मात्सुष्ठूक्तं 'सुखं प्राप्य च विस्मितो न स्यादि' ति, 'कर्मविपाकस्य परवशं जगति' ति चेति सुखेऽपि स्वास्थ्यमेवाऽऽश्रयेदिति भावः ॥ २ ॥

सम्प्रति शिष्यं प्रबोधयितुं कर्मविपाकस्य वैचित्र्यं प्रदर्शयं-

स्तदधीनं दुःखिनः सुखित्वमाह—

जातिचातुर्यहीनोऽपि कर्मण्यभ्युदयावहे ।
क्षणाद्रङ्कोऽपि राजा स्याच्छत्रच्छन्नदिगन्तरः ॥ ३ ॥

जातीत्यादि । अभ्युदयावहे—अभ्युदयो लौकिकसमृद्धिरिष्टविधावनुकूलसामग्रीसाकल्यं च, तमावहति करोति फलति वा तत्तादृशम्, तस्मिन्, अभ्युदयकारक इत्यर्थः । कर्मणि—कर्मपदवाच्ये ज्ञानावरणीयादौ शुभाशुभफलविपाकिनि । निमित्तसप्तमी, तन्निमित्तकमित्यर्थः । अभ्युदयकारककर्मनिमित्तमिति मिलितार्थः । जातिचातुर्यहीनोऽपि—जातिर्नृपत्वयोग्यक्षत्रियादिजातिः, सा च, चातुर्यं राजनीत्यादिनैपुण्यं च । एतद्द्वयं राजत्वाऽनुकूलम् । ताभ्यां हीनः शून्यः, नीचजाति मन्दश्च सन्नपीत्यर्थः । अपिना जातिचातुर्यसमग्रस्य तु कथैव केति सूच्यते । ननु जातिचातुर्यहीनस्याऽपि द्रविणादिप्राचुर्याद्राजत्वं सम्भाव्यत इत्यत आह—रङ्कः—दरिद्रोऽपि, अपिः समुच्चये । रङ्कश्चेत्यर्थः । क्षणात्—अत्यल्पेन कालेन, छत्रच्छन्नदिगन्तरः—छत्रं राजचिह्नं श्वेतच्छत्रं तेन च्छन्नाऽऽवृतानि दिगन्तराणि दिग्विभागा येन स तादृशः, दिगन्तव्यापिराज्यसूचकराजचिह्नश्वेतच्छत्रविराजित इत्यर्थः । सार्वभौमश्चक्रवर्त्तीति यावत् । राजा—प्रभुः, स्यात्—भवेत् । अभ्युदयावहकर्मवशान्नीचो मन्दो रङ्कश्चाऽपि चक्रवर्त्ती स्यात् । दृष्टान्तश्चाऽत्र नन्दादिः प्रसिद्धः । यदि हि स्वकृतं सुखं स्यात्कथङ्कारं नाम नीचमन्ददरिद्राणां राजत्वम्, तेषां राजत्वसाधकसामग्र्याः स्वप्नेऽप्य-

सम्भवात् । तस्मात्कर्मविपाकाऽधीनमेव जगदिति सुष्ठूक्तं 'दुःखं प्राप्य न दीनः स्यादि'ति, अपि तु सुखदुःखयोः समतामेवाऽऽश्रयेदिति भावः ॥ ३ ॥

तत एव कर्मविपाकाधीने फले सुखादौ ज्ञानिनो विराग इति शिष्यमनुबोधयन्, यद्वा—ननु तर्हि सर्वपरिहारेण सर्वथा कर्मैवाऽऽराधनीयं यथा न दुःखं स्यादिति शिष्यकुतर्कं निराकरिष्णुराह—

विषमा कर्मणः सृष्टिर्दृष्टा करभपृष्ठवत् ।
जात्यादिभूतिवैषम्यात्का रतिस्तत्र योगिनः ? ॥ ४ ॥

विषमेत्यादि । कर्मणः—ज्ञानावरणीयादिकर्मणः, तत्प्रयोजितत्वात्तत्सम्बन्धिनीत्यर्थः । सृष्टिः—फलसर्गः, फलनिर्माणमित्यर्थः । जात्यादिभूतिवैषम्यात्—जाति गोत्रम्, आदिना बलरूपचातुर्यादिः, तस्य या भूतयः सम्पद उच्चैर्गोत्राऽतुलबलरूपचातुर्यादिरूपास्तासां वैषम्याज्जात्यादिमतां रङ्कत्वाज्जात्यादिहीनानां च राजत्वादेश्च विसदृशत्वात्, विचित्रत्वाद्धेतोरित्यर्थः । करभपृष्ठवत्—करभ उष्ट्र स्तस्य यत्पृष्ठं तनुपश्चाद्भागस्तद्वत्, "उष्ट्रे क्रमेलकमयमहाङ्गाः करभ" इत्यमरः । विषमा—विसदृशी, अव्यवस्थिता विचित्रा गहना कष्टा चेत्यर्थः । करभपृष्ठपक्षे उन्नतानतेत्यर्थः । दृष्टा—श्रुताऽनुभूता चेत्यर्थः । अत एव, तत्र—कर्मणः सृष्टौ कर्मणि वा, योगिनः—सम्यग्ज्ञानादियोगसम्पन्नस्य मुनेः, का—किम्प्रकारा, रतिः—प्रीतिः, काक्वा न कापि प्रीतिरित्यर्थः । उपलक्षणत्वादप्रीतिरपि न, अपि तु समभाव एव । कर्म वा नाऽऽराधनीयं फले

व्यवस्थाऽभावात्। किन्तु नाशनीयमेव तत्। तत्र हि प्रीतिरप्रीतिर्वा सफला, यत्स्वाधीनम्। तच्चाऽऽराधनीयं यतो व्यवस्थितं फलं लभ्यते इति भावः ॥ ४ ॥

न केवलं विषयविषमूढबुद्धिष्वेव कर्माणि प्रभवन्त्यपि तु मुनिष्वपि बहुष्विति शिष्यं प्रबोधयन्नाह —

आरूढाः प्रशमश्रेणिं श्रुतकेवलिनोऽपि च।
भ्राम्यन्तेऽनन्तसंसारमहो! दुष्टेन कर्मणा ॥ ५ ॥

आरूढा इत्यादि। प्रशमश्रेणिम्–प्रकृष्टः प्रकर्षं प्राप्तः शमो मोहनीयकर्मोदयशान्तिः, आत्यन्तिकमोहनीयकर्माऽनुदय इत्यर्थः। तस्य या श्रेणिरवस्था, कर्मोपशमाऽवस्थेत्यर्थः। मोहोदयोपशमायाऽनन्तानुबन्ध्यादिनिरोधक्रमप्रयोजकपरिणामपरम्परा वाऽर्थः। ताम्, आरूढाः–अधिष्ठिताः, मोहोदयोपशमाच्छुद्धचारित्रसम्पन्ना इत्यर्थः। अधःपातकारणविरहिता इति केचित्, तन्न। कारणं कर्मोपशान्तमेव। विरहस्तु तस्य क्षयादेवेति बोध्यम्। एवञ्चोपशान्ताऽधःपातकारणा इति यावत्। श्रुतकेवलिनः–श्रुतेद्व्यनेकद्वादशविधेऽङ्गप्रविष्टेऽङ्गबाह्ये च केवलिन इव संशयविपर्यवादिशून्यज्ञानसम्पन्नाः, श्रुताम्भोधिपारंगताः सकलहेयोपादेयपरिहारोपादानोपायविद इत्यर्थः। श्रुताद्धि हेयोपादेयपरिहारोपादानोपायज्ञानमिति बोध्यम्। चः–समुच्चये। अपिना तदूनगुणस्य तु कथैव केति सूच्यते। दुष्टेन–अशुभेन भवान्तरप्रयोजकेन, कर्मणा–उपशान्तेनाऽपि क्षयमनुपगतेन केनाऽपि कारणेनोदीर्णेन

मोहनीयादिकर्मणा प्रयोजकेन, अनन्तसंसारम्—अनन्तोऽगण्यो यः संसारो भवस्तम्, भ्राम्यन्ते—प्राप्यन्ते। उपशान्तमोहाः श्रुतकेवलिनश्चाऽप्युदीर्णाऽशुभकर्मवशादनन्तं भवं भ्रमन्ति, तत्र का कथाऽल्पचारित्रज्ञानानामिति समुदिततात्पर्यम्। तदेतद्। अहो!—आश्चर्यम्। तादृशा अपि कर्मविपाकाधीना इत्याश्चर्यं कर्मणः प्राबल्यमित्यर्थः। तस्मात्सुखे दुःखे च कर्मणोऽप्रतिविधेयतया साम्यमेवाऽऽश्रयेत्, स्वस्य तत्राऽव्यापारादित्याशयः ॥ ५ ॥

ननु सुखदुःखादिसामग्रीसाकल्यं स्वकृतमेव, तस्मिन् सत्येव च कार्यमिति तत्र कर्मणा किंकर्त्तव्यमिति शिष्यशङ्कां निराकरिष्णुराह—

अर्वाक् सर्वाऽपि सामग्री श्रान्तेव परितिष्ठति।
विपाकः कर्मणः कार्यपर्यन्तमनुधावति ॥ ६ ॥

अर्वागित्यादि। सर्वा—निखिला, कर्मभिन्नेति बोध्यम्। अपिना न तु काचिद्बहुशो वा, किन्त्वेकयाऽप्यन्यूनेति सूच्यते। सामग्री—कारणम्, असाधारणकारणकूटमिति समुदितार्थः। श्रान्ता—श्रमं परिगतेव, अर्वाक्—प्राक्तनकाले, कार्योत्पादकालं यावदेवेत्यर्थः। परितिष्ठति—भवति। यथा किमपि दूरं ग्रामादिकमुद्दिश्य प्रस्थितः पान्थोऽध्वचङ्क्रमणश्रान्तो मध्य एव क्वापि व्युपरतक्रियस्तिष्ठति, तथा कारणत्वेन प्रसिद्धानि सर्वाण्यपि दण्डादीनि घटोत्पादकालं यावदेव प्रभवन्ति, उत्पन्ने घटे तु कृतकृत्य-

त्वाद्विरमन्ति, घटोत्पाद एव तेषां कारणत्वात् । अन्यथाऽऽपराऽपर-घटाद्युत्पादपरम्पराया अविरामापत्तेः, कारणसाकल्येऽपि कार्याऽनुत्पत्तौ कारणत्वस्यैव विघटनादित्याशयः । ननु तर्हि कर्मविपाकस्य किमित्याशङ्कानिरासायाह–विपाक इत्यादि । कर्मणः–शुभाशुभ-कर्मणः साधारणकारणस्य, विपाकः–परिणामः, व्यापार इत्यर्थः । कार्यपर्यन्तम्–कार्यस्योत्पाद्यस्य घटादेः पर्यन्तोऽन्तः, विनाश इत्यर्थः । तं यावत् । कार्यान्तं यावन्न तु कार्योत्पत्तिं यावदेवेत्याशयः । अनुधावति–अनुवर्त्तते । उत्पत्तौ हि कारणान्तरव्यापारः, तथा नाशेऽप्यन्यदेव किमपि कारणम् । कर्मव्यापारस्तु नाशं यावत् । यथोत्पत्तिः कर्मविपाकात्तथा स्थितिर्व्ययोऽपि च तत एव । एवञ्च वस्तूत्पादव्ययध्रौव्येषु कर्मणो व्यापारात्सर्वेषु कारणेषु कर्मैव प्रधानम्, अन्यथा किमित्युत्पन्नमेव किञ्चिन्नश्यति, किञ्चित्तिष्ठति, किञ्चिच्चाऽल्पकालं किञ्चिच्च चिरं तिष्ठति ? । तस्माद्दृष्टकारणेभ्योऽन्यददृष्टं तत्र कारणमिति न स्वकृतमेव सुखादिकमिति तत्र स्वास्थ्येनैव स्थेयमिति भावः ॥ ६ ॥

नन्वस्तु कर्म प्रबलम्, किन्तु लौकिकसुखविमुखस्य सर्वसावद्यविरतस्य साधोर्न कोऽप्यर्थः कर्मणा । यद्धि कर्माधीनं साधोस्तत एव विरतत्वादिति शिष्यसम्मोहव्यपोहायाह—

असावचरमावर्त्ते धर्मं हरति पश्यतः ।
चरमावर्त्तिसाधोस्तु च्छलमन्विष्य दुष्यति ॥ ७ ॥

असावित्यादि । असौ–उक्तप्रकारः कर्मविपाकः, अचरमावर्त्ते–

न चरमोऽन्तिम आवर्त्तः पुद्गलपरावर्त्तकालस्तस्मिन्। अनेकपुद्गलपरावर्त्तपरिमाणाऽवशिष्टभवे इत्यर्थः। विद्यमानस्य साधोरिति चरमावर्तिसाधोरित्यनुपदोक्तिबलाल्लभ्यते। पश्यनः—अवलोकमानस्याऽपि, प्रयत्नेन पालयतोऽपीत्यर्थः। अपमादिनोऽपीति यावत्। अप्यर्थोऽर्थबलाल्लभ्यते। धर्मम्—पुण्यम्, तत्परिणामञ्च, हरति—नाशयति, अतिक्लिष्टोदयत्वाच्छुभपवृत्तेरप्रमादिनोऽपि चालयतीत्यर्थः। कर्मविपाको बलादप्युत्पथे नयतीति भावः। तु विशेषे। चरमावर्तिसाधोस्ततो विशेष इत्यर्थः। स क इत्याकाङ्क्षायामाह—चरमेत्यादि। चरमावर्त्तिसाधोः—चरमोऽन्तिम आवर्त्तः पुद्गलपरावर्त्तकालोऽस्यास्य स पुद्गलपरावर्त्तपरिमाणभवः, स चासौ साधुश्च लौकिकसुखविमुखः सर्वसावद्यविरतस्तस्य, छलम्—प्रमादरूपं छिद्रम्, अन्विष्य—प्राप्य, दुष्यति—मलिनीकरोति, धर्ममिति सम्बध्यते। कर्मविपाकस्तथा प्रबलो येन साधोरपि भवबाहुल्ये सुतरां तदल्पत्वेऽपि प्रमादे सत्यधः पातयतीति साम्यमाश्रित्याऽप्रमादिना सता कर्मक्षयाय यतनीयमित्याशयः ॥ ७ ॥

अथ शिष्यचित्तावर्जनाय कर्मविपाकचिन्तनस्य साम्यस्य च फलं प्रदर्शयन्नुपसंहरति—

साम्यं बिभर्त्ति यः कर्मविपाकं हृदि चिन्तयन्।
स एव स्याच्चिदानन्दमकरन्दमधुव्रतः ॥ ८ ॥

इति महामहोपाध्याय श्रीमद्यशोविजयोपाध्यायविरचिते ज्ञानसारे कर्मविपाकचिन्तनाऽष्टकं नामैकविंशतितमाऽष्टकम् ॥ २१ ॥

साम्यमित्यादि। यः–यादृशः प्राक्तनपुण्यशाली जनः, हृदि–शुभवृत्तिके मनसि, कर्मविपाकम्–उक्तप्रकारेण दुर्वारसामर्थ्यकर्मपरिणामम्, चिन्तयन्–उक्तप्रकारेण ध्यायन्, साम्यम्–सुखदुःखयोः कर्मविपाकाऽधीनमेतदितिबुद्धया दैन्यविस्मयाऽभावरूपां समताम्, बिभर्त्ति–धत्ते, आश्रयतीत्यर्थः। एतेन साम्यलाभे कर्मविपाकचिन्तनमुपयोगीति सूच्यते। सः–तादृश एव, साम्यसम्पन्न एव नत्वन्य इत्येवकारार्थः। चिदानन्दमकरन्दमधुव्रतः–चिन्निर्विकल्पा मतिस्तज्जनितो य आनन्दः शाश्वताऽखण्डाऽनन्तसुखम्, निर्विकल्पमतेस्तदेव फलमिति बोध्यम्। यद्वा चिच्चाऽऽनन्दश्च तौ, स तौ वा मकरन्दः पुष्परस इव पुष्पस्याऽसाधारणो धर्मोभ्रमरस्येव साधोरिष्टत्वान्मकरन्दस्तस्य तदुपभोगाऽधिकृतत्वात्तत्सम्बन्धी मधुव्रतो भ्रमरः, तद्रूप इत्यर्थः। "मधुव्रतो मधुकरो मधुलिण्मधुपाऽलिनः। द्विरेफपुष्पलिड्भृङ्गषट्पदभ्रमराऽलय" इत्यमरः। स्यात्–भवेत्। यथा मधुव्रतो मकरन्देन वर्त्तयते तथा साम्याश्रयेण साधुरपि चिदानन्देन वर्त्तयेतेत्यर्थः। न साम्यं विना विशुद्धं ज्ञानं परमानन्दश्चेति तल्लाभाय कर्मविपाकचिन्तनपूर्वकं साम्यमवश्यमाश्रयणीयम्। यदुक्तम्–"न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाऽप्रियम्। स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः" इति भावः॥ ८॥

इति ज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृ-कविरत्न-प्रन्यासप्रवर श्रीयशोभद्रविजयजीगणिवरशिष्य–पन्यासश्रीशुभङ्करविजयगणिविरचितायां भद्रङ्करोदयाख्यायां व्याख्यायां कर्मविपाकचिन्तनाऽष्टकंनामैकविंशतितमाष्टकम् ॥ २१ ॥

## ॥ भवोद्वेगाऽष्टकम् ॥

साम्यमास्थितो भवाब्धेस्तत्स्वरूपं जानन्नुद्विजति तं सन्तितीर्षति चेति शिष्यप्रबोधाय भवोद्वेगाऽष्टकं विवक्षुरादौ तदीयमतिदारुणं स्वरूपमेव पञ्चभिर्वर्णयन्नाह—

यस्य गम्भीरमध्यस्याऽज्ञानवज्रमयं तलम् ।
रुद्धा व्यसनशैलौघैः पन्थानो यत्र दुर्गमाः ॥ १ ॥

यस्येत्यादि । यस्य—यादृशस्य भवाब्धेः, गम्भीरमध्यस्य—गम्भीरमनुत्तानम्, अतिनिम्नमित्यर्थः । गाम्भीर्येऽतिशयश्च प्रस्तावबलाद्बोध्यम् । सातिशयगम्भीरस्याऽतिदारुणत्वादुत्कटोद्वेगप्रयोजकत्वनिर्वाहादित्यवधेयम् । शतसहस्रपुरुषप्रमाणगम्भीरमिति यावत् । भवपक्षे चाऽनन्तजन्मनाऽप्यप्राप्तान्तत्वाद्गभीरमिव गम्भीरमित्यर्थः । तदेव हि गम्भीरं यत्तलं दुष्प्राप्यमिति भावः । "निम्नं गभीरं गम्भीरमुत्तानं तद्विपर्यये" इत्यमरः । तादृशं मध्यं मध्यभागो भवपक्षे च मध्यावस्था यस्य स तादृशः, तस्य तादृशस्य सतः, तलम्—अधस्तनभूभागः, यत्राऽपारजलराशेरात्मकोऽब्धिस्तदित्यर्थः । भवपक्षे च हेतुभूत आश्रय इत्यर्थः । यथा समुद्रस्य तलमाश्रयस्तथा भवस्य य आश्रयः स आश्रयत्वसाधर्म्यात्तलवत्तलमिति बोध्यम् । अज्ञानवज्रमयम्—अज्ञानमविद्या, मिथ्याज्ञानमित्यर्थः । तदेव दुर्भेद्यत्वाद्वज्रशरीरकमिव, तद्विकारस्तत्प्रचुरो वाऽज्ञानवज्रमयम् । यथा समुद्रस्याऽऽश्रयस्तलं दुर्भेद्यवज्रमयमपि भवेत्, तथा भवस्य हेतुभूत आश्रयोऽज्ञानं दुर्भेद्यम् । अज्ञानादेव हि भवः, ज्ञानात्तु तन्नाश

इति ध्येयम् । " वज्रोऽस्त्री हीरके पवावि " त्यमरः । तथा, यत्र—यादृशे भवाम्भोधौ, पन्थानः—अब्धे निर्गमनमार्गाः, भवनिर्गमनमार्गाः संयमादयश्च, व्यसनशैलौघैः—व्यसनानि स्त्रीद्यूताद्यभिनिवेशाः । रोगशोकादीनि कष्टानीत्येवं कस्यचिद्व्याख्यानं तु न सम्यक्, अग्रे तेषां मत्स्यादिरूपतया वर्णयिष्यमाणत्वादित्यवधेयम् । तान्येव नानाविधत्वाद्विषमत्वाद्दुःसाध्यत्वाच्च शैलाः पर्वता इव तेषामोघाः समूहास्तैः कृत्वा, रुद्धाः—आवृताः, अत एव, दुर्गमाः—दुःखेन गन्तुं योग्या दुराराधनीयाश्चेत्यर्थः । समुद्रो हि गम्भीरो वज्रमयतलः पर्वतैरुद्धत्वात्ततो निर्गमनमार्गश्च दुर्गो भवति । भवोऽपि दुर्लभ्याऽनन्तत्वाद्गम्भीरोऽज्ञानतलो व्यसनाकीर्णत्वाद्दुर्गश्च ततो निर्गमनमार्गः संयमादिरिति भवोऽब्धिरिवाऽतिदारुणः, ततस्तस्मादुद्विग्नो ज्ञानी तस्य सन्तरणोपायं काङ्क्षतीति पञ्चमश्लोकेन सम्बन्धो बोध्यः ॥ १ ॥

ननु यदि भवोऽब्धिस्तर्हि तत्र पातालकलशादयोऽपि स्युरितिशिष्याकाङ्क्षायामाह—

पातालकलशा यत्र भृतास्तृष्णामहानिलैः ।
कषायाश्चित्तसङ्कल्पवेलावृद्धिं वितन्वते ॥ २ ॥

पातालेत्यादि । यत्र—यादृशे भवाम्भोधौ, तृष्णामहानिलैः—तृष्णा विषयाऽभिलाषा एव सङ्कल्पवेलावृद्धिप्रयोजकत्वान्महान्तः प्रचण्डतमाः प्रभूताश्चाऽनिला वायवस्तैः कृत्वा, भृताः—पूरिताः, कषायपक्षे सहिता इत्यर्थः । कषायाः—क्रोधमानमायालोभाः

कषायपदवाच्या भवे आद्यन्तं व्याप्ताः, पातालकलशाः—पातालं रसातलम्, अत्यौन्नत्यात्तदभिव्याप्यस्थिताः कलशा घटास्तदाकृतयो गर्तविशेषाः, तद्रूपा इत्यर्थः। "अधोभुवनपातालं बलिसद्म रसातलमि" त्यमरः। चित्तसङ्कल्पवेलावृद्धिम्—चित्तं मनस्तस्य तत्कृतत्वात्तत्र जायमानत्वाद्वा तत्सम्बन्धिनो ये सङ्कल्पा विषयविकल्पाः, मनोवृत्तय इत्यर्थः। त एव वृद्धिसाधर्म्याद्वेलाः कूलेऽम्भसो वृद्धयस्तासां वृद्धिमपरापरोत्पत्तिरूपां परम्पराम्, "वेला स्याद्वृद्धिरम्भस" इति हैमः। वितन्वते—विस्तारयन्ति विदधति वा। समुद्रे हि अनेकयोजनविस्तृता महावातसम्भृताः पातालकलशा वेलावृद्धिहेतव इत्यागमः। भवेऽप्याद्यन्तं व्याप्ताः कषायास्तृष्णासहिताः सङ्कल्पं वर्धयन्तीति भवोऽविरतचित्तसङ्कल्पवेलावृद्ध्याऽतिदारुण इत्याशयः॥ २॥

अथ भवाऽब्धे वडवानलयादःसद्भावरूपं विशेषमाह—

स्मरौर्वाऽग्निर्ज्वलत्यन्तर्यत्र स्नेहेन्धनः सदा।
यो घोररोगशोकादिमत्स्यकच्छपसङ्कुलः॥ ३॥

स्मरौर्वाग्निरित्यादि। यत्र—यस्मिन् भवसागरे, अन्तः—अभ्यन्तरे, सदा—सर्वदा नतु यदाकदाचिदेव, स्नेहेन्धनः—स्नेहः स्त्रीप्रभृतिषु रागोऽभिलाषः प्रेम वा, अग्निपक्षे जलमित्यर्थः। स एवेन्धनं काष्ठमग्नेरिवाश्रयत्वादिन्धनमिव यस्य स तादृशः, स्नेहेन्धनाश्रित इत्यर्थः। स्मरौर्वाग्निः—स्मरः काम एव तापप्रदत्वाद्दुःशमनीयत्वाच्चौर्वाग्नि वडवानलः, "कामः पञ्चशरः स्मर"

इति " और्वस्तु वाडवो वडवानल " इति चाऽमरः । ज्वलति-दीप्यते, कामपक्षेऽत्युग्रतया तिष्ठतीत्यर्थः । समुद्रे वडवानलो भवति, तस्य च जलमेवेन्धनमिति पदार्थविदः । भवे च स्त्रीषु रागात्कामः प्रजायत इति भवोऽब्धिरित्याशयः । तथा, यः-यत्प्रकारो भवाब्धिः, घोररोगशोकादिमत्स्यकच्छपशङ्कुलः-घोरा दारुणा ये रोगा यक्ष्मादयः शोका इष्टवियोगाऽनिष्टसम्प्रयोगादिजनिता मन्यवः, आदिना मोहादयः, त एव मत्स्या मीनाः कच्छपाः कूर्माश्च जलवच्चित्तविक्षोभकरास्तैः सङ्कुलः समाकीर्णः । अब्धौ हि भयङ्करा मत्स्यादयो जलं विक्षोभयन्ति, रोगादयश्चापि भवे चित्तं विक्षोभयन्ति कष्टत्वाद्भयङ्कराश्चेतिभावः । " दारुणं भीषणं भीष्मं घोरमि" त्यमरः । " सङ्कुलमाकुलम् । कीर्णमाकीर्णंचे " ति हैमः ॥ ३ ॥

भवाब्धावुत्पातादिप्राप्तिरूपं विशेषमाह—

दुर्बुद्धिमत्सरद्रोहै र्विद्युद्दुर्वातगर्जितैः ।
यत्र सांयात्रिका लोकाः पतन्त्युत्पातसङ्कटे ॥ ४ ॥

दुर्बुद्धीत्यादि । यत्र-यस्मिन् भवाब्धौ, सांयात्रिकाः-पोतवणिजइव, " सांयात्रिकः पोतवणिगि " त्यमरः । लोकाः-भविनो जनाः, दुर्बुद्धिमत्सरद्रोहैः-दुर्बुद्धयोऽशुभप्रवृत्तिहेतवोऽस्थिरा मतयः, मत्सरोऽन्यशुभद्वेषः, " मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे " इति हैमः । द्रोहः परघातादिचिन्ता, तैः, तद्रूपैरित्यर्थः । विद्युद्दुर्वातगर्जितैः-यथाक्रमं दुर्बुद्धयश्चञ्चलत्वाद्विद्युतस्तडितः, " तडित्सौदमनी विद्युदि " त्यमरः । मत्सर एवाऽन्योपद्रवविधिप्रयोजकत्वाद्दुर्वातः प्रवहणो-

पद्रवहेतुश्चक्रवातादिः, द्रोह एव परघातचिन्तादिरूपनैष्ठुर्यसाधर्म्याद् गर्जितानि निष्ठुरस्तनितानि, " स्तनितं गर्जितमि " त्यमरः। तैः कृत्वा, उत्पातसङ्कटे—उत्पातः प्रवहणभङ्गाद्युपद्रवो वधबन्धाद्युपद्रवश्च, तेन कृत्वा यः सङ्कटः सम्बाधः, निरन्तरितोपद्रव इत्यर्थः। उत्पातपरम्परेति यावत्। तस्मिन्, " समौ सम्बाधसङ्कटाविं " ति हैमः। पतन्ति—परवशत्वादवतरन्ति, उत्पातसङ्कटं प्राप्नुवन्तीति यावत्। अब्धौ हि सांयात्रिका विद्युदादिभिः प्रवहणभङ्गादिरूपोत्पातसङ्कटे पतन्ति, भवे चाऽपि दुर्बुद्ध्यादिभि र्लोका वधबन्धाद्युत्पातसङ्कटे पतन्ति। न च ततस्त्राणसौलभ्यम्, गाम्भीर्यादेस्त्राणपरिपन्थिदृढतरसाधनस्यैव सद्भावादिति भवः साधर्म्यातिशयादब्धिरिवाऽतिदारुण इत्याशयः॥ ४॥

सम्प्रत्युपसंहरन्नुक्तवर्णनप्रयोजनमाह—

ज्ञानी तस्माद्भवाऽम्भोधे र्नित्योद्विग्नोऽतिदारुणात्।
तस्य सन्तरणोपायं सर्वयत्नेन काङ्क्षति ॥ ५॥

ज्ञानीत्यादि। ज्ञानी—उक्तप्रकारभवाब्धिस्वरूपज्ञः सम्यग्ज्ञानसम्पन्नो मुनि र्दीर्घदृष्टिः पोतवणिक्च, तस्माद्—उक्तप्रकाराद् " यस्य गम्भीरमध्यस्ये " त्यादिर्वर्णितस्वरूपात्, अत एव, अतिदारुणात्—अत्यन्तं सर्वाधिकं दारुणो भयङ्करस्तस्मात्। उक्तप्रकारो हि महानिष्टहेतुरिति सोऽत्यन्तं भयङ्करः, अनिष्टप्रकर्षसम्भावनया हि भयप्रकर्ष इति बोध्यम्। भवाम्भोधेः—भवो जन्मजरामरणाद्यात्मकः संसार एवोक्तप्रकारसाधर्म्यातिशयसद्भावादब्धि-

रिव, तस्मात्, नित्योद्विग्नः-नित्यमनवरतमुद्विग्नोभीतः क्षुब्धश्च सन्। ननु यदाकदाचिदेव, अनिष्टहेतोः सर्वदैव सद्भावाद्दुर्निवारत्वाच्चेति भावः। विस्पष्टपटुवत्समासः। सर्वयत्नेन-सर्वप्रकारेण प्रयासेन, कायादिसर्वविधव्यापारेणेत्यर्थः। धनपुष्कलवेतनवितरणादिरूपोद्यमेन च। तस्य-वर्णितप्रकारस्याऽतिदारुणस्य भवाम्भोधेः, सन्तरणोपायम्-सम्यग् यथा न पुनः पातःस्यात्तेनप्रकारेण यत्तरणं पारगमनं भवोच्छेदश्च, भवाब्धिरत आत्यन्तिकरूपेण निर्गमनमित्यर्थः। तस्योपायः साधनं चारित्रं दृढपोतपटुवीवरादिसामग्रीं च, काङ्क्षति-इच्छति, नहीच्छामात्रेण कृतकृत्यतेतिलक्षणयाऽऽश्रयतीत्यर्थः। यदुक्तम्-" कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि। योगिनः कर्म कुर्वन्ती " ति " चिन्तनीया हि विपदामादावेव प्रतिक्रिया " इति च। यो हि भयङ्करस्तत उद्वेग स्ततस्त्राणसाधनाश्रयणं चोचितमेव। एतदेव हि ज्ञानफलम्। अन्यथा मूर्खान्न ज्ञानिनः कोऽपि विशेष इति ज्ञान्येवाऽपायं सम्भाव्योपायं चिन्तयति, यश्चोपायं चिन्तयते स एव ज्ञानीति च तात्पर्यम् ॥ ५ ॥

ननु विविधाऽऽपात्याऽपरिहरणीयविषयविक्षुब्धचित्तस्य सर्वयत्नेन सन्तरणोपायाश्रयणं वाङ्मात्रमिति शिष्यतर्कं परिजिहीर्षुराह-

तैलपात्रधरो यद्वद्राधावेधोद्यतो यथा।
क्रियास्वनन्यचित्तः स्याद्भवभीतस्तथा मुनिः ॥ ६ ॥

तैलपात्रेत्यादि। यद्वत्-यथा, तैलपात्रधरः-तैलस्य तैलेना-

ऽमूलचूलं पूरितत्वात्तत्सम्बन्धि यत्पात्रं भाजनं तस्य धरतीति धरो धारकः, तैलपात्रोद्वाहक इत्यर्थः। तथा, यथा—येन प्रकारेण, राधावेधोद्यतः—राधायाः स्तम्भशिरसि स्थापिताया अधोभ्रमच्चक्राष्टकान्तरिताया दारुमयपुत्तलिकाया वेधोऽधस्तैलपात्रे राधाप्रतिबिम्बदत्तदृष्टिनाऽधोमुखेन सता लक्ष्यं साधयित्वा धनुर्मुक्तेन बाणेन भ्रमच्चक्राष्टकमध्यान्निर्गत्य राधावामाक्षिवेधनम्, तत्रोद्यतो व्यापृतो धानुष्कः, क्रियासु—तैलपात्रोद्वहनक्रियासु राधावेधक्रियासु पक्षे चारित्राराधनात्मकक्रियासु च, अनन्यचित्तः—अविद्यमानोऽन्यो विधीयमानक्रियाभिन्नो विषयश्चित्ते यस्य स तादृशः, तदेकचित्त इत्यर्थः। स्याद्—भवेत्, तथा—तेन प्रकारेण, भवभीतः—उक्तप्रकारादतिदुरुणाद्भवाब्धेर्भीतः, मुनिः—ज्ञानी, क्रियास्वनन्यचित्तः स्यादिति सम्बध्यते। विविधेषु चित्तविक्षेपसाधनेषु विषयेषु सत्स्वपीतिशेषः। भयाद्धि तत्राणोपाये एकतानता भवतीति यावत्। तत्सुष्ठूक्तं "तस्य सन्तरणोपायं सर्वयत्नेन काङ्क्षती" ति भावः। तैलपात्रधरदृष्टान्तश्चेत्थम्-कस्मैचिदपराधिने राज्ञा मृत्युदण्ड आदिष्टः। अपराधिना प्रार्थितश्च—यदि त्वं तैलपूर्णपात्रं करे धृत्वा तैलबिन्दूनपातयन्नेव नगरे भ्रान्त्वा ममाग्रे यथास्थितं स्थापयसि तदा ते वधान्मुक्तिरिति नृपोऽनुजग्राह। स च प्राणभयात्तथेति प्रतिपद्य तथाऽनुष्ठितवान्, तैलबिन्दु र्यथा न पतेदिति स तैलपात्रैकचित्तो नगरे भ्रान्त्वा नृपस्य पुरतो यथाभूतं तैलपात्रं स्थापयामास। तदानीं च नगरे जायमानं विविधं नृत्यगीतादिकं तैलपात्रैकचित्तत्वान्न किञ्चिदपि विवेद। तदेवं भयात्तस्यैकचित्तता यथा तथा

मुनेरपि भवभयात्क्रियास्वनन्यचित्तता जायते। तथा राधावेधे व्यापृतश्चाऽपराद्धेषुर्माभूवमिति लक्ष्यच्युतिभयादेकचित्तो भवति। अत्र च मुनिरेव भवभयात्क्रियास्वनन्यचित्तो भवति, क्रियास्वनन्यचित्तश्च मुनिरेवेत्युभयं मुनिपदोक्त्या ध्वन्यते ॥ ६ ॥

ननु यथा भवभीस्तथा चारित्रे उपसर्गादिभीरिति मुनेरुभयतः पाशारज्जुरिति शिष्यतर्कं निराकरिष्णुराह —

विषं विषस्य वह्नेश्च वह्निरेव यदौषधम्।
तत्सत्यं भवभीतानामुपसर्गेऽपि यन्न भीः ॥ ७ ॥

विषमित्यादि। यत्—यदेतत्, विषस्य—गरलस्य, सर्पादिदष्टस्य भक्षितविषान्तरादे र्वा देहिनो देहे प्रसरतो विषदोषस्येत्यर्थः। विषम्—विषवदुग्रं मूर्च्छादिप्रदं च द्रव्यम्, औषधम्—भेषजम्, विषप्रभावमारणात्मिका चिकित्सेत्यर्थः। तथा, वह्नेः—वह्निदग्धजनतनुतापस्य, चः समुच्चये। वह्निः—अग्नितापदानमेव, औषधमिति सम्बध्यते। लोके प्रतीतमितिशेषः। लोके हि विषावेगोपशमाय विषवदुग्रमेवौषधं प्रयुज्यते, तथा वह्निदाहजनितितापनाशाय वह्नितापमेव पुनर्दत्ते इति प्रतीतमित्याशयः। यदि पुनः कस्याऽपि तदननुभूतम्, तदाऽपि श्रद्धेयमित्याह—तदित्यादिना। तत्—विषस्य विषमौषधमिति लोकप्रथा, सत्यम्—युक्तम्, मन्ये इति शेषः। यत्—यतः, भवभीतानाम्—उक्तप्रकारातिदारुणभवाब्धिभयग्रस्तानाम्, उपसर्गे—अतिकष्टत्वात्सुदुःसहे भयङ्करे उपद्रवेऽपि, अपिना सामान्योपद्रवे तु कथैव केतिसूच्यते। न—नैव,

भीः—भयम्। यथा विषस्य विषमौषधम्, तथा भयङ्करस्य भयावह एवोपायः। तथा, यथा विषाविष्टस्तदुपायरूपविषान्नोद्विजति, ततो विषावेगश्च शाम्यति, यथा वा वह्निदग्धो वह्नितापान्न बिभेति, तापश्च तस्य तत एव नश्यति, तथा भवभीत उपसर्गान्न बिभेति भवं च नाशयति। यद्वा भवभीता मुनय उपसर्गादिभये सत्यपि चारित्राराधनपरा दृश्यन्ते इति भवभयस्य भयावह एवोपायस्तत एतत्सत्यं यदुत विषस्य विषमौषधमिति तात्पर्यम् ॥ ७ ॥

ननु भवभयादनन्यचित्तता चेदपास्ता निर्विकल्पसमाधिकथा, भवभयात्मकविकल्पसद्भावात्, अन्यथा कारणाभावात्कार्याभावप्रसङ्गादिति शिष्यतर्कं व्यपाकुर्वन्नुपसंहरति—

स्थैर्यं भवभयादेव व्यवहारे मुनिर्व्रजेत्।
स्वात्मारामसमाधौ तु तदप्यन्तर्निमज्जति ॥ ८ ॥

इति महामहोपाध्याय श्रीयशोविजयोपाध्यायविरचिते ज्ञानसारे भवोद्वेगाष्टकं नाम द्वाविंशतितमाष्टकम् ॥ २२ ॥

स्थैर्यमित्यादि। मुनिः—ज्ञानी साधुः, व्यवहारे—व्यवहारकाले, योगसाधनकाल इत्यर्थः। भवभयात्—भवादुक्तप्रकाराद्यद्भयं भीति रुत्पातसङ्कटपातसम्भावनया चित्तसङ्कोचस्ततो हेतोः, एवकारेण तदवस्थायामनन्यचित्ततायोजक साधनान्तराभावः सूच्यते। स्थैर्यम्—क्रियास्वनन्यचित्ततात्मकतल्लीनताम्, स्थिरचित्तवृत्तित्वमित्यर्थः। व्रजेत्—प्राप्नुयात्, साधयेदित्यर्थः। भयाद्धि तत्राणहेतौ यथाऽनन्यचित्तता भवति न तथा प्रकारान्तरेणेति भवभयादेव स्थैर्यं व्रजेदित्याशयः। अथवैवकारो भिन्नक्रमः। तथा च, भव-

भयाद्व्यवहारकाल एव स्थैर्यं व्रजेत्, तत्रैव भयादिविकल्पसम्भवात्। व्यवहारकालो हि सविकल्पकालः। तत ऊर्ध्वं तु निर्विकल्पावस्थेति तत्र न भयादिविकल्पसम्भव इति तत्र ततोऽनन्यचित्तताऽपि न साध्या। तत्र हि विकल्पाऽभावादेवाऽनन्यचित्तता नतु तत्र कारणान्तरमपेक्ष्यत इत्याशयः। ननु तर्हि सिद्धयोगस्य किमित्याकाङ्क्षायामाह—स्वात्मेत्यादि। तु विशेषे। स्वात्मारामसमाधौ ततो विशेष इत्यर्थः। तमेवाह—स्वात्मारामसमाधौ—स्वात्मन्येव सच्चिदानन्दात्मके आ समन्ताद्रमणं रामो लीनता यत्र तादृशश्चाऽसौ समाधि र्ध्यातृध्यानध्येयैकात्म्यात्मकः सर्वयोगसंन्यासावस्था च तत्र, निर्विकल्पसमाधावित्यर्थः। तद्-भवभयम्, अपिना विकल्पान्तरसमुच्चयः। अन्तः—तादृशसमाधौ, निमज्जति—लीयेत। विकल्पमात्रं व्युपशाम्यतीति समुदितार्थः। समाधिर्हि सविकल्पको निर्विकल्पकश्च। तत्र सविकल्पसमाधौ तत्साधनकाले च भवभयं चित्तस्थैर्यप्रयोजकं न तु निर्विकल्पसमाधौ, तत्र हि विकल्पमात्रस्य व्युपरमादात्ममात्रस्यैव सच्चिदानन्दात्मकस्य प्रतिभासाच्चित्ताऽस्थैर्यसामग्र्या एवाऽभावात्। एवञ्च भवभयात्सविकल्पसमाधिं साधयेत्। तदूर्ध्वं निर्विकल्पसमाधिलाभ इत्यतो भवस्य भयानकस्वरूपं ज्ञात्वोद्विज्य स्थैर्यं साधयित्वा स्वात्मारामो भवति मुनिरित्यष्टकपरमार्थः॥८॥

इति ज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृकविरत्नपन्यासप्रवरश्रीयशोभद्रविजयजीगणिवरशिष्यपन्यासश्रीशुभङ्करविजयगणिविरचितायां भद्रङ्करोदयाख्यायां व्याख्यायां भवोद्वेगाऽष्टकं नाम द्वाविंशतितमाऽष्टकम् ॥ २२ ॥

# लोक संज्ञात्यागाऽष्टकम् ।

अथ शिष्य प्रबोधाय, भवाम्भोधिसन्तरणोपायं सर्वविरतिमास्थितस्य साधो र्लोक संज्ञायाऽष्टकेन हेयमुपदिशन्नादौ लोकसंज्ञात्यागमेवाह—

प्राप्तः षष्ठं गुणस्थानं भवदुर्गाऽद्रिलङ्घनम् ।
लोक संज्ञारतो न स्यान्मुनि र्लोकोत्तरस्थितिः ॥ १ ॥

प्राप्त इत्यादि । मुनिः—भवोद्विग्नस्तत्सन्तरणोपायमास्थितः सम्यग्ज्ञानवान् साधुः, भवदुर्गाऽद्रिलङ्घनम्—भवश्चतुर्गतिकः संसार स दुर्गो दुःखेन दुष्कर्मणा, दुष्कर्मविपाकफलरूपेणेत्यर्थः । अद्रिपक्षे च कृच्छ्रेणेत्यर्थः । तेन प्रकारेण गम्यते प्राप्यते, अद्रिपक्षे चाऽऽरुह्यते इति स तादृशोऽद्रिः पर्वतः, अथवा यथोन्नतः शिलाखण्डकण्टकादिसङ्कुलः पर्वत आरोहणे दुःखदस्तथा भवोऽपि प्राप्तौ सत्यां दुःखद इति द्वयोर्गमनं दुःखाकरमित्यद्रिरिव भवो भव इव वाऽद्रि र्दुर्ग इति भवदुर्गाऽद्रेः, लङ्घनं लङ्घ्यत्यतिक्रम्य पारं गच्छत्यनेनेति लङ्घनसाधनभूतमित्यर्थः षष्ठम्—मिथ्यात्वादिक्रमेण षण्णां पूरणं सर्वविरत्यात्मकं प्रमत्तसंयताख्यम्, गुणस्थानम्—गुणानां सम्यग्दर्शनादीनां स्थानं प्रकृष्ट परिणति विशेषात्मकस्थितिम्, गुणस्थानकमिति प्रसिद्धमिति बोध्यम् । अद्रिपक्षे च सुकरतया गमनयोग्यत्वात्सरलत्वनिष्कण्टकत्वादिगुणवन्मार्गम्, प्राप्तः—आपन्नः सन्, लोकोत्तरस्थितिः—लोका गृहवासमापन्ना

गृहस्था अन्ये च लौकिकश्रेयः साधनतत्परास्तेभ्य उत्तरोर्ध्वभाविनी तद्विलक्षणा स्थितिः प्रवृत्तिमर्यादा यस्य स तादृशः, गृहिजनविलक्षणप्रवृत्तिमास्थित इत्यर्थः अद्रिपक्षे च सुगमार्गं लोकैरन्यैरज्ञातं प्राप्त इत्यतो लोकोत्तरस्थितिः अत एव, लोकसंज्ञारतः—लोकस्य गृहिजनादिप्रकारस्य परमार्थज्ञानहीनत्वाद्धर्मशास्त्रविरुद्धप्रवृत्तिकस्यलौकिकश्रेयोमात्रप्रवृत्तस्य लोकपूजार्थं तत्कृतत्वात्तदाश्रितत्वाच्च तत्सम्बन्धिनी या संज्ञा हेयोपादानोपादेयत्यागात्मकलौकिकश्रेयःसाधनविविध सावद्यप्रवृत्तिः, लोकप्रवाह इति यावत्। तस्यां रतःप्रेम्णा व्याप्तः, तत्पर इत्यर्थः। पक्षान्तरे लोकसंज्ञया लोकप्रवाहेन "नाऽयंमार्गःसुग" इत्यादि लोकोक्त्या रतो विरतः, न—नैव, स्यात्—भवेत्। लोक संज्ञाया लौकिकश्रेयः साधनत्वेऽपि सावद्यत्वेन पारलौकिकश्रेयः परिपन्थित्वादिति बोध्यम्। यथा पर्वतारोहकः सुमार्गं प्राप्य लोकप्रवादान्न तत्त्यजति, अन्यथाऽऽरोहणमेव न स्यात्, तथा मुनिः, सर्वविरतेश्चास्रवनिरोधात्मकसंवररूपतया भवोच्छेदसमर्थत्वात्तामास्थितः शास्त्रसम्मत्तामेव लोकविरुद्धामपि प्रवृत्तिमाश्रयति, न लोकप्रवृत्तिम्, तस्या भवानुबन्धितया विरुद्धत्वादयोग्यत्वाच्चेति मुनि र्लोक संज्ञारतो न स्यादिति भावः। नह्यलौकिकस्थिते र्लौकिकप्रवृत्तिरनुरूपाऽनुगुणावेति हृदयम् ॥ १ ॥

ननु "यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नादरणीयमि"ति मतिमतां मतस्थितिः, भवता च तद्विरुद्धं 'लोक संज्ञारतो न

स्यादि' त्युपदिश्यते । एवञ्च विप्रतिपन्ना वयमिति शिष्यं गौरवान्निर्भर्त्सयन्नाह—

यथा चिन्तामणिं दत्ते बठरो बदरीफलैः ।
हाहा ! जहाति सद्धर्मं तथैव जनरञ्जनैः ॥ २ ॥

यथेत्यादि । यथा–यद्वत्, बठर–अज्ञः, बदरीफलैः–बदरी कुवली, " कर्कन्धुः कुवली कोलि र्बदरी "ति हैमः। तस्याः फलानि बदराणि तैः कृत्वा, बदरीफलमूल्येनेत्यर्थः । चिन्तामणिम्–यावच्चिन्तितप्रदं देवविशेषाधिष्ठितं स्वनामख्यातं मणिम्, दत्ते–अर्पयति, विक्रीणीते इत्यर्थः । अज्ञस्य ह्ययं चिन्तामणिरित्यज्ञानात्स सामान्योऽयमुपलखण्ड इति नाऽस्माकमुपयोगीति कृत्वा तेन बदरलाभेऽति स्वं कृतकृत्यं ग्राहकं च बठरं मन्यते इत्याशयः । तथा–तेन प्रकारेणैव, एवकारः साम्यातिशये । जनरञ्जनैः–जनस्य गृहवासिप्रभृतिलोकस्य रज्यते एभिरिति रञ्जनानि रञ्जनसाधनप्रवृत्तयस्तैः कृत्वा, तदाश्रित्येत्यर्थः । सद्धर्मम्–सन् शास्त्रविहितत्वाच्छ्रेयोनिमित्तत्वाच्छुभो यो धर्मस्तज्जनकसदाचारादिस्तम्, सम्यक्चारित्रमित्यर्थः । जहाति–त्यजति, मुनिरितिप्रकरणाल्लभ्यते । मुनिर्हि लोकसंज्ञारतो लोकरञ्जनार्थमविहितमप्याचरतीति सद्धर्मात्प्रच्यवत्येवेत्यर्थः । तदेतत्, हाहा–शोकोत्कर्षिका वार्ता, ज्ञानिनोऽपि धर्मभ्रंशेनाऽपि लोकेहेति वार्त्तयाऽपि नितरां दुनोति चेत इत्यर्थः। अत्र मुनिरिति कर्त्तुरनुक्त्या भङ्ग्या बठररूपकर्त्तुः सम्बन्धं

सूचयति। तेन च लोकरञ्जनैः सद्धर्मत्यागो बठरतैवेति ध्वन्यते ॥२॥

नह्युक्तप्रकारया निर्भर्त्सनया शिष्यविप्रतिपत्तिनिरास इत्यन्तरनुचिन्त्याऽऽह—

लोकसंज्ञामहानद्यामनुस्रोतोऽनुगाः न के।
प्रतिस्रोतोऽनुगस्त्वेको राजहंसो महामुनिः ॥ ३ ॥

लोकसंज्ञेत्यादि। लोकसंज्ञामहानद्याम्-लोको लौकिकश्रेयोमात्रबहुमानः साधारणो जनस्तस्य या संज्ञाऽविहितत्वेऽपि गतानुगतिकतया गड्डरिकाप्रवाहेण प्रवृत्तिस्सैव प्रवाहानुकूलगतिप्रयोजकत्वान्महती गभीरा विपुला तीव्रप्रवाहा चासौ नदी च सा तस्याम्, महानद्यां हि ये पतन्ति ते तत्तीव्रस्रोतसाऽवश्यं ह्रियन्ते, तथा लोका लोकसंज्ञायां लोक प्रवाहेणेति बोध्यम्। अत एव, के-किम्प्रकारा जनाः, अनुस्रोतोऽनुगाः-स्रोतः प्रवाहस्तदनुलक्ष्याऽनुस्रोतः, प्रवाहाऽऽनुकूल्येनेत्यर्थः। तथाऽनुगच्छन्त्यनुहरन्ति प्रवर्त्तन्ते च ते तादृशा अनुगाः, प्रवाहाधीनप्रवृत्तय इत्यर्थः। न-नैव, काचनाऽपि तु सर्वे एव लौकिकश्रेयःकाङ्क्षिण इत्यर्थः। अतएवोक्तं "यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नादरणीयमि"त्याकूतम्। तुर्विशेषे। महामुनेस्तु विशेष इत्यर्थः। तमेवाह-प्रतीत्यादि। एकः-केवलः, राजहंसः-हंसानां स्वनामख्यातानां पक्षिविशेषाणां राजोत्तमो राजहंसः। राजदन्तादित्वत्समासः। तत्तुल्य इत्यर्थः। तद्वद्विशुद्धत्वाद्विलक्षणवीर्यशालित्वाच्चेति बोध्यम्। महामुनिः-महान् इतराऽपेक्षया विशुद्धत्वादात्मवीर्यसम्पन्नत्वाच्च प्रकर्षाश्रयो मुनिर्ज्ञानी

साधुः, प्रतिस्रोतोऽनुगः-स्रोतः प्रत्याभिमुख्येनेति प्रतिस्रोतोऽनुगच्छतीति स तादृशः, प्रवाहाभिमुखप्रवृत्तिरित्यर्थः। यथा राजहंसो महानद्यामपि प्रतिस्रोतस्तरति तथा महामुनिरपि लोकविरुद्धेऽपि शास्त्रविहिते मार्गे प्रतिष्ठते। यद्यपि शुद्धमित्याद्युक्तिस्तु लौकिकानां न मुनीनां कृते, तेषां लोकोत्तरस्थितिकत्वाल्लोकानुपालनस्याऽयोग्यत्वादिति विप्रतिपत्तिं न कार्येति भावः। अत्र च प्रतिस्रोतोऽनुग एव महामुनि र्महामुनिरेव च प्रतिस्रोतोऽनुग इति महामुनिरिति साभिप्रायविशेषणेन सूच्यते ॥ २ ॥

सम्प्रति शिष्यप्रबोधाय "यद्यपि शुद्धमि"त्याद्यनुरोधेन अवृत्तावनिष्टमाह—

लोकमालम्ब्य कर्त्तव्यं कृतं बहुभिरेव चेत्।
तदा मिथ्यादृशां धर्मो न त्याज्यः स्यात्कदाचन ॥ ४ ॥

लोकमित्यादि। चेत्-यदि, लोकम् लोकरीतिम्, आलम्ब्य-आश्रित्य, लोकानुरोधेनेत्यर्थः। बहुजनानुरोधेनेति यावत्। बहुभिः-बहुसङ्ख्यकैर्जनैः, एवकारो भिन्नक्रमः कृतमित्यनन्तरं बोध्यः। कृतम्-आचरितमेव, नत्वरूपेनेत्येवकारार्थः। कर्त्तव्यम्-आचरणीयम्। इतीष्यते इति शेषः। तदा-तथा स्वीकारे, मिथ्यादृशाम्-मिथ्या सावद्यत्वाच्छ्रेयः परिपन्थित्वाद्युक्तिविरुद्धत्वाच्च विपरीता विविधविरुद्धोपाध्युपहितवस्तुपरिच्छेदिका दृग् दर्शनं सिद्धान्तो येषां ते तादृशा अप्रतिसिद्धान्तानुसारिणो दर्शनविशेषकृतरुचयो हेयोपादेयविवेकविकलास्तेषाम्, धर्मः-तच्छास्त्राचारविचारादि-

स्तेषां धर्मजनकत्वेनेष्टः, कदाचन-कालत्रयेऽपि, त्याज्यः-हेयः, न-नैव, स्यात्-भवेत्। तद्धर्मस्य बहुभिः कृतत्वात्। अवश्यहेयश्च सः, सावद्यत्वाद्युक्तिविरुद्धत्वाच्छ्रेयः परिपन्थित्वात्। एवञ्च लोकसंज्ञारतौ हेयाहानं दोष इति सा त्याज्यैवेति सुष्ठूक्तं "लोकसंज्ञारतो न स्यादि"ति। अत एव "यद्यपि शुद्धमि" त्याद्युक्ति र्न केवलं लौकिक श्रेयोऽर्थिनां कृते एव, किन्तु तदाश्रयणेऽनर्थोऽपि निःश्रेयसार्थिनामिति तात्पर्यम्॥ ४॥

ननु स्तैन्याद्यपकर्मस्वरूप एव प्रवृत्तो दृश्यते न बहव इति बहुभिः कृतस्य करणे दोषोद्भावममनोज्ञमिति शिष्य शङ्कां निराकरिष्णुराह—

श्रेयोऽर्थिनो हि भूयांसो लोके लोकोत्तरे न च।
स्तोका हि रत्नवणिजः स्तोकाश्च स्वात्मसाधकाः॥ ५॥

श्रेय इत्यादि। हि-वस्तुतः, लोके-लोकविषये, लोकोत्तरे-लोकादुत्तरः परः, परलोक इत्यर्थः, तद्विषये। उभयत्र विषयसप्तमी बोध्या। चः समुच्चये। श्रेयोऽर्थिनः-श्रेयसः कल्याणस्याऽर्थिनः प्रयोजनवन्तः, श्रेयःकामा इत्यर्थः। लौकिकाभ्युदयस्य पारलौकिकस्य श्रेयसश्चाऽर्थिन इति सारार्थः। उलक्षणत्वाच्च तादृशसामग्रीसमवधाने कृतश्रमास्तत्सम्पन्नाश्चेति बोध्यम्। नहीच्छामात्रेण कृतकृत्यता, इच्छायां सत्यामपि च न प्रवृत्तिः सर्वेषाम्, को वा न शुभमिच्छति। भूयांसः-अतिबहवः, न-नैव, लौकिकपारलौकिकश्रेयोऽर्थिनोऽल्पा एव भवन्ति, तादृशस्य हि श्रेयसोऽतिभूरिप्रयास-

साध्यत्वाद्दुर्लभदुष्कर साधनाधीनत्वाच्च तत्राऽप्रतिहतोत्साह वीर्य-साधनसम्पन्ना एव प्रवर्त्तन्ते । तादृशाश्च न बहव इति तात्पर्यम् । तत्रोभयत्र यथाक्रमं दृष्टान्तमाह-स्तोका इति । हि-यतः, रत्न-वणिजः रत्नानां हीरकप्रमृतीनां स्वनामख्यातानां रत्नानां वणिजो व्यवहारिणः, स्तोकाः-अल्पाः, रत्नव्यवहारकौशल्यस्य तत्साधन-भूरिद्रव्यादेश्च बहुष्वसम्भवादिति बोध्यम् । रत्नव्यवहारेण लौकिका-भ्युदयो भूरिद्रविणादिलाभात् । नच तत्र बहवः प्रवर्त्तमाना इत्यतो लोके श्रेयोऽर्थिनो न भूयांस इति तात्पर्यम् । चः पुनरर्थे । स्वात्म-साधकाः-स्वो निज आत्मा तस्य साधका ज्ञानचारित्रादिना तत्साक्षात्कारोद्यमिनः, स्तोकाः-अल्पा एव । ज्ञानस्य दुर्लभत्वा-च्चारित्रस्य दुराध्यत्वाच्च तादृशात्मवीर्यादि सम्पन्ना एव तत्र प्रवर्त्तन्ते । तादृशाश्चाऽल्पा न बहव इत्यतो लोकोत्तरे श्रेयोर्थिनो न भूयांस इति भावः । एवञ्च यथाऽत्यपकृष्टकर्मस्वल्पास्तथाऽत्युत्कृष्टकर्म-स्वपि न भूयांसः प्रवर्त्तन्ते । किन्तु शास्त्रदृष्टया सावद्येष्वपि लोक-दृष्टया निरवद्यतया मन्यमानेष्वेव कर्मसु गतानुगतिकतया बहवः प्रवर्त्तन्ते इति बहुभिः कृतस्य करणं दोषायैवेति सुष्ठूक्तं " लोक-संज्ञारतो न स्यादि "ति बोध्यम् ॥ ५ ॥

सम्प्रति शिष्यस्य प्रबोधो यथा स्यादिति लोक रञ्जनार्थं क्रियमाणां चेष्टामुपालभमान आह—

लोकसंज्ञाहता हन्त ! नीचै र्गमनदर्शनैः ।
शंमयन्ति स्वमत्याङ्गमर्मघातमहाव्यथाम् ॥ ६ ॥

लोकेत्यादि । हन्तेति खेदे । लोकसंज्ञाहताः—लोकसंज्ञा लोकरञ्जनार्थं विधीयमानाऽशास्त्रविहिता विविधा चेष्टा, तया हेतुना हताः मन्दसत्त्वाः, दण्डादिनाऽऽघातमुपगता इवेति बोध्यम् । हीनसत्त्वतया लोकसंज्ञारता इति निष्कर्षः । जना इति विशेष्यमर्थबलाद्बोध्यम् । नीचैर्गमनदर्शनैः—" अहमतिनम्रो न ममाऽहङ्कारलेशोऽपीति स्वस्य नम्रत्वनिरभिमानित्वादिख्यापनेन, 'नाऽहंस्त्र्यादिकं द्रष्टुकामो न वा दृष्टपूतं पादं न्यस्यामीति स्वनिर्लेपत्वसोपयोगत्वख्यापनेन च लोको मामनुरज्यत्विति लोकरञ्जनार्थं नीचैर्नम्रतयाऽधश्च यथाक्रमं यद्गमनानि गतागतानि दर्शनानि विलोकनानि च तैः कृत्वा, स्वसत्याङ्गमर्मघातमहाव्यथाम्—स्वं स्वकीयं सत्यं सत्यव्रतं शास्त्रविहितं समाचरिष्यामीति प्रतिज्ञातं सदाचरणं तदेवाङ्गं शरीरमिव परिपालनीयत्वादङ्गं तस्य मर्माणि सारभूते कोमले स्थाने यो घातोऽपालनजनिता प्रतिज्ञाताऽऽवश्यकांशहानिः प्रहारश्च, तज्जनिता या महती दुःसहत्वादत्यधिका व्यथा पीडा ताम्, शंसयन्ति—कथयन्तीव, लक्षयन्तीत्यर्थः । मर्मघातपीडया हि नता भवन्त्यूर्ध्वं द्रष्टुं च न प्रभवन्तीति लोके बहुशो दृश्यते इति भावः । लोकरञ्जनार्थमशास्त्रविहिताचरणानि मन्दसत्त्वविजृम्भितानि गृहीतव्रतमर्मच्छेदकराणि दुरितानुबन्धित्वाद्दुर्गतिप्रदानि चेति महासत्त्वैराचरणीयान्येवेति हृदयम् ॥ ६ ॥

नन्वेवं लोकानुसरणेन यत्र धर्मसिद्धिस्तत्र तदुपादेयं बाधकाऽभावादिति सामान्यतो लोकसंज्ञारतिनिषेधो न युज्यत इति शिष्यविप्रतिपत्तिं बिभित्सुराह—

आत्मसाक्षिकसद्धर्मसिद्धौ किं लोकयात्रया ? ।
तत्र प्रसन्नचन्द्रश्च भरतश्च निदर्शने ॥ ७ ॥

आत्मेत्यादि । आत्मसाक्षिकसद्धर्मसिद्धौ—आत्मैव न तु लोकः साक्षी स्थेयो यत्र सा तादृशी, सा चाऽसौ सतो निर्दुष्टस्य श्रेयः साधनभूतस्य धर्मस्य लक्षणया धर्माचरणस्य सिद्धि र्निष्पत्तिश्च सा, तस्याम्, तद्विषय इत्यर्थः । सद्धर्मस्य सिद्धावात्मैव साक्षी न लोकः । लोको हि बहिर्व्यवहारमात्रं ज्ञातुं प्रभवति । बहिर्व्यवहारश्चाऽऽभ्यन्तरिकशुद्धभावाऽनुप्राणित एवेति न नियमः । लोकदृष्ट्या सद्धर्मानादिमतोऽपि वस्तुतोऽन्तर आर्त्तरौद्रादिध्यानसम्भवाद्भ्रंशस्याऽपि सम्भवाच्च । एवञ्च सद्धर्मसिद्धिरात्मसाक्षिकैव । आत्मैव हितस्य तत्सद्धर्माचरणं नवेति परमार्थतो जानाति नत्वन्यः । अत एव, लोकयात्रया—लोकस्य यात्रा सम्भूय गमनम्, बहूनां सदृशाचार इत्यर्थः । लोकव्यवहार इति यावत् । तया तदनुसरणेन, लोकसंज्ञारत्येति सारार्थः । किमिति क्षेपे । न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः । तया कदापि सद्धर्मसिद्धेरभावात् । लोकानुसरणेन लोकरञ्जनेऽपि धर्मो न सिध्यति । नह्ययं धर्मात्मेति लोकप्रशंसया धर्मसिद्धिः । दम्भिनां दुर्ध्यानिनामपि च वेषलिङ्गादिभि र्लोके पूजालाभाद्धर्मात्मभावगानाच्च । अतो मम धर्मस्य सिद्धि र्नवेत्यत्राऽऽत्मैव प्रमाणम् । एवञ्चतदर्थमात्मैवाऽनुसरणीयो न लोक इति लोकविरुद्धमपि विहितं धर्मार्थिनामनुष्ठेयमिति मुने र्न लोकयात्रया प्रयोजनमिति भावः । आत्मसाक्षिकैव सद्धर्मसिद्धिरित्यत्र दृष्टन्त-

माह तत्रेत्यादि । तत्र—आत्म साक्षिकैव सद्धर्मसिद्धिरित्यत्र, प्रसन्नचन्द्रः—तदाख्यो नृपः, भरतः—तदाख्यः प्रथमश्चक्री, च द्वयं समुच्चये । निदर्शने—उदाहरणे । प्रसन्नचन्द्रस्य हि लोकदृष्ट्या वेषमुद्रादिभि र्बाह्य चारित्रैर्धर्मस्थत्वेऽपि दुर्ध्यानवशादशुभकर्मबन्धः, आत्मदृष्ट्या सद्धर्मसिद्धेरभावात् । भरतस्य च लोकदृष्ट्या विविधविषयोपभोगपरायणत्वेन बाह्य चारित्राऽभावादधर्मस्थत्वेऽपि निजात्मदृष्टयाऽभेदपरिणत्यात्मक सद्धर्मसिद्धेः कैवल्यमित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां सद्धर्मसिद्धिरात्मसाक्षिकैवेति मुनेराशयः । एवाऽनुसरणीयो न लोकः । आत्मानुसरणेन चेल्लोकोऽप्यनुसृतो भवति चेत्सुवर्णे सौरभमिति सुष्ठूक्तं " लोकसंज्ञारतो न स्यादि "ति भावः ॥ ७ ॥

शिष्यस्य रुचिर्यथा स्यादिति लोकसंज्ञात्यागफलं वर्णयन्नुपसंहरति—

लोकसंज्ञोज्झितः साधुः परब्रह्मसमाधिमान् ।
सुखमास्ते गतद्रोहममतामत्सरज्वरः ॥ ८ ॥

इति महामहोपाध्याय श्रीयशोविजयोपाध्यायविरचिते ज्ञानसारे लोकसंज्ञात्यागाऽष्टकं नाम त्रयोविंशतितमाष्टकम् ॥ २३ ॥

लोकसंज्ञोज्झित इत्यादि । लोकसंज्ञोज्झितः—लोकसंज्ञोक्तप्रकारा, तयोज्झितो विरहितः, लौकसंज्ञाविरत इत्यर्थः । अत एव, गतद्रोहममतामत्सरज्वरः—गतो विनष्टः, द्रोहः परघातादिचिन्ता, ममताऽनित्यदारागारादौ स्वत्वबुद्धिः, मत्सरोऽन्यशुभद्वेषस्तेषां

तज्जन्यत्वात्तत्सम्बन्धी ज्वरो रोगविशेष इवाऽन्तस्तापात्मको ज्वरो यस्यः, द्रोहादय एवाऽन्तस्तापप्रदत्वाज्ज्वरो यस्येति वा स तादृशः, निर्मलात्मेत्यर्थः । बहिरङ्गान्तरङ्गदोषशून्य इति समुदितसारार्थः । साधुः–मुनिर्यति धर्मस्थः, परब्रह्मसमाधिमान्–परं शुद्धसच्चिदानन्दमयत्वात्पारमार्थिकं यद्ब्रह्माऽऽत्मा तस्य तद्विषयत्वात्तत्सम्बन्धी यः समाधि र्मनःसमाधानम्, मनसो वृत्त्यन्तरपरिहारेण तादृशात्मनि लीनता, तद्वान् सन् । सुखम्–सुखं यथास्यात्तथा, सुखेनेत्यर्थः । आस्ते–तिष्ठति, ब्रह्मानन्दमनुभवतीति यावत् । लोकसंज्ञारतो हि लौकिकश्रेयोऽर्थीति स स्वेष्टविघ्नकारिणे द्रुह्यति, इष्टे ममत्वमनुबध्नाति, परोत्कर्षं च स्वन्यूनत्वाऽनुषङ्गान्न सहते, विषयविक्षुब्धमनाश्च भवतीति सर्वदाऽन्तस्तापाकुल एव भवति । लोकसंज्ञात्यागे तु द्रोहादेः कारणाऽभावादेवाऽभावः, विषयासङ्गाभावाच्च मन आत्मनि सहजत एव लीयते, ततश्च परमानन्दानुभवः । तस्माल्लोकसंज्ञा सर्वप्रयासेन हेयैव श्रेयोर्थिना मुनिनेति तात्पर्यम् ॥ ८ ॥

इति ज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृकविरत्नपन्यासप्रवरश्रीयशोभद्रविजयगणिवरशिष्यपन्यास श्रीशुभङ्करविजयगणिविरचितायां भद्रङ्करोदयाख्यायां व्याख्यायां लोकसंज्ञात्यागाऽष्टकं नाम त्रयोविंशतितमाऽष्टकम् ॥ २३ ॥

## ॥ शास्त्रदृष्ट्यष्टकम् ॥

लोकसंज्ञात्यागाद्धर्मसिद्धिरित्युक्तम् । धर्मपरिज्ञानं च शास्त्रदृष्ट्येति तदष्टकं विवक्षुरादौ कस्य का दृष्टिरिति शिष्यजिज्ञासां समाधित्सुराह—

चर्मचक्षुर्भृतः सर्वे देवाश्चाऽवधिचक्षुषः ।
सर्वतश्चक्षुषः सिद्धाः साधवः शास्त्रचक्षुषः ॥ १ ॥

चर्मचक्षुरित्यादि । सर्वे—सकला भवस्थाः प्राणिनः, चर्मचक्षुर्भृतः—चर्मणस्तदात्मकत्वात्तत्सम्बन्धि, चर्ममयं त्वङ्मयं वा चक्षुर्नेत्रं दर्शनसाधनं येषां ते तादृशाः । निर्वृत्त्युपकरणेन्द्रियादिमन्त इत्यर्थः । सर्वे प्राणिनो बहिरिन्द्रियचक्षुरादिद्वारैव विषयान् गृह्णन्तीति लाक्षणिकोऽर्थ । तेषां विषयग्रहणे साधनाऽन्तराऽभावादिति बोध्यम् । तदेवं सामान्यमुक्त्वा कतिपयेषु विशेषमप्याह—देवाः—भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकभेदभिन्ना देवपदवाच्या अजरामराः प्राणिनः, चो भिन्नक्रमोऽवधिचक्षुष इत्यनन्तरं बोध्यः । अवधिचक्षुषः—अवधिरिन्द्रियादिकमनपेक्ष्य ज्ञानावरणीयक्षयोपशमविशेषवशादात्मप्रत्यासत्त्या रूपिद्रव्यविषयकं प्रत्यक्षज्ञानम्, तद्रूपं चक्षुरिव प्रत्यक्षसाधनत्वाच्चक्षुर्नेत्रं येषां ते तादृशाः, अवधिज्ञानिन इत्यर्थः । चः समुच्चये । देवा न केवलं चर्मचक्षुर्भृतः, किन्त्ववधिचक्षुषोऽपीत्यर्थः । तथा, सिद्धाः—सिद्धसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रास्तीर्थङ्कराः केवलज्ञानिनः, न तु सिद्धाः सिद्धानन्तचतुष्का मुक्ताः, चर्मचक्षुर्भृतः सर्वे इत्युक्त्या मुक्तभिन्नानामेव प्रस्तुतत्वादित्य-

बधेयम्। सर्वतश्चक्षुषः—सर्वतः सर्वदिक्षु विषयग्राहकं केवलात्मकं ज्ञानमेव चक्षुर्येषां ते तादृशाः। चर्मचक्षुषो ह्यपे, देवा स्वविमानाद् यथासंभवं पश्यन्ति। केवलज्ञानी तु सर्वद्रव्यपर्यायं सर्वदैव सर्वभावेन सर्वदिक्षु पश्यतीति स सर्वश्चक्षुरिति बोध्यम्। तथा, साधवः—साध्नुवन्ति परमार्थं परकार्यं च ते, मुनयो जगत्तत्त्वमननपरायणा यतिधर्मस्था विद्वांसश्च, शास्त्रचक्षुषः—शास्त्यनेनऽभ्युदयनिःश्रेयसमार्गं हेयोपादेयसामान्यविशेषादिविभागपूर्वकं तत्, आगमादि रूपं शास्त्रपदवाच्यं चक्षुर्विषयपरिच्छेदसाधनत्वाच्चक्षुरिव येषां ते तादृशाः। यद्धि शास्त्रे प्रतिपादितं तदेव जानन्त्या चरन्ति च। अत एव तेषां लोकसंज्ञारति र्निषिद्धेति तात्पर्यं शास्त्रचक्षुष इति काकवा ध्वन्यते। उक्तं चाऽन्यत्राऽपि यथा—" चारैः पश्यन्ति राजानः शास्त्रैः पश्यन्ति पण्डिताः गावः पश्यन्ति गन्धेन चक्षुर्भ्यामितरे जना " इति ॥ १ ॥

ननु शास्त्रे न सर्वं प्रतिपादितम्, किन्त्वभ्युदयनिःश्रेयसोपाया एवेत्यल्पज्ञाः साधव इत्यायातमिति वैशिष्ट्यं तेषां हीयत इति शिष्यकुचोद्यं व्यपनुदन्नाह—

पुरःस्थितानिवोर्ध्वाऽधस्तिर्यग्लोकविवर्त्तिनः।
सर्वान् भावानवेक्षन्ते ज्ञानिनः शास्त्रचक्षुषा ॥ २ ॥

पुरस्थितानित्यादि। ज्ञानिनः—ज्ञानं शास्त्ररहस्यबोधात्मकं सम्यग्ज्ञानमस्त्येषामिति ते, सच्छास्त्रपरिशीलनजन्यविशुद्धज्ञानसम्पन्ना मुनयः, सर्वान्—अखिलान्, न तु कतिपयानेवेति काकुः।

सर्वपदार्थमेव विवृण्वन्नाह–ऊर्ध्वाऽधस्तिर्यग्लोकविवर्तिनः–ऊर्ध्वमुपरिस्थितो देवविमानाद्यात्मकः, अधो नीचैः स्थितो नरकाद्यात्मकः, तिर्यक् तिरश्चीनो ज्योति र्मण्डलद्वीपसागराद्यात्मकश्च यो लोको भुवनात्मको लोकसंज्ञया ख्यातोऽलोकेतरो धर्माधर्मास्तिकायपरिच्छिन्नः समग्रो लोक इत्याशयः, तत्र विवर्तनं विवर्त्तः उद्वर्त्तनाऽपवर्त्तनात्मकतया विविधः परिणामविधिस्त्येषामिति ते तादृशास्तान् त्रिलोकी–प्रतिष्ठितानुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तानित्यर्थः । भावान्–भवन्ते प्राप्नुवन्ति तांस्तान् पर्यायानिति भावाः पदार्थास्तान्, सपर्यायाणि लोकस्थानि द्रव्याणीति समुदितार्थः । शास्त्रचक्षुषा–शास्त्रं वक्ष्यमाणलक्षणं तदेव यथावस्थितवस्तुपरिच्छेदसाधनत्वाच्चक्षुर्नेत्रमिव तेन, शास्त्राभ्यासजज्ञानेनेत्यर्थः । शास्त्रमात्रसाधनत्वात्तज्ज्ञानस्य कार्ये कारणोपचारो बोध्यः । पुरः स्थितानिव–पुरः समक्षं स्थिता विद्यमानास्तानिव तद्वत्, इन्द्रियगोचरानिवेत्यर्थः । अवेक्षन्ते–परिच्छिन्दन्ति । यथेन्द्रियगोचराणी भावानां विशदं परिच्छेदस्तथेन्द्रियाऽगोचराणामपि भावानां शास्त्रेण कृत्वा परिच्छेद इति न शास्त्रज्ञोऽल्पज्ञः । शास्त्रे हि हेयानामुपादेयानां च प्रतिपादनात्, अन्यादृशानामभावाच्च । न चैवं सर्वज्ञता, केवली ह्यलोकमनन्तमपि पश्यतीति बोध्यम् । यदुक्तम्–" चक्षुष्मन्तस्त एवेह ये श्रुतज्ञानचक्षुषा । सम्यक्सदैव पश्यन्ति भावान् हेयेतरान् नराः " इति " भूतार्थसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम् । सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव स " इति च ॥ २ ॥

नन्वेवमेतत्, किन्तु शास्त्राण्यनेकानि मिथो विरुद्धार्थप्रतिपादकानि, ततश्च प्रेक्षावतां विप्रतिपत्तिरिति शिष्यजिज्ञासायामाह—

शासनात्त्राणशक्तेश्च बुधैः शास्त्रं निरुच्यते ।
वचनं वीतरागस्य तत्तु नाऽन्यस्य कस्यचित् ॥ ३ ॥

शासनादित्यादि । बुधैः—ज्ञानिभिः, शास्त्रतत्त्वज्ञैरित्यर्थः । शासनात्—शासनमुपदेशः, हेयोपादेयविवेकद्वाराऽभ्युदयनिःश्रेयससाधनसद्धर्मदेशनेत्यर्थः । तदाश्रित्येति यब्लोपे पञ्चमी । त्राणशक्तेः—अशुभप्रवृत्तिनिषेधशुभप्रवृत्तिविधानतो दुर्गतौ पातादक्षणं त्राणं तत्र तद्विषये या शक्तिः सामर्थ्ययोगो यथास्थितवस्तुप्रतिपादनात्मकः । यदेव हि यथार्थं प्रतिपादकं तदेव शक्तिमद्च इति बोध्यम् । तदाश्रित्य, चः समुच्चये । शासनकरणात्राणशक्तिमत्त्वाच्चेति सारार्थः । शास्त्रम्—शास्त्रमित्येवम्, निरुच्यते—प्रतिपाद्यते, यद्धि शास्ति त्रायते च तदेव शास्त्रपदार्थ इति सारः । शासनं त्राणशक्तिश्च शास्त्रनिकषग्रावेति हृदयम् । एतद्वयं यत्र तदेव शास्त्रं नाऽन्यत्, तादृशं च किमित्यपेक्षायामाह—वचनमिति । तत्—निरुक्तप्रकारं शास्त्रम्, वीतरागस्य—वीतो विगतो राग उपलक्षणत्वाद्द्वेषादयश्च यस्मात्स रागद्वेषादिशून्यः षष्ठ प्रकृतिरुत्तमोत्तमः पुरुषः, तस्य, वचनम्—देशनावचः, स्यादिति शेषः । यदुक्तम्—" दुर्गतिप्रपतज्जन्तुजातोद्धरणरज्जवः । तु—भेदे । वीतराग वचनमिन्नमित्यर्थः । अन्यस्य—रागद्वेषादिमतः, कस्यचित्—रागादिमत्त्वादपकृष्टतयाऽऽप्ताऽभिधेयस्य पुरुषस्य, वचनमिति सम्बध्यते । न—नैव ।

रागादिमतो हि वचनमप्रमाणं त्राणाऽक्षपं च, प्रत्युतपातसाधनमेव । यदुक्तम्–" हितोपदेशात्सकलज्ञकल्प्ते मुमुक्षु सत्साधुपरिग्रहाच्च । पूर्वाऽपरार्थेष्वविरोधसिद्धेस्त्वदागमा एव सतां प्रमाणमि"ति, " कुशासनापाशविनाशनाय नमोऽस्तु तस्मै तव शासनाये"ति च । हिंसाद्यसत्कर्मपथोपदेशादसर्वविन्मूलतया प्रवृत्तेः । नृशंसदुर्बुद्धि परिग्रहाच्च ब्रूमस्त्वदन्यागममप्रमाणमि "ति चेति तात्पर्यम् ॥ ३ ॥

नन्वस्तु वीतरागवचनं शास्त्रम्, भवतु च त्रिलोकपदार्थ ततः । तेन को लाभ इति शिष्यजिज्ञासां समाधत्ते—

शास्त्रे पुरस्कृते तस्माद्वीतरागः पुरस्कृतः ।
पुरस्कृते पुनस्तस्मिन् नियमात्सर्वसिद्धयः ॥ ४ ॥

शास्त्रे इत्यादि । तस्माद्–शासनाऽत्राणशक्तेश्च वीतराग-वचनस्यैव शास्त्रत्वाद्धेतोः, शास्त्रे–वीतरागवचनात्मके शास्त्रे, पुरस्कृते–पालनादिना पुरस्कृतवत्सबहुमानं पूजिते सति, क्रमपि हि पूजार्थं पुरस्कुर्वन्ति जना इति भावः । वीतरागः–जिनोऽर्हन्, पुरस्कृतः–सादरं सबहुमानं च पूजितः । महतामाज्ञाराधनमेव तत्पूजनम्, तेषां निःस्पृहत्वात्प्रकारान्तरेण तत्पूजाया अयोग्यत्वात्, किञ्चाऽऽज्ञापालने आज्ञातुः स्मरणं स्वाभाविकमिति च बोध्यम् ॥ नन्वस्त्वेतत्, तेन किमिति चेत्तत्राह–पुरस्कृते इति । पुनरिति चाऽर्थे । तस्मिन्–वीतरागे, पुरस्कृते–पूजिते च, सतीति शेषः । नियमात्–अव्यभिचारेण, सर्वसिद्धयः–सर्वा निखिलाश्च न तु काश्चिदेव ताः सिद्धयोऽणिमादिसिद्धयो लब्धयः केवलज्ञानादि-

सम्पदश्च जायन्त इति शेषः आज्ञाराधनादिना पूजितोऽर्हन् सर्वसिद्धिमूलम् । यदुक्तम्-" श्रूयन्ते चाऽनन्ताः सामायिकमात्रपदसिद्धा " इति, " भवबीजाङ्कुरजनना रागादयः क्षयमुपगता यस्य । ब्रह्मा वा विष्णु र्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै " इति च ॥ ४ ॥

सम्प्रति शिष्यप्रबोधाय शास्त्राऽनाश्रयेण प्रवृत्तावपायमाह—

अदृष्टार्थेऽनुधावन्तः शास्त्रदीपं विना जडाः ।
प्राप्नुवन्ति परं खेदं प्रस्खलन्तः पदे पदे ॥ ५ ॥

अदृष्टार्थ इत्यादि । जडाः-सम्यक्साधनमसमवधायैव श्रेयसि प्रवृताः, उपेये उपायज्ञानविकलत्वादज्ञा इत्यर्थः । अदृष्टार्थे-अदृष्टेऽज्ञातेऽर्थे विषये प्रयोजने वा, मोक्षे तत्साधनाङ्गभूते हेये आस्रवादावुपादेये संवरादौ च, अप्रत्यक्ष इत्यर्थः, परोक्षार्थ इति यावत् । अथ चाऽदृष्टश्चक्षुषोऽगोचरोऽर्थः पदार्थो यस्मिंस्तस्मिन्, गाढान्धकार इत्यर्थः । तत्तुल्य इति यावत् । शास्त्रदीपम्-शास्त्रमुक्तलक्षणं तदेव यथावस्थितहेयोपादेयवस्तुप्रकाशकत्वाद्दीप इव, तम् , विना-ऋते, शास्त्रदीपं विहायेति यावत् । अनुधावन्तः-अदृष्टमर्थमनुलक्ष्य ससंरम्भं प्रवर्त्तमानाः शीघ्रतया गच्छन्तश्च, पदे पदे-हेये उपादेये च तत्र तत्राऽर्थे, प्रतिपदन्यासे च, वीप्सायां द्विरुक्तिः । प्रस्खलन्तः-यथायोग्यमनासेवमानाः, विषमेष्वाघातादिना गतिभङ्गं प्राप्नुवन्तश्च, परम्-अत्यधिकम् । खेदम्-क्लेशम्, प्राप्नुवन्ति-लभन्ते । अविहिताचरणाल्लक्ष्या प्राप्तेः, पक्षे दुःसहाघातादेरिति च बोध्यम् । गाढान्धकारे हि दीपं विनाऽनुधावन्तो

विषममार्गे सम्यगनवलोकनात्पदे पदे स्खलन्ति, आघातादिजन्यं दुस्सहं क्लेशं चाऽनुभवन्ति जना इति प्रतीतम्। तथा मोक्षादिमार्गे प्रकारान्तरेणाऽगम्ये शास्त्रं विना सहसा प्रवर्त्तमाना हेयोपादेयादीनां यथा योग्यमनासेवनाल्लक्ष्याद् भ्रश्यन्ति, तत एव च तेषां संयमादिक्लेशो दुःसहो भवति। फलप्राप्तौ हि तदुपायक्लेशः सुसहोऽन्यथा तु सुदुःसह इति प्रतीतमेव। तस्माच्छ्रेयोऽर्थिभिः शास्त्राश्रयेणैव वर्त्तितव्यं न तु यदृच्छया। यदुक्तम्-" यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामचारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ १॥ तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्तुमिहाऽर्हसी "ति भावः॥ ५॥

नन्वेतावता स्खलनं यथा न स्यादिति शास्त्रमावश्यकमित्यायातम्। ततश्च यस्य न स्खलनं तस्य न शास्त्रेण प्रयोजनम्, नहि शास्त्रं बिना स्खलनमेवेति नियम इति शिष्यकुतर्कं विजघटयिषुराह—

शुद्धोञ्छाद्यपि शास्त्राज्ञानिरपेक्षस्य नो हितम्।
मौतहन्तु यथा तस्य पादस्पर्शनिवारणम्॥ ६॥

शुद्धोञ्छादीति। शास्त्राज्ञानिरपेक्षस्य—शास्त्रमुक्तलक्षणं तदा तत्र विधेयत्वेन प्रतिपादितो विधिस्तस्या निरपेक्षस्तज्ज्ञानपालनादिष्वादरशून्यः खैरः। किं शास्त्रेण, अहं स्वयमेव शुद्धमाचरामीत्येवं शास्त्रमवमाय यदृच्छया प्रवर्त्तमानः, तस्य, तादृशस्य जनस्य साधोरन्यस्य वा, शुद्धोञ्छादि—शुद्धं दोषवर्जितत्वान्निर्दुष्टं कल्प्यं यद्, उञ्छा भिक्षा, आदिना लोचपृथ्वीशयनब्रह्मचर्यादिस्तत्, नो—नैव,

हितम्–इष्टम्, ज्ञानादिगुणाऽनुत्कर्षकत्वादिति बोध्यम्। ज्ञान-क्रियागुणोत्कर्षे शास्त्रस्यैवाऽधिकृतत्वादित्याशयः। अपिना शुद्धोञ्छादेरहितं विरुद्धमिति सूच्यते। तत्र दृष्टान्तमाह–भौतहन्तुरित्यादि। यथा–येन प्रकारेण, भौतहन्तुः–भूतान्येव नाऽन्यत्तत्त्वान्तरं चेतनारूपं किञ्चिदित्येवं वदनशीलो भौतो भूतवादी चार्वाकस्तस्य हन्ता घातकस्तस्य तच्छिष्यस्य भिल्लादेः, तस्य–स्वगुरोर्भूतवादिनः, पदस्पर्शनिवारणम्–पदयो र्यः स्पर्शः शरादिभिः कृत्वाऽऽघातात्मकः संयोगस्तस्य निवारणं निषेधः, पादाभ्यां कृत्वा यः स्पर्शस्तस्य निवारणमिति वा। नो हितमिति सम्बध्यते। अज्ञानाद्यत्किञ्चिच्छुद्धक्रियालाभेऽपि गुरुवधपातकस्य महतोऽनिष्टस्य सम्प्राप्तेरिति बोध्यम्। अत्रेदं मननीयम्–कस्यचिद्धौतस्य मनोहरमयूरपिच्छच्छत्रस्याऽभिलाषिण्या निजप्रियपत्न्या प्रेरितस्तच्छिष्यः कश्चिद् भिल्ल उपयाच्याऽप्यप्राप्य तं स्वगुरुं हत्वाऽगृह्णात्तत्। गुरोः पादयोः शराद्याघातं पादाभ्यां स्पर्शं वा न कृतवान्, अन्यांश्चाऽपि स्वभटान् तथाकर्तुं न्यवारयत्, गुरोः पूज्यत्वात्। अत्र चैतदाकूतम्–भूतवादिनां हि गुर्वादिवधे न हिंसा चेतनाऽस्वीकारात्, अचेतनस्य लोष्टादेर्घातभेदादिषु हिंसाया अभाववत्, पूज्यं तु लोष्टादिकमपि पादस्पर्शं नाऽर्हति। अतएव भिल्लो गुरुं हत्वाऽपि पादस्पर्शं न्यवारयत्। स एव महानर्थो भिल्लेन शास्त्राज्ञानादेव गुरुपादस्पर्शनिवारणरूपं शुद्धमाचरताऽपि विहितः। तथाऽन्येनापि शुद्धोञ्छादिविदधानेनाऽपि शास्त्राऽज्ञानान्महापातकाचरणसम्भव इति सुष्ठूक्तं "शुद्धोञ्छाद्यपि शास्त्राज्ञानिरपेक्षस्य नो हितमि"ति॥ ६॥

सम्प्रति शिष्यस्य रुचि यथा स्यादिति शास्त्रार्थवादमाह—

अज्ञानाऽहिमहामन्त्रं स्वाच्छन्द्यज्वरलङ्घनम् ।
धर्मारामसुधाकुल्यां शास्त्रमाहुर्महर्षयः ॥ ७ ॥

अज्ञानेत्यादि । महर्षयः—महान्तश्च ते ऋषयश्च ते, शास्त्रतत्त्वज्ञा मुनयः, शास्त्रम्—उक्तलक्षणं जिनवचनात्मकमागमम्, अज्ञानाऽहिमहामन्त्रम्—अज्ञानं मिथ्याज्ञानं तदेव भवपरम्पराद्यात्मकतीव्रपीडाप्रदत्वादहिः सर्पस्तस्य तद्दमनाधिकृतत्वात्तत्सम्बन्धी यो महानप्रतिहतप्रभावो मन्त्रो देवाधिष्ठिताऽक्षरसमूहस्तद्रूपम् । यथा गारुडादिमन्त्रेण सर्पदमनं तथा शास्त्रेणाऽज्ञानदमनमिति भावः । स्वाच्छन्द्यज्वरलङ्घनम्-स्वाच्छन्द्यं स्वैराचारस्तदेवाऽऽत्मवीर्याऽपचयहेतुत्वाज्ज्वरः स्वनामख्यातः शारीरशक्त्यपचयनिमित्तस्तापात्मको रोगविशेषस्तस्य तदुपशमहेतुत्वात्तत्सम्बन्धि लङ्घनमपतर्पणम्, उपवास इत्यर्थः । तद्रूपमिति यावत् । यथा लङ्घनेन ज्वरस्योपशमस्तथा शास्त्रेण स्वाच्छन्द्यनिग्रह इति भावः । शास्त्रमनुसरन् हि न स्वैराचारेण वर्त्तते, अन्यथा शास्त्रमनाराधितं स्यादिति बोध्यम् । " लङ्घनं त्वपतर्पणमि "ति हैमः । तथा, धर्मारामसुधाकुल्याम्—धर्मः शुभं कर्मैव विविधोत्तमफलप्रदत्वात्तदुशलतापादपाद्यात्मक आराम उपवनं तस्य तत्पोषवृद्धिनिमित्तत्वात्तत्सम्बन्धिनी या सुधायास्तत्सम्भृतत्वात्तत्सम्बन्धिनी कुल्या कृत्रिमाऽल्पा सरित्, तद्रूपम् । यथा सुधाकुल्ययाऽऽरामस्य नन्दनवदुपचयादिस्तथा शास्त्रेण धर्मस्य, शास्त्रविहिताऽनुष्ठानस्यैव धर्मजनकत्वात् । यदुक्तमनुपदमेव " शुद्धोच्छाद्यपि शास्त्राज्ञानिरपेक्षस्य नो

हितमि "ति भावः । आहुः—कीर्तयन्ति । अत्र महर्षय इत्युक्त्या शास्त्रार्थवादे श्रद्धादार्ढ्यसामग्रीसाकल्यं सम्पादितम्, महर्ष्युक्तौ शङ्कानवकाशादिति बोध्यम् । तथाचाऽत्र शास्त्रमज्ञाननाशकं स्वैरप्रवृत्तिप्रतिरोधि धर्मस्याऽसाधारणं निमित्तं चेति प्रतिपादितम् । शास्त्रोपेक्षणे चाऽज्ञानवृद्धिः स्वाच्छन्द्यतीव्रता धर्महानिश्चेति शास्त्रमवश्यमाश्रयणीयमिति हृदयम् । परम्परितरूपकाऽलङ्कारः ॥ ७ ॥

अथ शिष्यस्य श्रद्धादार्ढ्यार्थं शास्त्रं फलमुखेन स्तुवन्नुपसंहरति—

शास्त्रोक्ताचारकर्त्ता च शास्त्रज्ञः शास्त्रदेशकः ।
शास्त्रैकदृङ्महायोगी प्राप्नोति परमं पदम् ॥ ८ ॥

इति महामहोपाध्यायश्रीमद्यशोविजयोपाध्यायविरचिते ज्ञानसारे शास्त्रदृष्ट्यष्टकं नाम चतुर्विंशतितमाष्टकम् ॥ २४ ॥

शास्त्रोक्तेत्यादि । शास्त्रज्ञः—शास्त्रमुक्तलक्षणं जिनवचनं जानात्यधिगमादिना वेत्तीति सः, अधीतशास्त्र इति यावत् । शास्त्रं जानानोऽप्यन्यथा वस्तु प्रतिपद्यते पूर्वग्रहादिवशादित्यत आह—शास्त्रैकदृग्—शास्त्रमुक्तलक्षणमेवैकाऽद्वितीया दृग् नेत्रमिव वस्तुपरिच्छेदसाधनत्वान्नेत्रं यस्य सः, शास्त्रप्रतिपादितार्थश्रद्धालुः, सम्यग्दृष्टिरिति यावत् । यद्वा शास्त्रेण एका तुल्या दृग् ज्ञानं वस्तुपरिच्छेदात्मकं यस्य सः, यथाशास्त्रं वस्तुपरिच्छेत्ता, सम्यग्ज्ञानवानित्यर्थः । स्वयं शास्त्रोक्तं श्रद्दधानः शास्त्रानुसारेण वस्तु परिच्छिन्दन्नपि च कश्चित्परेभ्यो द्वेषादिनाऽन्यथा प्रतिपादयेदित्यत आह—शास्त्रदेशकः-शास्त्रस्य लक्षणया शास्त्रे प्रतिपादितस्य देशक उपदेष्टा,

यथाशास्त्रं वक्तेत्यर्थः । न चोपदेशमात्रेण कृतकृत्यतेत्यत आह—शास्त्रोक्ताचारकर्त्ता—शास्त्रे उक्तलक्षणे उक्ताः प्रतिपादिता ये आचारा आवश्यकादिकाः क्रियास्तस्य कर्त्ताऽनुष्ठाता, च—समुच्चये । तथा च यथाशास्त्रं दर्शनज्ञानवचनक्रियास्वेक इति निष्कर्षः । यदुक्तम्—"शास्त्राण्यधीत्याऽपि भवन्ति मूर्खा यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वानि"ति, "मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनामि"ति च । महायोगी—महान् शास्त्रज्ञत्वादिगुणवैशिष्ट्यादितराऽधिकश्चाऽसौ योगी मोक्षोपायप्रवृत्तश्च स तादृशो महामुनिः, परमम्—सर्वोत्कृष्टत्वान्नित्यत्वाच्च पारमार्थिकम्, पदम्—स्थानम्, सिद्धशिलारूपमित्यर्थः । प्राप्नोति—गच्छति, मुच्यत इति निष्कर्षः । शास्त्रज्ञानादिगुणविशिष्ट एव महायोगी, स एव च मुच्यते । तस्माच्छास्त्रमवश्यमुपादेयं श्रेयोऽर्थिभिरिति तात्पर्यम् ॥ ८ ॥

इति ज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृ—कविरत्नपन्यासप्रवर—श्रीयशोभद्रविजयगणिवरशिष्यपन्यासप्रवरश्रीशुभङ्करविजयगणिविरचितायां भद्रङ्करोदयाख्यायां व्याख्यायां शास्त्रदृष्ट्यष्टकं नाम चतुर्विंशतितमाऽष्टकम् ॥ २४ ॥

---

## ॥ परिग्रहाऽष्टकम् ॥

शास्त्रोक्ताऽऽचारकर्तृत्वादिगुणसद्भावेऽपि परिग्रहत्यागं विना न श्रेयःप्राप्तिरिति शिष्यप्रबोधाय परिग्रहाऽष्टकं विवक्षुरादौ परिग्रहस्य दुर्निग्रहत्वमाह—

न परावर्त्तते राशे वक्रतां जातु नोज्झति ।
परिग्रहग्रहः कोऽयं विडम्बितजगत्त्रयः ॥ १ ॥

न परावर्त्तत इत्यादि । परिग्रहग्रहः—परि समन्ताद् गृह्यते सञ्चीयतेऽनाविति, परिगृह्णाति गृहीत्वाऽवतिष्ठते भवादुत्तरणं प्रतिबध्नातीति वा स तादृशः परिग्रहो ममत्वविषयो दारागारादिः, यः सुखेच्छया सञ्चीयते तादृशसञ्चयहेतू रत्नादिश्च । आद्यो बाह्योऽन्त्य आभ्यन्तरः । स एव विविधाऽशुभात्मकदशाप्रयोजकत्वाद् ग्रहस्तदाख्यः सूर्यादिग्रहः । सूर्यादयो ग्रहाः लोकानां शुभाशुभनिमित्तमिति ज्योतिर्विदः । अयम्—सर्वप्राणिषूपलभ्यमानत्वादतिप्रतीतः, कः—कीदृश इति प्रश्नकाकुः । ननु यथाऽन्ये ग्रहास्तथाऽयमपीतिचेन्न । कुत इति चेत्तत्राह—नेत्यादिना । अयं परिग्रहग्रहः, राशेः—सूर्यादिग्रहाधिकरणत्वेनाऽभ्युपगतो नक्षत्रपुञ्जविशेषो मेषवृषादिपदवाच्यस्वेन ज्योतिःशास्त्रप्रसिद्धराशिः, स इव परिग्रहवान् जीवः परिग्रहस्य राशिः, तस्मात्, जातु—कदाचिदपि, न—नैव, परावर्त्तते—राश्यन्तरं गच्छति, अधिष्ठितं राशिं न त्यजतीत्यर्थः । सूर्यादयो ग्रहा हि राशेः परावर्त्तन्ते, अयं त्वनादिकालात्तद्राशिस्थ एवेत्ययं ग्रहान्तरविलक्षणः । एतेनाऽस्य दुष्परिहरत्वं ध्वनितम् । कथमन्यथा न परावृत्तिरिति बोध्यम् । ननु यदि शुभस्तदा सुखं तिष्ठतु स्वराशावेवेति चेत्तत्राह—वक्रताम्—ग्रहपक्षे—वक्रता ऋजुमार्गं विहाय कुटिलगतिः, परिग्रहपक्षे च कौटिल्यम्, परिग्रहार्थं मायिता, ताम् । जात्विति सम्बध्यते । न—नैव, उज्झति—त्यजति । सूर्यादयो ग्रहा वक्रतामिता अपि पुनर्मार्गिणो भवन्तीति शुभप्रदा अपीति च

ज्योतिर्विदः। अयं तु सर्वदा वक्रतामेवाऽऽश्रयति। परिग्रहिणो हि विविधमायां परिग्रहार्थं प्रयुञ्जन्तोऽतिप्रतीता इत्युपचारात्परिग्रहस्यैव सा वक्रता, अत एव चाऽयं सर्वदाऽप्यशुभ एवेति भावः। एषोऽप्यस्य ग्रहान्तरवैलक्षण्ये हेतुः। एतेन परिग्रहस्याऽवश्यहेयत्वं ध्वनितम्। श्रेयोऽर्थिनो मायायास्तद्धेतोश्चाऽवश्यहेयत्वादिति बोध्यम्। नन्वयमीदृशो यस्याऽस्ति तस्याऽस्तु, न तेन मम काऽपि हानिरिति चेत्तत्राह–विडम्बितजगत्त्रयः–विडम्बितं स्वप्रयुक्तयाऽशुभदशयाऽभिभूतं जगतां लोकानां त्रयं सर्वो लोको येन स तादृशः। अशुभानुबन्धित्वेन सर्वप्राणिपीडकः सर्वप्राणिगतश्चेत्यर्थः। सूर्यादयो ग्रहास्तु कस्यचिदनुकूलाः कस्यचिच्च प्रतिकूला राश्यादिवशात्। अयं तु सर्वजगतां बिडम्बक एवेति महानशुभो बलवांश्चेति दुर्निर्ग्राह्यः, अतश्च दुस्त्यजोऽपीति सर्वप्रयासेनाऽसौ त्याज्य एवेति हृदयम्। रूपकाऽतिशयोक्तिश्लेषाऽनुप्राणितो व्यतिरेकालङ्कार ॥१॥

ननु विडम्बितजगत्त्रय इत्यमनोज्ञम्। मुनीनां परिग्रहस्य सद्भावेऽपि न तदभिभवसम्भवः सम्यग्ज्ञानबलादिति शिष्यव्यामोहव्यपोहमनसाऽऽह—

**परिग्रहग्रहाऽऽवेशाद्दुर्भाषितरजःकिराम्।**
**श्रूयन्ते विकृताः किं न प्रलापा लिङ्गिनामपि ॥ २ ॥**

परिग्रहेत्यादि। **परिग्रहग्रहाऽऽवेशात्**–परिग्रहात्मकस्य ग्रहस्य तन्निमित्तत्वात्तत्सम्बन्धी य आवेशः संरम्भस्तद्धेतोः, यद्वा परिग्रहस्य ग्रहः स्वीकार एव प्रलापादिहेतुत्वादावेशोऽपस्मारास्यो रोगविशेष-

स्तस्माद्धेतोरित्यर्थः । अथ च परिग्रह एव प्रलापादिदुर्दशाप्रयोजकत्वाद् ग्रहो ज्योतिःशास्त्रप्रसिद्धः कुजाद्यशुभग्रहश्चाऽऽवेशोऽपस्मारश्च ताविव स, तस्मादित्यर्थः । "आवेशाऽऽटोपौ संरम्भे" इति, "अपस्मारः स्यादावेश" इत्युभयत्राऽपि हैमः । दुर्भाषितरजःकिराम्—दुर्दुष्टान्युत्सूत्राण्यसभ्यानि च भाषितानि वचनान्येव लोकानां गर्ह्याद्यात्मकमलनिमित्तत्वाद्रजांसि धूलीः किरन्त्युड्डाययन्ति निरर्गलं सर्वतो भाषन्त इति ते तादृशास्तेषाम् । दुर्वचनात्मकधूलीप्रक्षेपकृतोद्यमानाम्, लिङ्गिनाम्—लिङ्गं चिह्नम्, प्रसिद्ध्या मुमुक्षुलिङ्गं मुनिवेषस्तदस्त्येषामिति ते तादृशाः, मुनिवेषधरास्तेषाम्, अपिना लिङ्गिनां दुर्भाषणाद्यनर्हत्वं यत्र लिङ्गिनामियं दशा तत्राऽन्येषां तु कथैव केति च सूच्यते । विकृताः—अननुरूपा विरसाश्च, प्रलापाः—अनर्थकवचांसि, "प्रलापोऽनर्थकं वच" इत्यमरः । किमिति क्षेपे, न श्रूयन्ते—न कर्णगोचरा भवन्ति, अपि तु श्रूयन्त एवेत्याशयः । अपस्मारवशाद् ग्रहवशाच्च जना विरसं प्रलपन्ति, हस्तपादादिक्षेपेणोन्मत्ततया च रजांसि च क्षिपन्ति, तथा परिग्रही लिङ्ग्यपि परिग्रहार्थं रागादिवशादुत्सूत्रमसभ्यं च भाषते स्पर्धादिना विरसं प्रलपति चेति नाऽविदितम् । तस्मात्परिग्रहग्रहो विडम्बितजगत्त्रयोऽवश्यहेय इत्याशयः ॥ २ ॥

तदेवं परिग्रहविजृम्भितमुपवर्ण्य तत्त्यागे शिष्यस्य रुचिर्यथा स्यादिति तदर्थवादमाह—

यस्त्यक्त्वा तृणवद्बाह्यमान्तरं च परिग्रहम् ।
उदास्ते तत्पदाम्भोजं पर्युपास्ते जगत्त्रयी ॥ ३ ॥

य इत्यादि । यः—यादृशो महासत्त्वो जनः, बाह्यम्—बहिर्भवम्, आत्मधर्ममिन्नं पौद्गलिकमित्यर्थः । परिग्रहम्—मुखबुद्ध्या सममत्वं सङ्गाह्यं दारागारादिकं परिग्रहपदवाच्यत्वेन प्रसिद्धम् । तृणवत्—तृणमिव, तृणं यथा त्यजति तथेत्यर्थः । निःसारत्वादनुपयोगित्वाच्च । यथा तृणं निःसारमनुपयोगि चेति तन्न परिगृह्यते, तथा दारागारादिकमनित्यत्वान्निःसारमभीष्टश्रेयःपरिपन्थित्वान्निरुपयोगि चेति तन्न धीमतां परिग्राह्यमित्यतः, त्यक्त्वा विहाय, ततो विरज्येत्यर्थः । आन्तरम्—बाह्यभिन्नत्वाद्बहिरिन्द्रियाऽविषयत्वादन्तर्गतमिव तत्, मनोमात्रविषयमित्यर्थः । येन परिग्रहमितिसम्बध्यते । अवश्यं परिग्रहजनकत्वात्कारणे कार्योपचाराद्रागादिरूपं परिग्रहमित्यर्थः । उदास्ते—उपेक्षते, त्यजतीत्यर्थः । न केवलं बाह्यपरिग्रहत्यागेन कृतकृत्यता, किन्तु तत्पूर्वकमान्तरपरिग्रहत्यागेन । यद्वक्ष्यति " चित्तेऽन्तर्ग्रन्थगहने बहिर्निर्ग्रन्थता वृथे "ति भावः । यद्वा, चः समुच्चये । तथा च बाह्यमान्तरं च परिग्रहं त्यक्त्वेत्यन्वयो बोध्यः । अत्र पक्षे च 'तृणवदि 'ति 'बाह्यमि 'त्यस्योपमानं बोध्यम् । 'उदास्ते' इत्यस्य च मध्यस्थभावेन तिष्ठतीत्यर्थः । एतच्च वस्तुस्थितिवर्णनमात्रं न तु विधिः । परिग्रहत्यागे मध्यस्थतायाएव भावादिति बोध्यम् । अथवा चः प्राथम्ये । तथा चाऽऽदावान्तरं परिग्रहं त्यक्त्वा बाह्यं तृणवदुदास्ते इत्यन्वयः । यस्य हि नान्तरः परिग्रहस्तस्य बाह्यः स तृणवदेव । रागादिमत एव बाह्यपरिग्रहस्याऽर्थक्रियाकारित्वात्सारवत्त्वाच्च । एवञ्च यथा रागादिमतोऽपि तृणं निःसारत्वादनुपयोगित्वाच्चापेक्ष्यं तथा रागादिरहितस्य

बाह्यःपरिग्रहो निःसारो निरुपयोगी चेत्युपेक्ष्य इत्याशयः। अत्र यद्यपि यथा यथा रागादिनिग्रहस्तथा तथा बाह्यपरिग्रहविरह इति पूर्वं रागादित्यागः पश्चाद्बाह्यपरिग्रहत्याग इत्यसमञ्जसम्। तथापि "चलन् चलित" इति न्यायेन क्रमशः पौर्वापर्यस्य साधनकाले सत्त्वाच्चाऽवयवधर्मस्य समुदाये उपचार इति बोध्यम्। य इति किमित्याह—तत्पदाम्भोजम्—तस्य निष्परिग्रहस्य साधोः पदश्चरणोऽम्भोजं कमलमिव तत्, जगत्त्रयी—जगतां लोकानां त्रयी, लोकत्रयस्थप्राणिसङ्घ इत्यर्थः। पर्युपास्ते—परि सर्वथा भक्त्योपास्ते सेवते, दुस्त्यजत्यागेन तं महासत्त्वं सर्वाधिकं मत्वा तद्गुणाकृष्टो बहु मन्यते, गुणानां पूजास्थानत्वात्। विडम्बितजगत्त्रयस्य जेतुर्जगत्त्रयीकृतपदपर्युपासना विजेतुर्नृपस्य वशीकृतनृगणीननृपकृतपर्युपासनावदुचितैवेति बोध्यम्। तथा च जगत्त्रयीपर्युपास्यत्वात्मकसुदुर्लभगुणसाधनत्वादवश्यं परिग्रहत्यागः सर्वयत्नेन साधनीय इति हृदयम्॥ ३॥

बाह्यपरिग्रहत्यागमात्रेण न कृतकृत्यतेति शिष्यं रहस्यमुपदिशन्नाह—

चित्तेऽन्तर्ग्रन्थगहने बहिर्निर्ग्रन्थता वृथा।
त्यागात्कञ्चुकमात्रस्य भुजगो न हि निर्विषः॥ ४॥

चित्ते इत्यादि। चित्ते—मनसि, अन्तर्ग्रन्थगहने—अन्तर्मनसस्तत्स्थत्वात्तत्सम्बन्धी यो ग्रन्थो बाह्यपरिग्रहपयोजकत्वात्कारणे कार्योपचारात्परिग्रहस्तेन गहने निरन्तरत्वाद्दुरवगाहे सति, निरन्तरमन्तः परिग्रहै रागादिभि र्भृते सतीत्यर्थः। बहिः परिग्रहचिन्ता-

व्याप्ते सतीति यावत् । **बहिर्निर्ग्रन्थता**–बहिर्दारागारादिविषयिणी या निर्ग्रन्थता निष्परिग्रहता, बहिःपरिग्रहत्यागमात्रमिति समुदितनिष्कर्षः । **वृथा**–निष्फला, परिग्रहत्यागफलस्य मनःशुद्धेरध्यात्मगुणवृद्धेश्चाऽलाभादिति बोध्यम् । यदुक्तम्–" परिग्रहग्रहावेशादि"त्यादिनाऽत्राऽनुपदमेव । अन्यत्रापि चोक्तम्–" कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् । इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यत " इति । तत्र वैधर्म्येण दृष्टान्तमाह–त्यागादित्यादि । **हि**–यतः, **भुजगः**–भुजं कुटिलं गच्छतीति स सर्पः, **कञ्चुकमात्रस्य**–कञ्चुको निर्मोकः स एव कञ्चुकमात्रं तस्य, केवलस्य कञ्चुकस्य विषवर्जस्येत्यर्थः । " समौ कञ्चुकनिर्मोकौ "त्यमरः । **त्यागात्**–मोचनाद्धेतोः, **निर्विषः**–विषान्निर्गतः, विषरहित इत्यर्थः । **न**–नैव, यथा कञ्चुकत्यागेऽपि विषस्याऽत्यागात्सर्पोऽनर्थाय, तथा बहिःपरिग्रहत्यागेऽप्यान्तरस्य तस्याऽत्यागान्नशुभगुणलाभ इति विषवदेवाऽऽन्तरःपरिग्रहो भयङ्कर इति सोऽवश्यहेयः श्रेयोर्थिना, अन्यथा परमार्थाऽसम्प्राप्तेरनर्थापाताच्चेति भावः ॥ ४ ॥

ननुपरित्यागस्योक्तोऽर्थवादोऽमनोज्ञः, दोषान्तरसत्त्वे पूजाऽलाभात् । एवञ्चैकःपरिग्रहत्यागोऽकिञ्चित्कर एवेति शिष्याऽश्रद्धां निराकरिष्णुराह—

**त्यक्ते परिग्रहे साधोः प्रयाति सकलं रजः ।**
**पालित्यागे क्षणादेव सरसः सलिलं यथा ॥ ५ ॥**

**त्यक्त** इत्यादि । **परिग्रह**–परिगृह्णाति परिगृह्य स्थापयति भवे, ततो निर्गन्तुं न ददातीति स परिग्रह आन्तरो रागादि र्बाह्यो

दारागारादिश्च, तस्मिन्, त्यक्ते—परित्यक्ते, रागादिषु जितेषु दारागारादिषु वर्जितेषु च सत्स्वित्यर्थः । साधोः—मुमुक्षोः, सकलम्—सर्वमेव, न तु कियदेव, रजः—रजोधूलिस्तद्वन्मलिनीकरणादात्मनः कायवाङ्मनसां सावद्यो योगः कर्मपुद्गलाश्च रजः, प्रयाति—प्रकर्षेण यथा न पुनर्बन्धो भवति तथा याति व्यपैति । परिग्रहाभावे हि निःस्पृहस्य कारणाऽभावान्न कर्मणो बन्धः, बद्धश्चाऽपि कर्मराशिस्तीव्रचारित्रपरिणामाज्झटित्येव निर्जीर्यतीति भावः । एतेन परिग्रहस्य सर्वदोषाकरत्वमुक्तम् । दृष्टान्तमाह—पालीत्यादि । यथा—यद्वत्, पालित्यागे—पालिः सरसः परितः सेतुबन्धस्तत्त्यागेऽपाये सति, पालिभङ्गे इत्यर्थः । सरसः—सरोवरात्, क्षणादेव—अल्पकालेनैव, सलिलम्—सरोवरजलम्, प्रयातीति सम्बध्यते । पालिर्हि सरसो जलनिर्गमनप्रतिबन्धको जलस्थितिहेतुश्चेति तद्भङ्गे जलस्य सरसो झटित्येव निर्गमनमिति प्रतीतम् । तथा परिग्रहो दोषव्यपगमपरिपन्थी दोषस्थितिसाधनं चेति तत्त्यागे सर्वदोषनाश इत्येकेन परिग्रहत्यागेनैव सकलेष्टसिद्धिरिति परिग्रहत्यागस्योक्तोऽर्थवादो नाऽसमञ्जस इति परिग्रहत्याग एव सर्वगुणमूलमिति सोऽवश्यं साधनीयो मुमुक्षुणेति भावः ॥ ५ ॥

ननु यथा स्वयमव्यापारेऽपि पदार्थे रज उड्डीय संश्लेषमेति, तथा निष्परिग्रहस्याऽपि दारादिभिः परिग्रहैः संश्लेषः संम्भाव्यत एवेति न दोषप्रमोषसम्भवः परिग्रहत्यागेऽपीति शिष्याशङ्कां समाधित्सुराह—

त्यक्तपुत्रकलत्रस्य मूर्च्छामुक्तस्य योगिनः ।
चिन्मात्रप्रतिबद्धस्य का पुद्गलनियन्त्रणा ? ॥ ६ ॥

त्यक्तपुत्रेत्यादि । त्यक्तपुत्रकलत्रस्य-त्यक्ता वर्जिताः पुत्राः कलत्राण्यङ्गनाः, उपलक्षणत्वादागारपरिजनपरिच्छदधनधान्यादयश्च येन स तस्य तादृशस्य, बहिः परिग्रहरहितस्येत्यर्थः । तथा, मूर्च्छामुक्तस्य-मूर्च्छा दारादिषु मोहस्तेन मुक्तस्य रहितस्य, आन्तरपरिग्रहरहितस्येत्यर्थः । त्यक्तसकलपरिग्रहस्येति समुदितार्थः । अत एव, चिन्मात्रप्रतिबद्धस्य-चिज्ज्ञानमेव चिन्मात्रं तत्र प्रतिबद्धस्य मग्नस्य, ज्ञानमग्नस्येत्यर्थः । ज्ञानात्मके आत्मनि लीनस्येति यावत् । एतच्च वस्तुस्थितिकथनमेव, परिग्रहाऽभावे आत्मनोऽन्यस्य प्रतिबन्धविषयस्याऽभावात् । एतेन परिग्रहत्यागे हेतुरप्युक्तः । यो हि चिन्मात्रप्रतिबद्धो भवति, तस्यैव सर्वपरिग्रहत्यागः शक्य इति बोध्यम् । तादृशस्य, योगिनः-श्रेयःसाधनैकनिष्ठता योगस्तद्वतः साधोः, पुद्गलनियन्त्रणा-पुद्गलैस्तदात्मकैर्दारादिभिः कृता नियन्त्रणा पुद्गलेषु स्वस्य च नियन्त्रणाऽऽसक्त्यात्मकं बन्धनम्, का-कीदृशी ? । काक्वा नोचिता न वा सम्भवतीत्यर्थः । एकदा परिग्रहत्यागपूर्वकज्ञानमग्नतायां साधितायां न पुनः परिग्रहसम्भवः, तद्धेतोरज्ञानस्याऽभावात् । यथा हि निर्लेपे दर्पणे न प्रतिबिम्बसम्भवस्तद्वत् । यदुक्तम्-" विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः । रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते " इति, " आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय " इति चेति भावः ॥ ६ ॥

नन्वेवं साधूनां पुद्गलात्मकधर्मोपकरणपरिग्रहः कथमिति शिष्यशङ्कां समादधदाह—

चिन्मात्रदीपको गच्छेन्निर्वातस्थानसन्निभैः ।
निष्परिग्रहतास्थैर्यं धर्मोपकरणैरपि ॥ ७ ॥

चिन्मात्रेत्यादि । **चिन्मात्रदीपकः**—चिज्ज्ञानमेव चिन्मात्रं ज्ञानात्मकाऽऽत्ममात्रलीन आत्मेत्यर्थः । अप्रमत्तो मुनिरिति यावत् । स एव शुद्धज्ञानात्मकप्रकाशात्मकत्वाद्दीपक इव स तादृशः, **निर्वातस्थानसन्निभैः**—निर्वातं निर्गतो वातो वायुसञ्चारो यतस्तादृशं सञ्चरिष्णुवायुरहितं यत्स्थानमन्तर्गृहादिरूपं तत्सन्निभैस्तत्सदृशैः, **धर्मोपकरणैः**—धर्मःश्रेयःसाधनात्मको विधिरुपक्रियत एभिर्मुखवस्त्रिकारजोहरणवस्त्रपात्रादिभिरिति तानि धर्मोपकरणानि तैः, तानि हि धर्मान्तरायभूतप्राणिविराधनादितो रक्षणे साधनानीति बोध्यम् । **अपिरेवाऽर्थे** । **निष्परिग्रहतास्थैर्यम्**—परिग्रहादुक्तप्रकारान्निर्गतो रहितो निष्परिग्रहस्तस्य भावस्तत्ता, परिग्रहरहिततेत्यर्थः । तदात्मकं स्थैर्यं निष्कम्पत्वं निरीहवृत्तिकत्वं च, **गच्छेत्**—प्राप्नुयात् । यथा दीपको निर्वातस्थान एव स्थिरशिखोभवति, तथा ज्ञान्यपि धर्मोपकरणैरेव दृढनिष्परिग्रहो भवति । अन्यथा हि स्थित्याहारादिष्ववश्यम्भाविप्राणिविराधनाद्यनिवारणात्प्रकारान्तरेण तन्निवारणे च निष्परिग्रहताया विक्षोभसम्भवात् । परिग्रहभिया धर्मोपकरणत्यागेऽशनपानादित्यागोऽपि किं नेष्यते ? । एवञ्च धर्मसाधनत्वाच्छरीरं रक्षणीयमिति निराहारभावनायाः पोषकत्वाच्च मिताहारादिकमिष्यते । तथा प्राणिविराधनादिना धर्महानिर्माभूदिति धर्मोपकर-

णान्यपि ध्रुवमेष्टव्यानि । यदुक्तम्–" नाऽत्यश्नतस्तुयोगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः । न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चाऽर्जुन ! ॥ १ ॥ युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु । युक्तस्वप्नाऽवबोधस्य योगो भवति दुःखहे "ति । तस्माज्ज्ञानिनो धर्मोपकरणानि न परिग्रहः, धर्मरक्षार्थमेव तद्ग्रहणात् । एतेन धर्मोपकरणानामपि त्यागं परिग्रहभिया समर्थयन्तो दिग्वाससो दत्तोत्तरा इत्यवधेयम् ॥ ७ ॥

ननु तर्हि धर्मोपकरणानामपरिग्रहत्वे धर्मस्योपकुर्वन्त्यन्यान्यपि वस्तूनि किं नेष्यन्त इति शिष्यशङ्कां समादधदुपसंहरति—

**मूर्च्छाच्छन्नधियां सर्वं जगदेव परिग्रहः ।**
**मूर्च्छया रहितानां तु जगदेवाऽपरिग्रहः ॥ ८ ॥**

इति महामहोपाध्याय श्रीयशोविजयोपाध्यायविरचिते ज्ञानसारे परिग्रहाऽष्टकं नाम पञ्चविंशतितमाऽष्टकम् ॥ २५ ॥

मूर्च्छेत्यादि । **मूर्च्छाच्छन्नधियाम्**–मूर्च्छया मोहेन च्छन्नाऽऽवृता धीर्येषां तेषां रागादिकलुषितमतीनाम्, **सर्वम्**–धर्मोपकरणादिकं वाऽन्यद्वा सकलमेव न तु धर्मोपकरणभिन्नमेव, **जगत्**–लक्षणया जगत्स्थितं वस्तु, एवकारोऽवधारणे । वस्तुमात्रमित्यर्थः । **परिग्रहः**–रागादिविषयो रागादिप्रयोजकश्चेति स्वसङ्ग्रहः । तुर्भेदे । तमेवाह–**मूर्च्छया**–मोहेन, **रहितानाम्**–शून्यानाम्, गतरागद्वेषमोहादीनामित्यर्थः । **जगत्**–सर्वम् । एवकारोऽवधारणे । सर्वमेव न तु धर्मोपकरणमेव, **अपरिग्रहः**–अकाम्यः कामनाऽनुद्भावकश्चेति त्यागो वाऽसङ्ग्रहो वा । परिग्रहे हि मूर्च्छा मूलम् । तदभावे धर्मो-

पकरणभिन्नसङ्ग्रहोऽपि न परिग्रहः, मूर्च्छासत्त्वे तु धर्मोपकरणमपि परिग्रह एव । यदुक्तम्—" परिग्रहग्रहाऽऽवेशादि "त्यादिनाऽत्रैव प्राक् । एवञ्च ज्ञानिनो मूर्च्छाऽभावाद्रजोहरणादिचतुर्दशधर्मोपकरणभिन्नवस्तुना न प्रयोजनमिति तन्नेष्यते । धर्मोपकरणग्रहोऽपि धर्मरक्षार्थमेव न तु मूर्च्छयेति न निष्परिग्रहताहानिः । प्रत्युत धर्मरक्षणेन ज्ञानश्रीनताप्रयोजकतया तन्निष्परिग्रहतास्थैर्यसाधनमेवेति हृदयम् ॥ ८ ॥

इति ज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृ-कविरत्नपन्यासप्रवरश्रीयशोभद्रविजयगणिवरशिष्यपन्यास-श्रीशुभङ्करविजयगणिविरचितायां भद्रङ्करोदयाख्यायां व्याख्यायां परिग्रहाऽष्टकं नाम पञ्चविंशतितमाऽष्टकम् ॥ २५ ॥

---

## ॥ अनुभवाऽष्टकम् ॥

शास्त्राद् वस्तुयाथात्म्याऽवबोधात्मकं सम्यग्ज्ञानं निष्परिग्रहतया च चारित्रमिति ज्ञानचारित्राभ्यामनुभवद्वारा मोक्षः साध्य इत्यनुभवाऽष्टकं विवक्षुरादौ शिष्यस्य विप्रतिपत्तिनिरासाय तत्र प्रमाणमाह—

**सन्ध्येव दिनरात्रिभ्यां केवलश्रुतयोः पृथक् ।**
**बुधैरनुभवो दृष्टः केवलाऽर्काऽरुणोदयः ॥ १ ॥**

सन्ध्येवेत्यादि । दिनरात्रिभ्याम् दिनश्च रात्रिश्च ते, ताभ्याम्, पृथक्-भिन्ना, विलक्षणेत्यर्थः । सन्ध्या—दिनरात्र्योरन्तरालवर्त्ती प्रसिद्धस्तयोः सन्धिकाल इव, बुधैः—ज्ञानिभिरध्यात्ममर्मज्ञैः, केवलश्रुतयोः—केवलं तदाख्यं ज्ञानं च श्रुतं तदाख्यं ज्ञानं च, तयोः ।

केवलज्ञानस्याऽभ्यर्हितत्वात्क्रममविगणय्य प्राक्प्रयोगो बोध्यः। मध्ये इति शेषः। तथा च–श्रुतज्ञानानन्तरं केवलादव्यवहितपूर्वकाले इत्यर्थः। अन्यथा पृथक्पदेन योगे पञ्चमीविधानात्षष्ठी न सङ्गच्छेतेति ध्येयम्। पृथगिति सम्बध्यते। सामीप्यात्केवलश्रुताभ्यामित्यर्थबलाल्लभ्यते। अनुभवः–प्रातिभज्ञानाऽपरनामाऽऽत्मपरिणामविशेषः श्रुतज्ञाननिष्परिग्रहताजन्यः, केवलाऽर्काऽरुणोदयः–केवलं केवलज्ञानमेव जगत्पदार्थसार्थप्रकाशकत्वसाधर्म्यादर्कः सूर्यस्तस्याऽवश्यन्तयातदुदयप्राग्भावित्वात्तत्सम्बन्धी योऽरुणस्य तदाख्यस्य सूर्यसारथेरुदय ऊर्ध्वभागमनम्, तद्रूप इत्यर्थः। दृष्टः–साक्षात्कृतः। एवञ्चाऽनुभवविषये न विप्रतिपत्त्यवसरः। दर्शनान्तरेषु यद्यस्य नोल्लेखः सा तस्य न्यूनतेति हृदयम्। यथा सूर्योदयात् प्रागरुणोदयो नियमेन जायते, अत एव न विनाऽरुणोदयं सूर्योदयः। तथा केवलोदयात्प्राङ्नियमेनाऽनुभवोदय इति न विनाऽनुभवं केवलम्। न चैतत्स्वमनीषिका, अपि तु बुधैस्तथादृष्टत्वाद् वस्तुस्थितिरेषा। तथा चोक्तम्–" मतिश्रुतयोरुत्तरभावी केवलादव्यवहितपूर्वभावी प्रकाशोऽनुभव " इति। स चैष तादृशज्ञाननिष्परिग्रहतयो भावनामात्रात्मकः। विशुद्धतादृशज्ञानत्यागमयतयाऽऽत्मस्वरूपभावनमिति यावत्। यदुक्तम्–" यथार्थवस्तुस्वरूपोपलब्धिपरभावाऽरमणतदास्वादनैकत्वमनुभव "इति। मतिश्रुतयोरुत्तरभावीति सामान्योक्त्या कस्यचिच्छ्रुतानन्तरमनुभवात्प्रागवधिमनःपर्ययोदयेऽपि न क्षतिः। श्रुतोत्तरत्वस्याऽबाधादित्यवधेयम्। अत्रोपमापरम्परितरूपकयोः संसृष्टिः ॥ १ ॥

नन्वस्तु तादृशोऽनुभवः । किन्तु न तेन प्रयोजनम्, तस्याऽऽनुषङ्गिकत्वात्, शास्त्रैणैवेष्टसिद्धेरिति शिष्यशङ्कां समाधित्सुराह—

व्यापारः सर्वशास्त्राणां दिक्प्रदर्शन एव हि ।
पारं तु प्रापयत्येकोऽनुभवो भववारिधेः ॥ २ ॥

व्यापार इत्यादि । हि—वस्तुतः, सर्वशास्त्राणाम्—सर्वाणि च तानि शास्त्राणि जिनोक्तागमास्तेषाम् । यदुक्तमिहैव प्राक्—"शासनात्त्राणशक्तेश्च बुधैः शास्त्रं निरुच्यते । वीतरागस्य वचनं तत्तु नाऽन्यस्य कस्यचिदि"ति । वेदादयस्तु शास्त्राभासा मोक्षानुपदेशादिति बोध्यम् । दिक्प्रदर्शने—दिशो मोक्षप्राप्त्यनुकूलायादिशाया, मोक्षमार्गस्येत्यर्थः । तस्याः प्रदर्शने ज्ञापन एव, न तु मोक्षस्य प्रापणेऽपीत्येवकारेण लभ्यते । व्यापारः—प्रवृत्तिः, शक्तियोग इति यावत् । शास्त्राणि हि मोक्षमनया दिशा गच्छेदित्येतावन्मात्रोपदेशेनैव विश्राम्यन्ति । न च तावता मोक्षप्राप्तिः । किन्तु शास्त्रप्रदर्शितमार्गानुसरणेनेति मार्गप्रदर्शकानि शास्त्राणि । यदुक्तम्—"मार्गज्ञः सह याति किमि"ति । अत एव चोक्तं प्राक्—शास्त्रोक्ताचारकर्त्ता च शास्त्रज्ञः शास्त्रदेशकः । शास्त्रैकदृङ्महायोगी प्राप्नोति परमं पदमि"ति । एवं च परम्परयैव शास्त्राणां मोक्षहेतुतेति बोध्यम् । ननु तर्हि कः साक्षान्मोक्षं प्रापयतीति शिष्यजिज्ञासायामाह—पारमिति । तु विशेषे । शास्त्रेभ्योऽनुभवस्य विशेष इत्यर्थः । यतः, एकः—केवलः, अनुभवः—सम्यग्ज्ञान-

चारित्रयोरैक्यभावनात्मकमुक्तप्रकारं प्रातिभज्ञानमेव, भवत्रारिधेः—भवःसंसार एव भवोद्वेगाऽष्टकोक्तप्रकारेण वारिधिः समुद्रस्ततः, पारम्—परं तीरम्, अन्तमित्यर्थः। प्रापयति—नयति, मोक्षं प्रापयतीत्यर्थः। शास्त्राद्धेयोपादेयज्ञानपूर्वकहेयहानोपादेयोपादानात्मकज्ञानचारित्रलाभे आत्मनो ज्ञेयहेयविकल्पपरित्यागेन ज्ञानचारित्रैकत्वभावनात्मकपरिणामरूपोऽनुभवः स्वाऽव्यवहितोत्तरवर्ति-केवलज्ञानं साधयित्वैकान्तेन मोक्षसाधकः साक्षादेवेति स मोक्षं प्रापयति। एवं च न शास्त्रमात्रेणेष्टसिद्धिः, मोक्षप्रदानं प्रति तस्योदासीनत्वान्मोक्षमार्गप्रदर्शन एव तद्व्यापारात्। अनुभवश्च नाऽऽनुषङ्गिकोऽपि तु ज्ञानचारित्रजन्यः साक्षान्मोक्षहेतुः। तेन विना मोक्षाऽसम्भवादिति स प्रयत्नोपार्जनीय इति हृदयम् ॥ २ ॥

नन्वात्मस्वरूपसाक्षात्कारान्मोक्षः। आत्मस्वरूपं च शास्त्रे प्रतिपादितमिति तत एव ज्ञेयमिति शास्त्राणामात्मस्वरूपज्ञापनद्वारा मोक्षपर्यन्तं व्यापारो न तु दिक्प्रदर्शन एवेति शिष्यशङ्कां समाधित्सुराह—

अतीन्द्रियं परं ब्रह्म विशुद्धानुभवं विना।
शास्त्रयुक्तिशतेनापि न गम्यं यद्बुधा जगुः ॥ २ ॥

अतीन्द्रियमित्यादि। परम्—सर्वोपाधिरहितत्वात्सर्वोत्कृष्टम्, ब्रह्म—आत्मा, निरञ्जनः शुद्धचैतन्यस्वभाव आत्मेत्यर्थः। अतीन्द्रियम्—इन्द्रियाण्यतिक्रान्तम्, इन्द्रियातीतमित्यर्थः। अमूर्त्तत्वादिति बोध्यम्। अतएव, विशुद्धाऽनुभवम्—विशुद्धोविकल्परहित आत्ममात्रविषयो योऽनुभव उक्तप्रकारं प्रातिभं ज्ञानम्, तं

वादृशम्, विना–ऋते, शास्त्रयुक्तिशतेन–शास्त्राणां तत्र प्रतिपादितत्वात्तत्सम्बन्धि यद् युक्तीनात्मस्वरूपप्रतिपादकप्रमाणप्रकाराणां शतं शतसङ्ख्या, तेनाऽपि, केवलेनेत्यर्थबलाद् गम्यते । शास्त्रोक्ताऽसङ्ख्यातयुक्तिभिरपीत्यर्थः । अपिनाऽल्पानां सङ्ख्यातानां युक्तीनां तु कथैव केति सूच्यते । अथ च शास्त्राणां युक्तीनां च यच्छतं तेनाऽपि, अथवा शास्त्रेण युक्तिशतेनाऽपि चेत्यर्थः, न–नैव, गम्यम्–ज्ञेयम् । अतीन्द्रिया वागतीता इति यावत्, किन्तु शास्त्रप्रदर्शितदिशा युक्त्या मननपूर्वकाऽनुभवत एव तद्गम्यम् । ननवनुभवपक्षपातिना भवतेत्थमुच्यत इति शिष्योपालम्भं तन्मौनादिनोन्नीयाऽऽह–यत्–तदेतत्, बुधाः–शास्त्ररहस्यज्ञा आत्मतत्त्वज्ञाश्च, जगुः–उच्चैर्घोषयामासुः । यदुक्तम्–"यतो वाचो निवर्त्तते अप्राप्य मनसा सहे"ति । "श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः । श्रुत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतव" इति च । एवं च वाक् तटस्थं स्वरूपं लक्षयति, तत्परिपाट्या चाऽनुभवात्पारमार्थिकवस्तुतत्त्वसाक्षात्कार इति निष्कर्षः । तस्मान्न शास्त्रमात्रेण युक्तिमात्रेण वा कृतकृत्यता, किन्त्वनुभवप्रधानेन तेनेति तात्पर्यम् ॥ ३ ॥

ननु परेऽतीन्द्रियाः पदार्था आकाशादयो युक्तिभिः सुज्ञेयाश्चेदात्माऽपीति शिष्यतर्कं निराकरिष्णुरतीन्द्रियसामान्यस्यैव युक्त्या न तत्त्वनिर्णय इत्याह—

ज्ञायेरन् हेतुवादेन पदार्था यद्यतीन्द्रियाः ।
कालेनैतावता प्राज्ञैः कृतः स्यातेषु निश्चयः ॥ ४ ॥

ज्ञायेरन्नित्यादि। यदि-चेत्, हेतुवादेन-हेतूनां वस्तुस्वरूपनिर्धारकयुक्तीनामनुमानादीनां यो वादो वदनम्, हेतुभिः प्रतिपादनं वा, तेन, युक्तिवाचेति हृदयम्। अनुभवं विना केवलेन हेतुवादेनेत्यर्थाल्लभ्यते। अतीन्द्रियाः-इन्द्रियाऽगोचरा धर्माधर्माकाशजीवपरमाण्वादयः, पदार्थाः-भावाः, ज्ञायेरन्-परमार्थिकस्वरूपेण लोकै र्ज्ञानविषयीक्रियेरन्, तदा, तेषु-अतीन्द्रियेषु पदार्थेषु विषये, प्राज्ञैः-हेतुवादविशेषज्ञैर्जनैः, एतावता-अनादिकालादारभ्याऽद्यपर्यन्तेनेयत्परिमाणेनाऽतिमहता, कालेन-समयेन कृत्वा, एतेन निश्चयाऽभावहेतुत्वेन सम्भावितं कालाऽल्पत्वं निराकृतम्। निश्चयः-इदमित्थमेवेत्येवं स्वरूपनिर्धारणम्, कृतः-सम्पादितः, स्यात्-भवेत्। न चाद्यापि तन्निश्चयः। कथमन्यथा विदुषां तद्विषये विवादो न शाम्यत्यद्यापि। तस्मात्तादृशनिश्चयाऽभाव एवातीन्द्रियाणां नाऽनुभवं विना युक्तिमात्रेण पारमार्थिकतत्त्वबोध इति ज्ञापयति। एवञ्चाऽत्मा सुतरां नानुभवं विना ज्ञेय इत्यनुभव एव भववारिधेः पारं प्रापयतीति युक्तिशतेनाऽपि परं ब्रह्म न गम्यमिति च समर्थितम्॥ ४॥

स्यादेतत्। शास्त्रेणैवाऽतीन्द्रियपदार्थतत्त्वनिर्णयः सुकरः। यदुक्तं-"परोक्षमाप्तागमात्सिद्धमि"ति शिष्यशङ्कां निराकुर्वन्नाह-

केषां न कल्पनादर्वी शास्त्रक्षीरान्नगाहिनी।
विरलास्तद्रसास्वादविदोऽनुभवजिह्वया। ॥ ५॥

केषामित्यादि। केषाम्-किंप्रकाराणां शास्त्राध्ययनशीलानां जनानाम्, कल्पनादर्वी-कल्पना नवनवपूर्वपक्षोत्तरपक्षस्फुरणा-

त्मिका प्रतिभा, सैव शास्त्रोक्तचालनाप्रत्यवस्थानात्मकविलोडन-साधनत्वाद्दर्वी खजाका, शास्त्रक्षीरान्नगाहिनी–शास्त्रमेव तत्त्व-रहस्यात्मकोत्कृष्टमधुरादिरसात्मकत्वात्क्षीरान्नं पायसं तद्गाहते विलोडयतीत्येवंशीला, शास्त्रक्षीरान्नचालनाप्रत्यवस्थानक्षमेत्यर्थः । यथा शास्त्रक्षीरान्नं स्वधीतं सुपक्वं च स्यादिति भावः। न–नास्ति । काक्वाऽपि तु सर्वेषामेवाऽस्ति । स्वस्वप्रतिभानुसारं सर्वोऽपि विवाद-पण्डित इति यावत्। ननु नैतत्किञ्चिन्नवीनमुच्यत इति चेत्तत्राह– विरला इत्यादि । अनुभवजिह्वया–अनुभव उक्तप्रकारः, स एव शास्त्रोक्तपदार्थरहस्यात्मकरसास्वादाऽसाधारणसाधनत्वाज्जिह्वा, तया कृत्वा, तद्रसास्वादविदः–तस्य शास्त्रक्षीरान्नस्य यो रसो रहस्या-त्मकमाधुर्यादिरूपः सारस्तस्य य आस्वादोऽनुभवस्तद्विन्दन्ति लभन्त इति ते तादृशाः, शास्त्रक्षीरान्नरसानुभवसौभाग्यसम्पन्ना इत्यर्थः । विरलाः–तनवः, अत्यल्पा इत्यर्थः । "विरलं तनु पेलवमि"ति हैमः । न हि यो यः क्षीरान्नं दर्व्या विलोडयति स सर्वोऽपि क्षीरान्नरसास्वादविदपि, रसास्वादने हि न दर्व्या अपि तु तादृशपटुजिह्वाया एव साधनत्वात् । तथा शास्त्रोक्तेषु कल्पना-पाटवमात्रेण न शास्त्ररहस्यसाक्षात्कारोऽपि त्वनुभवेनैव । तादृशानु-भववन्तश्च न सर्वे इति सुष्ठूक्तम्–"शास्त्रेणाऽप्यनुभवं विना न परं ब्रह्म गम्यमि"ति भावः । परम्परितरूपकालङ्कारः ॥ ५ ॥

शिष्यप्रबोधाय केवलस्य शास्त्रादे ब्रह्मज्ञानाऽसाधनत्वेहेतुमाह–

पश्यतु ब्रह्म निर्द्वन्द्वं निर्द्वन्द्वानुभवं विना ।
कथं लिपिमयी दृष्टि र्वाङ्मयी वा मनोमयी ? ॥ ६ ॥

पश्यत्वित्यादि । लिपिमयी—लिपिप्रचुरा, लिपिप्रधानेत्यर्थः । ग्रन्थग्रथिताऽक्षररटनजन्यज्ञानात्मिकेति यावत् । शास्त्राक्षरार्थज्ञानमात्रात्मिकेति हृदयम् । वाङ्मयी—वाक्प्रधाना, हेतुवादात्मिकेति यावत् । मनोमयी—मनः कल्पनात्मिका मनोवृत्तिस्तन्मयी तत्प्रधाना, कल्पनात्मिकेति यावत् । वेति समुच्चये । दृष्टिः—दृक्, ज्ञानमित्यर्थः । परभावोल्लेखित्वाद् द्वन्द्वात्मकं सविकल्पकं ज्ञानमिति समुदायपरमार्थः । निर्द्वन्द्वम्—द्वन्द्वं रागद्वेषादि विषयविकल्पश्च ततो निर्गतं निर्द्वन्द्वं रागद्वेषादिरहितम् । निर्विकल्पकमित्यर्थः । शुद्धसच्चिदानन्दात्मकमिति यावत् । एतच्चाऽदर्शने हेतुरिति बोध्यम् । ब्रह्म—निरञ्जनमात्मानम्, निर्द्वन्द्वानुभवम्—द्वन्द्वाद्विकल्पान्निर्गतो निर्विकल्पकः, परभावपरित्यागेन पारमार्थिकतत्त्वसाक्षात्कारात्मक इत्यर्थः । स तादृशो योऽनुभव उक्तप्रकारस्तम्, विना—ऋते, कथम्—केन प्रकारान्तरेण, पश्यतु—विषयीकरोतु, काका न केनाऽपि प्रकारेण विषयीकर्तुं शक्नोतीत्यर्थः । निर्द्वन्द्वस्य निर्द्वन्द्वेनैव साम्याद् ग्रहणयोग्यता न तु द्वन्द्वात्मकेन, द्वन्द्वात्मकनिर्द्वन्द्वयो र्विशेषणमुखेन विरोधादिति भावः । एवं च शास्त्रादिकं परम्परयैव ब्रह्मज्ञान उपयुज्यते, साक्षात्साधनं त्वनुभव एवेति सहेतुकं समर्थितम् ॥ ६ ॥

शास्त्रोक्तदशाचतुष्टयेषु अनुभवस्य क्व निवेश इति शिष्यजिज्ञासानिवृत्तय आह—

न सुषुप्तिरमोहत्वान्नाऽपि च स्वप्नजागरौ ।
कल्पनाशिल्पविश्रान्तेस्तुर्यवाऽनुभवो दशा ॥ ७ ॥

न सुषुप्तिरित्यादि । अमोहत्वात्—न मोहो मिथ्यात्वाऽज्ञानात्मको यस्य स तादृशोऽमोहस्तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्, मोहरहितत्वादित्यर्थः । अनुभवः—उक्तप्रकारा शुद्धचिदात्मिकाऽऽत्मदशा, सुषुप्तिः—सुषुप्तिवदेव दृढगाढमोहप्राबल्याद् यथार्थवस्तूपलब्ध्यभावात्सुषुप्त्याख्या शास्त्रोक्ता प्रथमात्मदशा, न—नैव, मोहरहितस्य मोहात्मकदशायां विरोधान्नाऽन्तर्भाव इत्याशयः । कल्पनाशिल्पविश्रान्तेः—कल्पनाया विकल्पस्येष्टाऽनिष्टादिपदार्थचिन्तनस्य यच्छिल्पमुत्तरोत्तररचनोत्कर्षस्तस्य विश्रान्ते र्विरामार्द्धतोः, निर्विकल्पात्मकत्वाद्धेतोरित्यर्थः । स्वापजागरौ—स्वापदशावज्जाग्रद्दशा वच्च विविधविकल्पशिल्पव्याप्तत्वात्स्वापाख्या जागराख्या चाऽऽत्मदशा, नाऽपि च—नैव, अनुभव इति विशेष्यं सम्बध्यते । निर्विकल्पकस्य न सविकल्पेऽन्तर्भावो वैलक्षण्यादितिभावः । तस्मात्परिशेषात्—तुर्या—चतुर्थी, उत्तराख्योज्जागरदशैव, एवकारेण दशान्तरव्यवच्छेदः । दशा—आत्मावस्था, बोध्येतिशेषः । यद्यपि चतुर्थी दशा केवलिन एव शास्त्रोक्ता । अनुभवदशा च केवलात्पूर्वभाविनीति तस्यास्तुर्यदशात्वमसमञ्जसम् । तथापि दशात्रयाऽनन्तर्भावाच्छुद्धचिदात्मकत्वात्केवलदशायाः साक्षात्साधनभावाच्च कारणे कार्योपचाराच्च तुर्यत्वमनुभवदशाया इति बोध्यम् ॥ ७ ॥

शिष्याणां प्रबोधाय प्रवृत्तये च साधनप्रकारमुपलक्षयन्ननुभवफलं च विवृण्वन्नुपसंहरति—

अधिगत्याऽखिलं शब्दब्रह्म शास्त्रदृशा मुनिः ।
स्वसंवेद्यं परं ब्रह्माऽनुभवेनाऽधिगच्छति ॥ ८ ॥

इति महामहोपाध्याय-श्रीयशोविजयोपाध्यायविरचिते ज्ञानसारे अनुभवाऽष्टकं नाम षड्विंशतितममष्टकम् ॥ २६ ॥

अधिगत्येत्यादि। **मुनिः**-जगत्तत्त्वमननशीलः सम्यक्त्वसमग्रः साधुः, **शास्त्रदृशा**-शास्त्रं वीतरागवचनं दर्शनादिकं च, उपलक्षणत्वात्तज्जन्यं ज्ञानम्, तदेव दृगिव वस्तुयाथात्म्यपरिच्छेदसाधनत्वात् दृक् तया कृत्वा, श्रुतज्ञानेनेति यावत्। **अखिलम्**-समग्रम्, न तु विकलम्, अल्पस्य परब्रह्मज्ञानाऽसाधनत्वादिति बोध्यम्। **शब्दब्रह्म**-शब्दो ब्रह्मपदसानिध्याद् ब्रह्मप्रतिपादकं वाङ्मयम्, तत्प्रतिपाद्यत्वात्तदात्मकं यद्ब्रह्म शुद्धात्मतत्त्वम्, शब्दविषयं ब्रह्मणस्तटस्थं रूपमित्यर्थः। **अधिगत्य**-ज्ञात्वा, शब्दा हि ब्रह्म तात्स्थ्येनैव प्रतिपादयन्ति, ब्रह्मस्वरूपस्य निर्विकल्पानुभवैकविषयत्वादिति बोध्यम्। अत एव, **अनुभवेन**-उक्तप्रकारेणाऽऽत्ममात्रविषयत्वाच्छुद्धज्ञानेन श्रुतज्ञानोत्तरभाविना, **स्वसंवेद्यम्**-स्वेनाऽऽत्मनैव शुद्धचिदात्मकेन संवेद्यं साक्षात्करणीयम्, यदुक्तं-प्राक्-'जानात्यात्मानमात्मने 'ति। **परम्**-शुद्धसच्चिदानन्दात्मकत्वात्सर्वोत्कृष्टम्, **ब्रह्म**-आत्मानम्, **अधिगच्छति**-साक्षात्करोति, श्रुतज्ञानात् परभावविरमणपूर्वकमनुभवस्ततश्चात्मलाभ इति निष्कर्षः। तस्मात्सर्वप्रयासेनाऽनुभवः साधनीय इति तात्पर्यम् ॥ ८ ॥

इति ज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृ-कविरत्नपन्यासप्रवर-श्रीयशोभद्रविजयगणिवरशिष्यपन्यासश्रीशुभङ्करविजयगणिविरचितायां भद्रङ्करोदयाख्यायां व्याख्यायामनुभवाऽष्टकं नाम षड्विंशतितममष्टकम् ॥ २६ ॥

## ॥ योगाऽष्टकम् ॥

' यथार्थवस्तुस्वरूपोल्लिख-परभावाऽरमण-तदास्वादनैकत्वमनुभव ' इत्युक्तदिशाऽनुभवस्य विरत्यविनाभावित्वाद्विरतेश्च योगसाध्यत्वाद्योगाऽष्टकं विवक्षुः शिष्यप्रबोधायाऽऽदौ योगपदार्थमेवाह—

मोक्षेण योजनाद्योगः सर्वोऽप्याचार इष्यते ।
विशिष्य स्थानवर्णाऽर्थाऽऽलम्बनैकाग्र्यगोचरः ॥ १ ॥

मोक्षेणेत्यादि । मोक्षेण—सर्वकर्मक्षयलक्षणेन शाश्वताऽखण्डाऽऽनन्दात्मकेन चतुर्थपुरुषार्थेन सह, योजनात्—प्रापणात्, मेलनाद्धेतोरित्यर्थः । सर्वः—निखिलः, अपि—रेवार्थः । तेन कतिपयाऽऽचारव्यवच्छेदः । आचारः—चरणसप्ततिकरणसप्ततिरूपो मोक्षप्राप्त्यनुकूलः क्रियासमुदायः । आचारपदस्य तादृशक्रियासमुदाय एव रूढत्वान्मोक्षप्रस्तावाच्चेति बोध्यम् । योगः—योगपदवाच्यः, इष्यते—इष्टः, योगिभिरिति शेषः । यः कोऽपि वाऽऽचारो भवतु, स मोक्षेण योजयति चेद् योगशब्दवाच्यः । योज्यते मोक्षेण सहाऽनेन कृत्वेतिकरणसाधनो योगशब्द इति बोध्यम् । योगार्थाऽनुसारेणैतदेवमुक्तम् । सम्प्रति रूढिमनुसृत्याऽऽह—विशिष्येत्यादि । विशिष्य—तादृशाऽऽचारेषु मनःशुद्ध्यादिविधिप्रगुणत्वात्प्राधान्याच्छङ्खग्राहिकया निर्धार्य, स्थानवर्णार्थालम्बनैकाग्र्यगोचरः—स्थानमावश्यकक्रियासु शास्त्रोक्तासनमुद्रादिपरिग्रहः, वर्णाः पाठकगुणषट्कविशदीकृतसूत्रादिवर्णपारायणम्, अर्थ उक्तप्रकारवर्णार्थभावनम्, आलम्बनं ध्येयं जिनबिम्बादिकं तत्र दृङ्मनः-

समाधिश्च, ऐकाग्र्यं कर्त्तव्येष्वतीचारो मा प्रसाङ्क्षीदिति मनसस्तदेकतानता, अप्रमाद इति यावत्। वृत्त्यन्तरपरित्यागेन मनसो लक्ष्ये स्थिरतेति निष्कर्षः। एते गोचरा विषया यस्य स तादृशः, योग इष्यते इति सम्बध्यते। ततश्च यौगिकार्थाऽनुसारेण योगपदस्य मोक्षसाधकाऽऽचारमात्रमर्थः। रूढ्या तु स्थानादिपञ्चकं योगपदार्थ इति सारः ॥ १ ॥

सम्प्रति शिष्यप्रबोधार्थं तेषां विशेषाऽभिधानं स्वामिनं चाऽऽह—

कर्मयोगद्वयं तत्र ज्ञानयोगत्रयं विदुः।
विरतेष्वेष नियमाद् बीजमात्रं परेष्वपि ॥ २ ॥

कर्मयोगद्वयमित्यादि। तत्र—तेषु स्थानादिषु पञ्चसु योगपदार्थेषु, कर्मयोगद्वयम्—कर्म क्रिया तदात्मको योगः कर्मयोगस्तयोर्द्वयम्, स्थानं वर्णश्चेत्येतद्द्वयं क्रियात्मकत्वात्कर्मयोग इत्येवमित्यर्थः। ज्ञानयोगत्रयम्—ज्ञानं चिन्तनं ध्यानं भावनं च, तदात्मको योगो ज्ञानयोगस्तेषां त्रयम्, अर्थचिन्तनमालम्बनध्यानं लक्ष्यैकतानता च क्रमशो ज्ञानस्यैव प्रकारा इत्यर्थालम्बनैकाग्र्यत्रयं ज्ञानयोग इत्येवम्, विदुः—जानन्ति, योगरहस्यज्ञा इति शेषः। उक्ताः पञ्च योगा द्विधा विभक्ताः, आदितो द्वयं कर्मयोगाख्यं शेषं ज्ञानयोगाख्यं क्रमशः क्रियात्मकत्वाज्ज्ञानात्मकत्वाच्चेत्याशयः। के—मे भवन्तीति शिष्यजिज्ञासायामाह—विरतेष्वित्यादि। एषः—कर्मयोगाख्यो ज्ञानयोगाख्यश्च योगः स्थानाद्यात्मकः, नियमाद्—निश्चयतः, विरतेषु—त्यक्तारम्भेषु, देशविरतेषु सर्वविरतेषु चेत्यर्थः।

भवतीति शेषः। विरता युक्तयोगसम्पन्ना भवन्त्येव, अन्यथा विरते र्दुराराध्यत्वादित्याशयः। परेषु-विरतभिन्नेषु अविरतसम्यग्दृष्टि-मार्गानुसारिप्रभृतिषु, अपिना विरतसमुच्चयः। बीजमात्रम्-बीजं हेतुरेव बीजमात्रम्, यथा तादृशयोगोत्पत्तिः कदाचित्सम्भाव्यते तथांऽशांशेन यत्किञ्चिन्मुद्रादिकं भवतीत्याशयः। विरता योग-समग्रास्तदन्ये तादृशयोगलेशवन्त इति निष्कर्षः ॥ २ ॥

शिष्यस्य विशदबोधो यथा स्यादित्युक्तयोगानां भेदान् कार्याणि चाह—

कृपा-निर्वेद-संवेग-प्रशमोत्पत्तिकारिणः।
भेदाः प्रत्येकमत्रेच्छा-प्रवृत्ति-स्थिरसिद्धयः ॥ ३ ॥

कृपेत्यादि। अत्र-उक्तेषु पञ्चसु योगेषु, प्रत्येकम्-एकमेकं प्रतिलक्षीकृत्य, इच्छाप्रवृत्तिस्थिरसिद्धयः-इच्छा च प्रवृत्तिश्च स्थिरं स्थिरता च, भावप्रधानो निर्देशः। सिद्धिश्चेत्येताः, भेदाः-प्रकाराः, कृपानिर्वेदसंवेगप्रशमोत्पत्तिकारिणः-कृपाऽनुकम्पा, आर्त्तत्राणेच्छा। निर्वेदो दुःखमूलं मत्वा संसारेऽप्रीतिः। संवेगो मोक्ष-विषये उत्कटाऽभिलाषः। प्रशमस्तृष्णाक्षयः कषायादिजयश्चेत्येषा-मुत्पत्तिः प्रादुर्भावस्तत्कुर्वन्ति सम्पादयन्तीति ते तादृशाः। भव-न्तीति शेषः। स्थानादियोगानां प्रत्येकमिच्छाद्याख्याश्चत्वारोभेदाः। यथा-इच्छाख्यः प्रवृत्त्याख्यः स्थिरताख्यः सिद्ध्याख्यश्च स्थान-योगः। एवं वर्णादिष्वप्युह्यम्। इच्छादीनां स्वरूपं चाऽनुपदमेव वक्ष्यति। तदेवं पञ्चनां चतुर्भिर्गुणनेन विंशतिभेदो योगः। एष्वा-राधितेषु च कृपादिलाभ इति तात्पर्यम् ॥ ३ ॥

योगस्येच्छादिकान् प्रकारान् शिष्यजिज्ञासानिवृत्तये निरूपयन्नाह—

**इच्छा तद्वत्कथाप्रीतिः प्रवृत्तिः पालनं परम् ।**
**स्थैर्यं बाधकभीहानिः सिद्धिरन्यार्थसाधनम् ॥ ४ ॥**

इच्छेत्यादि । **तद्वत्कथाप्रीतिः**—स पूर्वोक्तप्रकारः स्थानादियोगोऽस्त्येषामिति तद्वन्तो योगिनस्तेषां तद्गुणानधिकृत्यप्रवृत्तत्वात्तत्सम्बन्धिनी या कथा वार्त्ता प्रवचनादिरूपा, तत्र प्रीतिरनुरागः। तच्छ्रवणोत्कण्ठा, तच्छ्रवणे उद्वेगरहितचित्ताभिनिवेशः, तच्छ्रवणेन चित्तप्रसादानुभवश्च । प्रीतेर्ह्येषोऽनुभाव इति बोध्यम् । इच्छापदसमुदाये सत्या भामेतिवत्पदैकदेशप्रयोगादिच्छायोग इत्यर्थः । उच्यते इति शेषः । एवमग्रेऽपि बोध्यम् । यः स्वयमनुष्ठातुमशक्तोऽपि योगिकथासु प्रीणाति स इच्छायोगवानिति तात्पर्यम् । यत्र नेच्छा तत्र न तद्वत्कथाप्रीतिरिच्छायोग इति हृदयम् । **परम्**—अत्यर्थम्, अनवरतमित्यर्थः । प्रमादादि मा जनिष्टेतिशङ्कयाऽऽलस्यपरित्यागेन सातिशयप्रयत्नपूर्वकमिति यावत् । **पालनम्**—सेवनम्, प्रकरणात्स्थनादियोगस्येति लभ्यते । **प्रवृत्तिः**—प्रवृत्तियोगः । योगसाधनप्रवृत्तिरूपत्वादेष प्रवृत्तियोग इष्यते इति तात्पर्यम् । **बाधकभीहानिः**—बाधका योगप्रतिरोधका ये कुमत्यतीचारादयो दोषास्तेभ्यो या भी र्योगप्रतिरोधभयं तस्या हानिस्त्यागः, योगस्य सदभ्यासादिना तादात्म्यापन्नत्वात्स्वाभाविकत्वादतीचारादिशङ्काया अनवसरादिति बोध्यम् । योगसाधने दृढस्थिरवृत्तितेति यावत् ।

स्थैर्यम्—स्थैर्ययोगः, निशङ्कं योगसाधनं स्थिरतायोग इति निष्कर्षः। यदा सदभ्यासादिना योगः स्वभावभूतो भवति तदा योगमयत्वादात्मनो न बाधकशङ्कोत्पद्यते, तस्माद्बहिरन्तश्च स्थिरता जायते, स स्थिरतायोग इति बोध्यम्। अन्यार्थसाधनम्—अन्येषां स्वभिन्नानां प्राणिनां येऽर्था निर्वैरत्वादयस्तेषांसाधनं सम्पादनम्, स्वसानिध्यादिमात्रेण परेषामपि शुद्धभावप्रापणमित्यर्थः। सिद्धिः—सिद्धियोगः, यदाऽभ्यासादिना योगःसिद्ध्यति तदा तादृशयोगिसान्निध्यादिना परेऽपि शुद्धभावं गच्छन्ति, यथा योगिनःसन्निधौ सहजवैरिणामपि वैरत्यागेनाऽवस्थानं मिथ्यामतेरपि सम्यक्त्वप्रतिपत्तिरित्यादि। स एष सिद्धियोगः, परेषामपि सिद्धिसाधकत्वादित्याशयः॥ ४॥

क्व को योगो भावनीय इति शिष्यजिज्ञासायामाह—

अर्थालम्बनयोश्चैत्यवन्दनादौ विभावनम्।
श्रेयसे योगिनः स्थानवर्णयो र्यत्न एव च॥ ५॥

अर्थालम्बनयोरित्यादि। चैत्यवन्दनादौ—चैत्यं जिनप्रासादः, तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति चैत्यप्रतिष्ठापितानि जिनबिम्बानि तेषां वन्दनम्, आदिना शेषावश्यकक्रिया, तस्मिन् तदधिकारे, अर्थालम्बनयोः—अर्थः पठ्यमानसूत्रादिवाच्य आलम्बनं ध्येयोऽर्हदादिस्तयोरुक्तप्रकारयोरर्थालम्बनयोरित्यर्थः। विभावनम्—विशेषेण स्थिरमनसा भावनमनुचिन्तनम्, योगिनः—स्थानादियोगसमग्रस्य मुनेः, श्रेयसे—कल्याणाय, मोक्षायेत्यर्थः। सम्पद्यत इति शेषः। ननु स्थानवर्णयोःकिमिति शिष्यजिज्ञासानिवृत्तये आह—स्थानवर्णयो-

रित्यादिना। स्थानवर्णयोः-स्थानमुक्तप्रकारः स्थानयोगो विहितासनमुद्रादिः, वर्णो वर्णयोग उक्तप्रकारः सूत्रस्तवाद्यक्षरम्, तयोः, चः समुच्चये। यत्नः-यथा तौ योगौ शुद्धौ स्यातां तथा सोपयोगः प्रयत्न एव, एवकारेण तयोर्बाह्यक्रियारूपत्वाद्विभावनव्यवच्छेदः। योगिनः श्रेयसे इति सम्बध्यते। चैत्यवन्दनादौ स्थानवर्णयोर्यत्नोऽर्थालम्बनयोर्विभावनं च योगिनः श्रेयसे इत्यतस्तादृशविधौ स्थानादियोगोऽवश्यं सप्रयत्नमनुष्ठेयोऽन्यत्र तदनुष्ठानेऽपि श्रेयः सिद्ध्यसम्भवादिति निष्कर्षः। चैत्यवन्दनादौ तै र्योगैरेकाग्र्यारूयपञ्चमयोगसिद्ध्या साक्षादेव श्रेयःप्राप्तिरिति हृदयम्। तदुक्तम्-"तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः। गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषा" इति ॥ ५ ॥

शिष्यप्रबोधार्थमालम्बनविषये विशेषमाह—

**आलम्बनमिह ज्ञेयं द्विविधं रूप्यरूपि च।**
**अरूपि गुणसायुज्यं योगोऽनालम्बनः परः ॥ ६ ॥**

आलम्बनमित्यादि। इह-योगप्रकरणेऽस्मिन्, आलम्बनम्-यदालम्ब्याऽऽलम्बनयोगप्रवृत्तिस्तद् दृश्यं ध्येयं च लक्ष्यम्, द्विविधम्-द्विप्रकारम्, ज्ञेयम्-बोध्यम्, किन्तदित्याकाङ्क्षायामाह-रूपीत्यादि। रूपि-रूपवत्, मूर्तमित्यर्थः। अरूपि-अमूर्तम्, चः समुच्चये। तत्र रूप्यर्हत्प्रतिमादिकं प्रतीतमित्यरूपि निरूपयन्नाह-अरूपीत्यादि। गुणसायुज्यम्-गुणै रूप्यालम्बनगुणै र्ज्ञानादिभिः सायुज्यं सहयुज्यते समाधत्ते इति सयुक्तस्य भावः सायुज्यं

तादात्म्यम्। अर्हदादिस्मरणेन तद्गुणात्मना चित्तस्य धारावाहितया प्रशान्तपरिणतिरिति यावत्। अरूपि-अरूप्यालम्बनम्, अरूपि-गुणविषयत्वादरूपीत्याशयः। स एवैषः, परः-सर्वान्तिमः, अनालम्बनः-ईषदरूपित्वादालम्बनं यस्य स तादृशः, ऐकाग्र्याख्य इत्यर्थः। एकाग्रतायां हि न परभानमित्यनालम्बनाख्य इति बोध्यम्। योगः-मोक्षेण योजक आचारविशेषः। तदेवं स्थानादीनां पञ्चानां योगानामिच्छादिभिश्चतुर्भिर्गुणने विंशतिः प्रकारा इति बोध्यम्॥ ६॥

सम्प्रति तेषां योगानां प्रकारविशेषं शिष्यजिज्ञासानिवृत्तये मोक्षप्राप्तिक्रमं चाह—

प्रीतिभक्तिवचोऽसङ्गैः स्थानाद्यपि चतुर्विधम्।
तस्मादयोगयोगाप्ते र्मोक्षयोगः क्रमाद् भवेत्॥ ७॥

प्रीतिभक्तीत्यादि। स्थानादि-पूर्वोक्तस्थानप्रभृतियोगपञ्चकम्, प्रीतिभक्तिवचोऽसङ्गैः-प्रीतिभक्तिवचोऽसङ्गाख्यैश्चतुर्भिरनुष्ठानैः कृत्वाऽपि, अपिनेच्छादियोगसमुच्चयः। चतुर्विधम्-चतस्रो विधाःप्रकारा यस्य तत्तादृशम्, चतुःप्रकारमित्यर्थः। स्थानादिपञ्चकं प्रत्येकमिच्छादिभिश्चतुर्विधं प्रीत्यादिभिरपि चतुर्विधमित्यर्थः। तदेवं योगपञ्चकमिच्छादिचतुष्केण गुणितं विंशतिविधं प्रीत्यादिचतुष्केण गुणितमशीतिविधमिति बोध्यम्। तत्र-परमादरेण हितोदयकारिरुचिसहितं शेषत्यागेन योगानुष्ठानं प्रीतिः सम्यग्ज्ञानिनः प्रीतिसमक्रियमपि सविशेषगौरवं विशुद्धतरं योगानुष्ठानं

भक्तिः, सम्यक्चारित्रवतः श्रुतानुसारेण यथोचितं योगानुष्ठानं वचः, पट्वभ्यासाऽऽहितसंस्कारवशाद्वचननैरपेक्ष्येण स्वभावत एव योगानुष्ठानमसङ्गः इति सङ्क्षेपः। विस्तरतस्तु षोडशकादौ द्रष्टव्यम्। नन्वेभि र्योगैः कथं मोक्षाप्तिरिति शिष्यजिज्ञासायामाह—तस्मादित्यादि। तस्मात्—पूर्वोक्ताऽशीतिविधयोगाराधनाद्धेतोः, क्रमात्—पौर्वापर्यतः, अयोगयोगाप्तेः—अयोगोऽविद्यमाना मनोयोगादयः सर्वे योगा यत्र स तादृशश्चाऽसौ योगश्चाऽयोगयोगः सकलयोगनिरोधात्मकः शैलेश्यवस्थारूपस्तस्याऽप्तेः प्राप्तेर्हेतोः, मोक्षयोगः—सकलकर्मक्षयजन्यशुद्धसच्चिदानन्दात्मकस्वरूपावस्थानात्मकेन मोक्षपदवाच्येन सह योगः सम्बन्धः, भवेत्—स्यात्। आदौ योगाराधनं ततोऽयोगयोगाप्ति स्ततो मोक्ष इत्येवं क्रमाद्योगान्मोक्षलाभ इति तात्पर्यम्। तस्मान्मोक्षेच्छुना योगोऽवश्याराध्यः, तेन विना मोक्षाऽप्राप्तेरिति हृदयम्॥ ७॥

सम्प्रत्युपसंहरन् शिष्यहृदयावर्जनार्थं योगरहितस्य श्रुताऽधिकारोऽपि नेति योगमाहात्म्यमाह—

स्थानाद्ययोगिनस्तीर्थोच्छेदाद्यालम्बनादपि।
सूत्रदाने महादोष इत्याचार्याः प्रचक्षते॥ ८॥

इति महामहोपाध्याय—श्रीयशोविजयोपाध्यायकृते ज्ञानसारे योगाऽष्टकं नाम सप्तविंशतितममष्टकम्॥२७॥

स्थानाद्ययोगिन इत्यादि। स्थानाद्ययोगिनः—स्थानं स्थानादयो योग आदि र्येषां वर्णयोगादीनां ते स्थानादयस्तैः कृत्वाऽयोगिनो

न योगोऽयोगो योगाभावः सोऽस्त्यस्येति स तस्य स्थानादियोगाराधनविमुखस्य, शेषे षष्ठी। तीर्थोच्छेदाद्यालम्बनात्—तीर्थोच्छेदो यद्यस्मै योगरहितायाऽपि सूत्रं नोपदिशामि तदा तीर्थस्य प्रवचनस्योच्छेदो भङ्गो योगिनः प्रवचनज्ञस्याऽभावात्स्यादित्येवं तीर्थोच्छेदः, आदिना गुरुभक्त्यादिरालम्बनमविधिना सूत्रदाननिमित्तं ततो हेतोरपि, सूत्रदाने—श्रुतोपदेशे, महादोषः—महानक्षम्यो दोषोऽपराधः, अपिना यत्र तीर्थोच्छेदनिवारणार्थमपि योगरहितस्य सूत्रदाने महादोषस्तत्र ततोऽल्पकारणेन सूत्रदाने महादोष इति किमु वक्तव्यमिति सूच्यते। योगरहितस्य हि सूत्रदानेऽनधिकारिणा तेनाऽशुद्धक्रियापरम्पराप्रवृत्तेः परमार्थतः शुद्धक्रियोच्छेदात्तीर्थोच्छेदनिमित्ततैवोपदेष्टुरित्यतो महादोष इति बोध्यम्। नन्वेतद्योगपक्षपातिनो भवतः स्वमनीषिकेति चेन्न, तदाह—इतीत्यादि। इति—अयोगिनः सूत्रदाने महादोष इत्येवम्, आचार्याः—योगशास्त्रोपदेष्टारो मुनयः, प्रचक्षते—प्रकर्षेण साग्रहमाख्यान्ति। एवं च श्रुताधिकारी यथा स्यामित्यवश्यं योगोऽभ्यसनीयो मुमुक्षुणेति तात्पर्यम् ॥ ८ ॥

इति ज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृकविरत्नपन्यासप्रवरश्रीयशोभद्रविजयजीगणिवरशिष्यपन्यासश्रीशुभङ्करविजयगणिविरचितायां भद्रङ्करोदयाख्यायां व्याख्यायां योगाऽष्टकं नाम सप्तविंशतितममष्टकम् ॥ २७ ॥

## ॥ नियागाऽष्टकम् ॥

ननु भवता 'अयोगाप्ते र्मोक्षयोग' इत्युच्यते। अन्ये पुनर्नियागप्रतिपत्त्या मोक्षमाहुरिति शिष्यशङ्कां समाधित्सुर्नियागाऽष्टकं विवक्षुरादौ नियागमेव विवृण्वन्नाह—

यः कर्म हुतवान् दीप्ते ब्रह्माग्नौ ध्यानधाय्यया।
स निश्चितेन यागेन नियागप्रतिपत्तिमान् ॥ १ ॥

य इत्यादि। यः—यादृश उक्तयोगसम्पन्नो मुनिः, दीप्ते—उक्तयोगाराधनाद्विशुद्धत्वात्कर्मदाहकतीव्रसामर्थ्यसम्पन्ने, अग्निपक्षे प्रज्वलिते, ब्रह्माग्नौ—ब्रह्म विशुद्धचैतन्यभाव आत्मैवोक्तयोगाभ्यासप्रादुर्भूतकर्मदाहशक्तेरग्निस्तस्मिन्, ध्यानधाय्यया—ध्यानं शैलेश्याख्यमयोगयोगात्मकं शुक्लध्यानं तद्रूपया धाय्यया धीयतेऽनया समिदग्नाविति धाय्या ऋक्, तया, ध्यानात्मकसमित्प्रक्षेपमन्त्रेणेत्यर्थः। कर्म—कर्मात्मिकां समिधम्, हुतवान्—प्रदिप्य दग्धवान्, ऋचा हि प्रदिप्तेऽग्नौ समिधं जुहोति, तथा ध्यानेन शुद्धात्मनि कर्म नाशयति मुनिरित्याकूतम्। सः—तादृशो ध्यानेन ब्रह्मणि दग्धकर्मा मुनिरेव, निश्चितेन—निश्चयाऽभिमतेन, यागेन—यज्ञेन, देवप्रीत्यर्थेन आहुतिक्रियाप्रधानेन विधिविशेषेण यज्ञ इति प्रतीतेन, निश्चयनयो हि भावमिच्छति न द्रव्यादिकं तस्य व्यवहारविषयत्वादिति भावयज्ञसम्पन्नत्वेन हेतुनेत्यर्थः। "यज्ञः सवोऽध्वरो याग" इत्यमरः। नियागप्रतिपत्तिमान्—निश्चितो यागो नियागस्तस्य या प्रतिपत्तिः स्वीकारः, प्राप्तिरित्यर्थः। तद्वान्। नियागो

नार्थान्तरं वेदोक्तप्रकारम्, किन्तु भावयज्ञ एव नियागः। तत्प्रतिपत्त्यैव मोक्षयोगः। स चाऽयोगयोगात्मकशैलेश्यारूयशुक्लध्यानेनैव साध्य इति सुष्ठूक्तम्—" अयोगयोगाप्ते र्मोक्षयोग " इति भावः। परम्परितरूपकालङ्कारः ॥ १ ॥

शिष्यप्रतिबोधायोक्तप्रकारस्य भावयज्ञस्यैवोपादेयत्वं नत्वन्याद्दशस्य यज्ञस्येत्याह—

पापध्वंसिनि निष्कामे ज्ञानयज्ञे रतो भव।
सावद्यैः कर्मयज्ञैः किं भूतिकामनयाऽऽविलैः ॥ २ ॥

पापध्वंसिनीत्यादि। वत्सेति सम्बोधनं प्रस्तावाल्लभ्यते। पापध्वंसिनि-पापमशुभं कर्म, उपलक्षणत्वात्कर्ममात्रम्, तद् ध्वंसयति नाशयतीत्येवंशीलस्तस्मिन्, कर्मनाशके इत्यर्थः। निरवद्य इति यावत्। निष्कामे-कामादिष्टार्थप्राप्तीच्छातो निर्गतो निष्कामः, कामनोच्छेदके कामनां विना साध्ये वेत्यर्थः। कामनारहितत्वाद्विशुद्धे इति हृदयम्। ज्ञानयज्ञे-ज्ञानेन ज्ञानात्मको वा यज्ञो देवप्रीत्यर्थो विधिविशेषः, प्रस्तुते तु कर्मनाशक आन्तरो ध्यानादिव्यापारात्मक उक्तप्रकारो भावयज्ञस्तत्रैव, एवाऽर्थोऽर्थाल्लभ्यते। रतः-तत्परः, भव-एधि। अर्थाल्लब्धैवकारव्यवच्छेद्यमाह-सावद्यैरित्यादि। सावद्यैः-अवद्यं पशुवधाद्यात्मकं पापं तेन सह वर्त्तन्त इति ते तादृशास्तैः, पापहेतुभिरित्यर्थः। तथा, भूतिकामनया-भूतिरैश्वर्यम्, तस्याः कामनया प्राप्तीच्छया, " भूतिकामः पशुमालभेते"त्युक्तेरिति भावः। "विभूतिर्भूतिरैश्वर्यमि"त्यमर। आविलैः-

कलुषैः, अविशुद्धैरित्यर्थः । "कलुषोऽनच्छ आविल" इत्यमरः। कर्मयज्ञैः—कर्म पशुवधादिका बाह्यक्रिया तया तदात्मका वा ये यज्ञास्तै वेदोक्तै र्ज्योतिष्टोमादिभिः प्रसिद्धै र्यज्ञैः, किम् ?—न किमपीत्यर्थः । तादृशा यज्ञा हेया इति यावत् । अत्र कर्मयज्ञानां हाने विशेषणविधया सावद्यत्वमाविलत्वं च हेतुरुक्तः । तथा ज्ञानयज्ञस्योपादाने पापध्वंसित्वं निष्कामत्वं च हेतुर्विशेषणविधयोक्तः । पदसमुदायश्च वाक्यमिति वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारोऽत्र बोध्यः । कर्मनाशकत्वाद्विशुद्धत्वाच्च ज्ञानयज्ञ उपादेयः, सावद्यत्वादविशुद्धत्वाच्च कर्मयज्ञो हेय इति निष्कर्षः । यदुक्तम्—"श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाद् ज्ञानयज्ञः परन्तप ! सर्वं कर्माऽखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते" इति ॥ २ ॥

ननु 'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीमि"त्युक्तेः फलत्यागपूर्वको वेदोक्तत्वान्मनःशुद्धिहेतुश्च कर्मयज्ञोऽप्युपादेय एवेति शिष्यतर्कं विजघटयिषुराह—

वेदोक्तत्वान्मनःशुद्ध्या कर्मयज्ञोऽपि योगिनः ।
ब्रह्मयज्ञ इतीच्छन्तः श्रेयनयागं त्यजन्ति किम् ? ॥ ३ ॥

वेदोक्तत्वादित्यादि । योगिनः—कर्मफलत्यागात्मकयोगवतो ज्ञानिनः । यदुक्तम्—"सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवानि"ति । तद्विधेयत्वात्तत्सम्बधीत्यर्थः । कर्मयज्ञः—पशुवधाद्यात्मकेन कर्मणा सम्पादनीयः क्रियात्मको वा यज्ञो देवप्रीत्यर्थविधिविशेषो यज्ञ इति प्रसिद्धोऽपि, अपिना न केवलं ज्ञान एवेति सूच्यते ।

**वेदोक्तत्वात्**–वेदे उक्तत्वाद्विहितत्वाद्धेतोः, यद्धि वेदविहितं न तद्दोषायाऽपि तु मनःशुद्धय एवेत्यतो हेतोः, वेदस्य शुभोपदेश एक व्यापारोऽन्यथाऽप्रामाण्यापत्तेरिति बोध्यम्। **मनःशुद्ध्या**–मनसश्चित्तस्य, उपलक्षणत्वाच्चित्तवृत्तेः शुद्धिः शुभपरिणामस्तया कृत्वा, यद्वा वेदोक्तमित्ति विहितं करोमि नाऽविहितमिति मनःपरिणामशुद्ध्या कृत्वा, **ब्रह्मयज्ञः**–ब्रह्म शुद्धचिदात्मा तत्प्रयोजको यज्ञः, आत्मसाधको ज्ञानात्मको यज्ञ एवेत्यर्थः। **इति**–एवम्, **इच्छन्तः**–मन्यमानाः, यदुक्तम्–"योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये" इति, "त्यक्त्वा कर्मफलाऽऽसङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति स" इति, वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा" इति चेति बोध्यम्। **श्येनयागम्**–श्येनाख्यपक्षिविशेषहिंसासाध्यं यागं यज्ञं श्येनयागेतिप्रसिद्धं वेदोक्तम्, यदुक्तम्–"श्येनेनाऽभिचरन् यजेते"ति। **किम्**–कुतो हेतोः, **त्यजन्ति**–वर्जयन्ति, न कुर्वन्तीत्यर्थः। काका तत्त्यागो न सङ्गच्छते इति ध्वन्यते। तस्याऽपि वेदोक्त्वान्मनःशुद्ध्या ब्रह्मयज्ञत्वस्य तत्राऽप्युक्तरीत्याऽबाधात्त्यागहेतोरभावादितिभावः। ततश्च यथा कर्मफलत्यागेनाऽपि श्येनयागे ब्रह्मयज्ञत्वं नेष्टम्, अत एव त्यजन्ति। तथा यागान्तरेऽपि फलत्यागेऽपि हिंसात्मकत्वान्न ब्रह्मयज्ञतेति कर्मयज्ञत्याग एवेष्ट इति सुष्ठूक्तम्–"सावद्यैः कर्मयज्ञैः किमि"त्यादीति भावः॥ ३॥

ननु तर्हि "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय" इति, "कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतमि"त्यादि चोक्तं न

सङ्गच्छते । किञ्च फलत्यागे कर्मयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति सिद्धान्तोऽपि विरुध्यते इति शिष्यशङ्कां समादधदाह—

**ब्रह्मयज्ञः परं कर्म गृहस्थस्याऽधिकारिणः ।**
**पूजादि वीतरागस्य ज्ञानमेव तु योगिनः ॥ ४ ॥**

ब्रह्मयज्ञ इत्यादि । अधिकारिणः—न्यायोपार्जितवित्तादिमत्त्वाद्वीतरागपूजाऽधिकारवतः, एतेनाऽन्यादृशोऽनधिकारिणो वीतरागपूजाद्यपि न ब्रह्मयज्ञ आत्मशुद्ध्यभावादिति ध्वन्यते । गृहस्थस्य—गृहमेधिनः, देशविरतस्य श्रावकादेरल्पशः सावद्यप्रवृत्तिमतः, वीतरागस्य—रागद्वेषरहितस्याऽर्हतः, पूजादि—स्नानीयमाद्यजलाऽनुलेपनपुष्पधूपदीपचेलाऽलङ्कारादिनिवेदनाद्यात्मिका क्रिया पूजेति प्रसिद्धा, आदिना बिम्बप्रतिष्ठादिकम्, तद्रूपमित्यर्थः । कर्म—कर्मणा साध्यः कर्मात्मको वा यज्ञः, कर्मयज्ञ इत्यर्थः । परम्—केवलम्, ब्रह्मयज्ञः—ब्रह्मसाधकमनःशुद्धिहेतुत्वेन ब्रह्मयज्ञात्मकः । ननु तर्हि योगिनः किमित्याकाङ्क्षायामाह—ज्ञानमित्यादि । तुर्भेदे । तमेवाह—योगिनः—सर्वसावद्यविरतस्य मुनेस्तु, ज्ञानम्—ज्ञानयज्ञ एव, ब्रह्मयज्ञ इति सम्बध्यते । जलपुष्पादिसाध्यपूजादेः सावद्यानुष्ठानरूपत्वाद् गृहस्थस्य च सावद्यप्रवृत्तेरशक्यपरिहारत्वात्पूजादि युज्यते, मनःशुद्ध्यादिफलत्वाच्च स ब्रह्मयज्ञः । योगिनस्तु सर्वसावद्यविरतत्वात्तन्न युज्यत इति तस्य ज्ञानयज्ञ एव ब्रह्मयज्ञ इत्याशयः । एवञ्च "कर्मणैव ही"त्यादौ कर्मपदं स्वरूपसावद्यपूजादिकर्मपरं गृहस्थोचितमेव न मुनेरर्हतीति नाऽसङ्गतिर्न वा विरोध इति सर्वं समञ्जसमित्याकूतम् ॥ ४ ॥

शिष्यप्रबोधार्थं प्रागुक्तश्लोकद्वयार्थमेव विशदीकुर्वन्नाह—

**भिन्नोद्देशेन विहितं कर्म कर्मक्षयाऽक्षमम्**
**क्लृप्तभिन्नाधिकारं च पुत्रेष्ट्यादिवदिष्यताम् ॥ ५ ॥**

भिन्नोद्देशेनेत्यादि । **भिन्नोद्देशेन**—भिन्नः कर्मक्षयप्रस्तावात्कर्मक्षयलक्षणमोक्षविलक्षणः स्वर्गादिरूप उद्देशः प्रवृत्तिप्रयोजनं तेन हेतुना, मोक्षविलक्षणस्वर्गाद्यात्मककामनासिद्ध्यर्थमित्यर्थः । **विहितम्**—शास्त्रे विधेयत्वेन प्रतिपादितम्, **क्लृप्तभिन्नाधिकारम्**—क्लृप्तो निश्चितो भिन्नो विविधोऽधिकारो योग्यता यस्य तत्तादृशम्, मुमुक्षुविधेयविधिविलक्षणप्रक्रियमित्यर्थः । **चः**—समुच्चये । "प्रक्रिया त्वधिकारोऽत्थे" ति हैमः । **कर्म**—कर्मयज्ञः, **पुत्रेष्ट्यादिवत्**—पुत्रस्य तदर्थत्वात्तत्सम्बन्धिनी येष्टिर्यज्ञः, आदिनाऽग्निष्टोमश्येनयागादिः । यदुक्तम्—" पुत्रेष्टया यजेत पुत्रकामः " इति, तद्वत्, पुत्रेष्ट्यादियज्ञ इवेत्यर्थः । **कर्मक्षयाऽक्षयम्**—कर्मणः पुण्यपापात्मकस्य क्षये निर्जरणेऽक्षममसमर्थम्, **इष्यताम्**—मन्यताम् । अयं भावः—वेदे यज्ञः स्वर्गाद्युद्देशेन काम्याधिकारे विहितः, तथा वीतरागस्य पूजादि गृहिधर्माऽधिकारे विहितो न योगिधर्माधिकारे । एवञ्च यदुद्देशेन यदधिकारे च तत्कर्म विहितं तेनाऽधिकारिणैव विहितेन तेन तदुद्देशस्यैव सिद्धि र्युज्यते । यदि हि तेनोक्ताऽधिकारानर्हविहितेनोक्तविलक्षणोद्देशसिद्धिरपि स्यात्तदोद्देशाऽधिकारविशेषप्रतिपादनं निष्प्रयोजनत्वाच्छास्त्रे न कुर्यादेव । तस्मान्निष्कामेन विहितः कर्मयज्ञः कर्मक्षयाऽक्षमत्वान्न ब्रह्मयज्ञः । यथा पुत्रेष्ट्यादिः पुत्रादिकामनात्यागेन विहितोऽपि न विविदिषाहेतुः, प्रत्युताऽधिकारविपर्ययेण

जमदग्न्यादिविहितपुत्रेष्ट्यादेर्महानर्थः शास्त्रेषु श्रूयते । तस्मान्न कर्म कथञ्चिदपि ब्रह्मयज्ञः । किञ्च गृहमेधिनोऽधिकृत्य फलविशेषोद्देशेन विहितः कर्मयज्ञो मुमुक्षुभि र्हेय एवेति ॥ ५ ॥

ननु "मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसी"त्युक्तेः कर्मणो ब्रह्मार्पणं ब्रह्मयज्ञ इति शिष्यशङ्कायामाह—

**ब्रह्मार्पणमपि ब्रह्मयज्ञाऽन्तर्भावसाधनम् ।**
**ब्रह्माऽग्नौ कर्मणो युक्तं स्वकृतत्वस्मये हुते ॥ ६ ॥**

ब्रह्मार्पणमपीत्यादि । कर्मणः—स्वकृतकर्मणः कर्मयज्ञादिरूपस्य। **ब्रह्मार्पणम्**-ब्रह्मणे शुद्धसच्चिदानन्दमयाऽऽत्मने परमेश्वरायाऽर्पणं निवेदनम्, यत्कृतं तद्ब्रह्मणे ब्रह्मणा न मदर्थं मयेत्येवमादिरूपेण स्वकृतकर्मणो ब्रह्मसात्करणम्, तदपि । अपिना नाऽन्यथा ब्रह्मयज्ञान्तर्भावः कर्मयज्ञस्येत्युक्तं सूच्यते । **ब्रह्माऽग्नौ**—ब्रह्म उक्तप्रकारः स एवाऽहङ्कारादिदाहसमर्थत्वादग्निस्तस्मिन्, **स्वकृतत्वस्मये**—स्वेन कृतं स्वकृतं तस्य भावस्तत्त्वं तदात्मको यः स्मयो मदः, कृते कर्मणि इदं मया कृतमित्येवं स्वकर्तृत्वाऽभिमान इत्यर्थः । तस्मिन्, **हुते**-विलोपिते सति, **ब्रह्मयज्ञान्तर्भावसाधनम्**—ब्रह्मयज्ञ उक्तप्रकारस्तत्र योऽन्तर्भावः कर्मयज्ञस्य ब्रह्मरूपताऽऽपादनं तस्य साधनमुपायः, **युक्तम्**—घटते, उचितमित्यर्थः । अयं भावः—कर्मयज्ञस्य ब्रह्मार्पणं तदा ब्रह्मयज्ञतासाधनं यदि निजात्मनि ब्रह्मैक्यभावनया कर्मणः स्वकर्तृत्वाऽभिमानो न जायते । आत्मसाक्षात्कारे हि तस्मिन् न कर्तृत्वबुद्धिरुदेति, आत्मनो निरञ्जनत्वादिति तदव-

स्थायां कृतमपि कर्माऽऽत्मसाक्षात्कारायैव जायते इति कर्मणो ब्रह्मार्पणमित्युच्यते। एवं च स ब्रह्मार्थो यज्ञ इति कर्मयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इत्युच्यते नाऽन्यथा। यदुक्तम्—"ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हवि र्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना" इति, "यस्य नाऽहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते" इति च। एवञ्चाऽत्र ज्ञातात्मनः कर्मैव ब्रह्मयज्ञोऽन्यथा तु तयो र्भेद एवेति मुमुक्षुणा कर्मयज्ञः सर्वथा हेय एवेति हृदयम् ॥ ६ ॥

सम्प्रत्युपसंहरन् शिष्यहृदयावर्जनाय ब्रह्मयज्ञं विवृण्वन्नियाग-प्रतिपत्तिफलमाह युग्मेन—

ब्रह्मण्यर्पितसर्वस्वो ब्रह्मदृग् ब्रह्मसाधनः।
ब्रह्मणा जुह्वदब्रह्म ब्रह्मणि ब्रह्मगुप्तिमान् ॥ ७ ॥
ब्रह्माध्ययननिष्ठावान् परब्रह्मसमाहितः।
ब्राह्मणो लिप्यते नाऽघै र्नियागप्रतिपत्तिमान् ॥ ८ ॥

इति महामहोपाध्याय श्रीयशोविजयोपाध्यायविरचिते ज्ञानसारे नियागाऽष्टकं नामाऽष्टाविंशतितममष्टकम् ॥ २८ ॥

ब्रह्मणीत्यादि। ब्रह्मदृक्—ब्रह्मणि शुद्धचिदात्मनि दृग्दृष्टि र्यस्य सः, आत्मलाभैकलक्ष्यः, मुमुक्षुरित्यर्थः। ब्रह्मसाधनः—ब्रह्म शुद्धात्मा, उपलक्षणत्वात्तद्विषयकं ज्ञानम्, तत्त्वज्ञानमित्यर्थः। तदेव साधनं स्वेष्टमोक्षलाभोपायो न तु कर्म यस्य स तादृशः सन्, ज्ञानसाधन इत्यर्थः। ब्रह्मणि—शुद्धचिदात्मनि, अर्पितसर्वस्वः—अर्पितं तदेका-

वशीकृतं सर्वस्वं स्वकीयत्वेनोपलक्ष्यमाणं क्रियाज्ञानादिकं येन स तादृशः, यत्किमपि क्रियाज्ञानादिकं तत्सर्वं शुद्धचिदात्माऽऽत्मार्थमेवेत्येवं शुद्धचिदात्मैकतान इत्यर्थः। मुमुक्षु हिं ज्ञानेन ब्रह्मार्थमेव किमपि करोतीति भावः। तदेवं ज्ञानोपयोगमुक्त्वा क्रियामाह—ब्रह्मणेत्यादि। **ब्रह्मणि**—सर्वज्ञानक्रियाऽऽधारभूते साधनत्वेन परिणते ज्ञानेन प्रदीप्ते निजात्मनि, अग्नाविवेति ध्वनिः। **ब्रह्मणा**—आत्मना, लक्षणयाऽऽत्मज्ञानेनाऽऽत्मवीर्येण च कृत्वा, ध्यानेन कृत्वा वा। तदुक्तं प्राक्—"ध्यानधाय्यये" ति ध्येयम्। **अब्रह्म**—न ब्रह्म सम्यग्ज्ञानं ब्रह्मचर्यं च, उपलक्षणत्वात्कामनामात्रम्, तथा ब्रह्म आत्मा तद्भिन्नं पौद्गलिकं कर्म, अज्ञानं कामनां कर्माणि च, **जुह्वत्**—आहुतीकुर्वन्, नाशयन्नित्यर्थः। तथा चोक्तं प्राक्—"ब्रह्माग्नौ कर्मणो युक्तमि"त्यादि, "पापध्वंसिनी"त्यादि चेति ध्येयम्। अत एव, **ब्रह्मगुप्तिमान्**—ब्रह्मणो ब्रह्मचर्यस्य या गुप्तिर्नवधाशीलरक्षणं तद्वान्, दृढस्थिरब्रह्मचारीत्यर्थः। अथ ध्यानमाह—ब्रह्माध्ययनेत्यादिना। **ब्रह्माध्ययननिष्ठावान्**—ब्रह्मण आत्मनः, तत्स्वरूपस्य तत्साधकाऽनुष्ठानस्य च प्रतिपादकत्वात्तत्सम्बन्धीनि यान्यध्ययनानि शास्त्राऽध्यायाः, तथाऽऽचाराङ्गस्य प्रथमश्रुतस्कन्धस्य नवाऽध्ययनानि, तेषु निष्ठा परिपूर्णता तद्वान्, अधीताऽध्यात्मशास्त्र इत्यर्थः। अत एव च **परब्रह्मसमाहितः**—परं शुद्धसच्चिदानन्दमयत्वात्सर्वोत्कृष्टं यद् ब्रह्म निरञ्जन आत्मा तस्मिन् समाहितो वृत्त्यन्तरनिरोधेन तदेकाग्रचित्तः, आत्मसमाधिस्थः सन्नित्यर्थः। उक्तै सर्वै र्विशेषणैः कृत्वा, **नियागप्रतिपत्तिमान्**—ज्ञानात्मकत्वान्निश्चितो यागो नियागो

ब्रह्मयज्ञस्तस्य या प्रतिपत्तिः स्वीकृतिस्तद्वान्, ब्रह्मयज्ञपरायण इत्यर्थः। ब्राह्मणः—रूढ्या द्विजः, ब्रह्म जानातीति ब्राह्मण इति योगार्थालम्बनेन मुमुक्षवः श्रमणभिक्षुनिर्ग्रन्थाः, अघैः—पापकर्मभिः सह, "पापं किल्बिषकल्मषम्। कलुषं वृजिनैनोऽघमंहोदुरितदुष्कृतमि"त्यमरः। न—नैव, लिप्यते—श्लिष्यते। अत्र नियागप्रतिपत्तिमानेव ब्रह्मणो न तु सावद्यकर्मपरायण इति भङ्ग्या सूच्यते। यो हि शास्त्राण्यधीत्य मुमुक्षुर्ज्ञानेन ब्रह्माधीनीकृतात्मा ध्यानादिना निर्जीर्णकर्मा ब्रह्मचारी समाधिस्थो भवति स ब्रह्मयज्ञसमग्रत्वान्न कर्म बध्नातीति मुच्यते इति ब्रह्मयज्ञ एवोपादेयः, कर्मयज्ञोऽप्युक्तप्रकारेण ब्रह्मयज्ञात्मक एवोपादेयः। अन्यः सर्वो हेय एवेति हृदयम् ॥ ७ ॥ ८ ॥

इति ज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृकविरत्नपन्यासपवरश्रीयशोभद्रविजयगणिवरशिष्यपन्यासश्रीशुभङ्करविजयगणिविरचितायां भद्रङ्करोदयाख्यायां व्याख्यायां नियागाऽष्टकं नामाष्टाविंशतितममष्टकम् ॥ २८ ॥

---

## ॥ पूजाऽष्टकम् ॥

यदुक्तं 'नियागप्रतिपत्तिमानि'ति। तत्र नियागः पूजाध्यानतपोरूप इत्यादौ शिष्यप्रबोधार्थं पूजाऽष्टकं विवक्षुर्मुनीनां भावपूजैवोचितेति तत्प्रकारमाह युग्मेन—

दयाऽम्भसा कृतस्नानः सन्तोषशुभवस्त्रभृत्।
विवेकतिलकभ्राजी भावनापावनाशयः ॥ १ ॥

भक्तिश्रद्धानघृणोन्मिश्रपाटीरजद्रवैः ।
नवब्रह्माङ्कृतो देवं शुद्धमात्मानमर्चय ॥ २ ॥

दयाम्भसेत्यादि । वत्सेति सम्बोधनं प्रस्तावाल्लभ्यते । एवमग्रिमश्लोकेष्वपि बोध्यम् । दयाम्भसा—दया परदुःखप्रहाणेच्छारूपा करुणा सैव शरीरमलस्य जलमिवाऽऽत्ममलस्य कषायादेः शोधकत्वादम्भो जलं तेन कृत्वा, कृतस्नानः—कृतं विहितं स्नानमात्मशरीरमलकषायादिप्रक्षालनं येन स तादृशः सन् । यथा जलेन शरीरस्य मलापगम आर्द्रता च तथा करुणया निवृत्तकषायः स्निग्धश्च सन्नित्यर्थः । स्नातस्याऽवश्यं वस्त्रपरिधानमित्याह—सन्तोषेत्यादि । सन्तोषशुभवस्त्रभृत्—सन्तोषोऽधिकाऽभिलाषेणाऽव्यग्रता लब्धमात्रेण मनःप्रसादश्च स एव शुद्धत्वाच्छुभत्वान्मनश्चाच्छाद्याऽऽच्छादकत्वाच्च शरीराच्छादनं शुभमनुपहतं शुक्लं क्षौमादिवस्त्रं वासस्तद्बिभर्त्तीति स तादृशः सन् । यथा वस्त्रं शरीराच्छादनं मर्यादारक्षणसाधनं च तथा सन्तोषोऽपि मनोवृत्तीं मर्यादीकरोति लोभादिनिराकरणेन मनस आवरणं च करोतीति भावः । वस्त्रपरिधानानन्तरं तिलकमाह—विवेकेत्यादि । विवेकतिलकभ्राजी—विवेक आत्मानात्मभेदग्रहो विवेकाऽष्टकोक्तः स एवाऽऽत्मगुणेषु मूर्धन्यत्वाल्ललाटपट्टपुण्ड्रं तेन भ्राजते दीप्यत इति तादृशः सन् । ललाटे तिलकेन हि वपुः शोभते, तथाऽऽत्मा विवेकेनैव शोभते इति भावः । अथाशयशुद्धिमाह—भावनेत्यादि । भावनापावनाशयः—भावना शुभमनोवृत्ति र्विधेये प्रमादो मा भूदिति तदेकचित्तता च तया कृत्वा पावनो निष्कलुष उदात्तश्चाऽऽशयश्चित्त-

वृत्ति र्यस्य स तादृशः सन् । स्नात्वा वस्त्रे परिधाय तिलकं कृत्वा बहिःशुद्धः शुभाशयोऽन्तःशुद्धश्च पूजयतीति सदयस्य सन्तुष्टस्य विवेकिनो भावितात्मनः पूजायोग्यता सूचिता । तदेवं पूजायोग्यतायोगात्पूजामाह–भक्तित्यादिना । भक्तिश्रद्धानघुसृणोन्मिश्रपाटीरजद्रवैः–भक्तिरयमेवाराध्य इत्यनुरागात्मकाराध्यैकचित्तता तन्मिश्रं श्रद्धानमाराध्यविषयाऽऽस्तिक्यरुचिस्तदेव घुसृणं कुङ्कुमं तेनोन्मिश्रा उत्कटतया संस्कृताः पाटीरान्मलयजचन्दनाज्जाता इति ते तादृशाः पाटीरजद्रवाःपङ्काः, घृष्टश्रीखण्डपङ्कास्तैः कृत्वा, भक्ते र्घुसृणस्य च रागात्मकत्वाद्रूपणम्, श्रद्धानं च पाटीरजद्रव इव कर्मघर्मतापहरणसाधनं ज्ञानादिगुणसौरभप्रदं चेति रूपणं बोध्यम् । नवब्रह्माङ्गतः–नव नवसङ्ख्याकानि यानि ब्रह्मणो ब्रह्मचर्यस्योपलक्षणत्वात्तद्भेदरङ्गानि भेदा एवाङ्गानि तदर्पक्ष्येति यब्लोपे पञ्चम्यन्ताच्चसिः । ततो हेतोर्वा, शुद्धम्–निर्मलमविकलाङ्गं च, विकलाङ्गस्य पूजानिषेधादिति बोध्यम् । अनतिचरितब्रह्मचर्योज्ज्वलं सम्पूर्णं चेत्यर्थः । न विना ब्रह्मचर्यमात्मशुद्धिः प्रत्युत विकलाङ्ग एवाऽऽत्मेति भावः । अत एव, देवम्–दिव्यगुणसमग्रत्वात्कान्तिमन्तम्, आत्मानम्–चिदानन्दात्मकमात्मानम्, अर्चय–पूजय । आराधयेत्यर्थः । कुङ्कुमसंस्कृतचन्दनेन शुभाङ्गं भास्वज्जिनबिम्बादिकं हि जना पूजयन्तीति भावः । एवं हि पूजा भावपूजा भवतीति हृदयम् । दयार्द्रता सन्तोषिता विवेकिता भावशुद्धिर्भक्तिः श्रद्धा ब्रह्मचर्यं च नियागप्रतिपत्तिरिति गूढाकूतम् ॥ १ ॥ २ ॥

न केवलमनुलेपनेन पूजासम्पत्तिरिति शिष्यशङ्कामनुमाय पुष्पा-

दिनिवेदनमप्याह—

क्षमापुष्पस्रजं धर्मयुग्मक्षौमद्वयं तथा ।
ध्यानाऽऽभरणसारं च तदङ्गे विनिवेशय ॥ ३ ॥

क्षमेत्यादि । तदङ्गे—तस्य देवस्य शुद्धस्याऽऽत्मनोऽङ्गे प्रदेशेषु, आत्मनीत्यर्थः । अङ्गोक्तिः पुष्पस्रजाद्यर्पणनिर्वाहायेति ध्येयम् । क्षमापुष्पस्रजम्–क्षमा शक्तावप्यपराधसहनमक्रोधो वा सैवाऽऽत्मनः शोभाधायकत्वाद् गुणपरिमलविस्तारकत्वाच्च पुष्पैः कृता स्रक् माला ताम्, तथा, धर्मयुग्मक्षौमद्वयम्–धर्मयोरैहलौकिकपारलौकिकयो र्व्यावहारिकपारमार्थिकयो र्युग्मं द्वयं तेनैवाऽऽत्मनः सर्वथा वेष्टनीयत्वात्तदेव क्षौमयोः क्षुमाया विकारयोः क्षुमानिर्मितयोर्दुकूलयो र्द्वयं तत्, ध्यानाभरणसारम्–ध्यानं धर्मशुक्लरूपं तदेव दुष्प्राप्यत्वान्महार्घ्यत्वादाभरणानां स्वर्णमणिरत्नाद्यलङ्काराणां सारं प्रधानं तत्, चः समुच्चये, विनिवेशय–समर्पय । पूजायां पूज्यस्याङ्गे पुष्पस्रग्वस्त्रालङ्काराः समर्प्यन्ते, तथात्मनि क्षमाधर्मध्याननिवेशो भावपूजाऽऽत्मनो देवस्य । क्षमा धर्मरति र्ध्यानमग्नता च नियाग इति हृदयम् ॥ ३ ॥

शिष्यप्रबोधार्थमुपचारान्तरेणाऽपि पूजामाह—

मदस्थानभिदात्यागै र्लिखाऽग्रे चाऽष्टमङ्गलम् ।
ज्ञानाग्नौ शुभसङ्कल्पकाकतुण्डं च धूपय ॥ ४ ॥

मदस्थानेत्यादि । चः पुनरर्थे, आभरणादिनिवेदनानन्तरमित्यर्थः । मदस्थानभिदात्यागैः–मदो गर्वस्तस्य स्थानान्याश्रय-

भूतानि या भिदाः प्रकारा जातिकुलबलश्रुततपोवाल्लभ्यलाभास्तेषां त्यागाः परिहाराः, जात्यादिमदत्यागा इति यावत् । तैः कृत्वा, अग्रे–आत्मानमभिलक्ष्य, अष्टमङ्गलम्–अष्टानामष्टसङ्ख्याकानां मङ्गलानां स्थापनामङ्गलानां स्वस्तिकादीनां समाहारोऽष्टमङ्गलम्, अष्टमङ्गलेति प्रसिद्धमालेपनमित्यर्थः । पात्रादेराकृतिगणत्वात्पक्ष्म-पात्रादिवत्क्लीत्वाऽभावः । अष्टमङ्गलीमितिपाठस्त्वपपाठः । तत्र तत्र क्लीबस्यैव तस्य शिष्टानां व्यवहारविषयत्वात् । तीरभुक्त्यादिदेश-विशेषे विवाहपद्धत्यादौ अष्टमङ्गलपदस्यैव प्रयोगदर्शनाच्चेति बोध्यम् । लिख–रचय, अष्टमदत्यागो ह्यष्टमङ्गलरचना, तेनाऽऽत्मनो मङ्गलगुणाविर्भावादित्याशयः । ज्ञानाग्नौ–ज्ञानमेव सङ्कल्पदाह-कत्वादग्निस्तस्मिन्, शुभसङ्कल्पकाकतुण्डम्–शुभःशुभगुणविषय-त्वात्प्रशस्यो यः सङ्कल्पो मनोरथः स एव शुभात्मकसौरभाऽनु-गतत्वात्काकतुण्डं कालागुरुस्तत्, धूपय–दह, निर्विकल्पकसमाधि-लाभो यथास्यादितिभावः । मदं त्यक्त्वा ज्ञानेन सङ्कल्पमात्रं निरुणद्धि, ततश्चाऽऽत्मदेवस्य साक्षात्काररूपः प्रसादः प्राप्तो भवे-दिति मदत्यागः सङ्कल्पनिरोधश्च नियाग इति हृदयम् ॥ ४ ॥

अथ शिष्यजिज्ञासानिवृत्तये नीराजनाद्युपचारमप्याह—

प्राग्धर्मलवणोत्तारं धर्मसंन्यासवह्निना ।
कुर्वन् पूरय सामर्थ्यराजन्नीराजनाविधिम् ॥ ५ ॥

प्रागित्यादि । प्राक्–आदौ, नीराजनाविधेः पूर्वमित्यर्थः । द्रव्य-पूजायां तथैवाऽऽचारादिति बोध्यम् । धर्मसंन्यासवह्निना–धर्माणां

सरागावस्थाभाविनां पुत्रकलत्रादिममत्वाद्यात्मकानां क्षायोपशमिकानां च क्षमादीनामष्टमगुणस्थानके द्वितीयाऽपूर्वकरणे क्षायिभावप्राप्त्या संन्यासस्त्यागः । यदुक्तं प्राक्–" धर्मास्त्याज्याः सुसङ्गोत्थाः क्षायोपशमिका अपि । प्राप्य चन्दनगन्धाभं धर्मसंन्यासमुत्तममि "-ति । स एव सरागावस्थाभाविधर्मदाहकत्वाद्वह्निस्तेन कृत्वा, **धर्म-लवणोत्तारम्**–धर्मा ममत्वादयः क्षमादयश्च तान्, लवणोत्तारं लवणस्योत्तारणमुत्तारः, माङ्गलिकविधौ पूजादौ च लवणं करे कृत्वा मस्तकं परितो भ्रमयित्वा वह्नौ क्षिपन्तीत्याचारो लवणोत्तार इति प्रसिद्धः, लक्षणया लवणोत्तारस्थानीयमित्यर्थः । यद्वा धर्मा एव त्याज्यत्वसाधर्म्याल्लवणं तस्योत्तारं यथाविधि त्यागमित्यर्थः । प्राग्धर्मलवणोत्तारमित्येकपदपरतयाऽपि व्याख्यानम् । अत्र च पक्षे प्राञ्चः सरागावस्थाभाविनो ये धर्मा इत्येवं व्याख्यातव्यम् । **कुर्वन्**–विदधत्, आत्मदेवस्येति प्रस्तावाल्लभ्यते । उक्तलवणोत्तारपूर्वकमित्यर्थः । **सामर्थ्यराजन्नीराजनाविधिम्**–सामर्थ्यं सामर्थ्ययोगः क्षपकश्रेणिमारूढस्य प्रान्ते प्राप्यः परिणामविशेषोऽनुभावाऽष्टकोक्ताऽनुभवसाधनस्तेन कृत्वा राजन् दीप्यमानो यो नीराजनायाः कर्पूरदीपादिभिः सत्करणरूपाऽऽरात्रिकस्य विधिस्तम्, पूरय–कुरु । आत्मदेवस्य द्वितीयाऽपूर्वकरणजन्यधर्मसंन्यासो लवणोत्तारपूजा, सामर्थ्ययोगो नीराजनाविधिः, सर्वमेतच्च नियागाङ्गमिति तात्पर्यम् ॥ ५ ॥

अथ पूजाङ्गतया दीपादिदानमप्याह—

**स्फुरन्मङ्गलदीपं च स्थापयाऽनुभवं पुरः ।**
**योगनृत्यपरस्तौर्यत्रिकसंयमवान् भव ॥ ६ ॥**

स्फुरदित्यादि । पुरः-अग्रे, आत्मदेवस्येति प्रस्तावाल्लभ्यते । अनुभवम्-अनुभवाऽष्टकोक्तप्रकारेण वस्तुयथार्थस्वरूपावगमपरभावविरमणतदास्वादनैकत्वात्मकोऽनुभवः, केवलज्ञानद्वारा निश्चयेनाऽऽत्मप्रकाशकत्वाच्चद्रूपमित्यर्थः । स्फुरन्मङ्गलदीपम्-स्फुरन् प्रकाशमानो मङ्गलार्थो दीपो मङ्गलदीपस्तम्, स्थापय-निधेहि, चः समुच्चये । देवस्य पुरतो हि मङ्गलदीपः स्थाप्यते इति बोध्यम् । तथा-योगनृत्यपरः-योगः संयमयोगः स एवाऽऽनन्दमयात्मसाक्षात्कारप्रयोजकत्वाद् विविधदैहिकाऽत्मिकक्रियात्मकत्वाच्च नृत्यं तत्परः सन्, तौर्यत्रिकसंयमवान्-गीतं नृत्यं वाद्यं चेतित्रयं तौर्यत्रिकम्, "तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यमि"त्यमरः । एकत्र धारणाध्यानसमाधिश्च संयमः । "त्रयमेकत्र संयम" इत्युक्तेः । तौर्यत्रिकमेव सङ्ख्यासाम्यात्संयमस्तद्वान्, आत्मविषयकधारणाध्यानसमाधिमानित्यर्थः । भव-एधि । भावपूजायामनुभवो मङ्गलदीपो योगो नृत्यं संयमश्च तौर्यत्रिकमिति भावः । रूपकाऽलङ्कारः ॥ ६ ॥

सम्प्रति घण्टावादनेन पूजां समापयन् शिष्यहृदयावर्जनाय फलमाह—

उल्लसन्मनसः सत्यघण्टां वादयतस्तव ।
भावपूजारतस्येत्थं करक्रोडे महोदयः ॥ ७ ॥

उल्लसदित्यादि । वत्सेति सम्बोधनमर्थाल्लभ्यम् । इत्थम्-उक्तप्रकारेण, भावपूजारतस्य-भावआत्मस्वभावस्तद्रूपया सामग्र्या दयादिरूपया कृत्वा या पूजाऽऽत्मदेवसपर्या तत्र रतस्य तत्परस्य,

अत एव,उल्लसन्मनसः-उल्लसत् भावपूजायां सहर्षोत्साहं गच्छत् मनो यस्य तस्य तादृशस्य, सहर्षं सोत्साहं च भावपूजाप्रवृत्तस्य, तव-भावपूजाया विधातुं मे शिष्यस्य, उपलक्षणत्वादन्यस्य च तादृशस्य जनस्य भव्यस्य, सत्यघण्टाम्-सत्यं वस्तुनो यथार्थं स्वरूपं सत्यवचःप्रतिपाद्यं तदेव वादनसाधर्म्याद् प्रबोधोपयोगित्वाच्च घण्टा प्रसिद्धा ताम्, वादयतः-ध्वनयतः, सत्यमेव वदतः सत इति यावत्। करक्रोडे-करस्य हस्तस्य क्रोडे मध्ये, हस्तस्थवत्सुलभ इत्यर्थः। महोदयः-महान् सर्वोत्कृष्ट उदय आत्मौन्नत्यं यत्र स तादृशः, मोक्ष इत्यर्थः। अथवा मोक्षप्राप्त्यात्मिका महती उन्नतिस्ते करस्थेत्यर्थः। यथा घण्टावादनं विना न पूजासाकल्यम्, तथा सत्यं विना न भावपूजेति भक्त्याद्यात्मकचन्दनादिनिवेदनादारभ्यैव सत्याश्रयणं वादयत इति वर्तमानकृदन्तेन सूच्यते। स एवैष नियागो ज्ञानयज्ञो ब्रह्मयज्ञो वा मोक्षसाधक इति तात्पर्यम् ॥ ७ ॥

अथ शिष्यप्रबोधार्थं द्विविधपूजाया अधिकारिणं निरूपयन्नुपसंहरति—

द्रव्यपूजोचिता भेदोपासना गृहमेधिनाम्।
भावपूजा तु साधूनामभेदोपासनात्मिका ॥ ८ ॥

इति महामहोपाध्यायश्रीयशोविजयोपाध्यायविरचिते ज्ञानसारे पूजाऽष्टकं नामैकोनत्रिंशत्तममष्टकम् ॥ २९ ॥

द्रव्यपूजेत्यादि । भेदोपासना—भेदेन पूज्येऽर्हदादौ स्वस्माद्यो भेदस्तेन, लक्षणया भेदबुद्ध्येत्यर्थः । योपासनाऽऽराधना, तद्रूपेत्यर्थः । द्रव्यपूजा—द्रव्यैर्गन्धवस्त्रादिभिः कृत्वा पूजा सा, गृहमेधिनाम्—गृहा दारास्तै र्मेधन्ते सङ्गच्छन्त इत्येवंशीला गृहमेधिनो गृहस्था देशविरताद्यास्तेषाम्, तेषामेव पूज्ये भेदबुद्धिसम्भवादिति ध्येयम्, उचिता—योग्या, भेदबुद्धिशालिन आत्मधर्मभिन्नपदार्थैः पूजा भेदसाधर्म्याद्योग्येत्याशयः । यद्यपि मानसी भावपूजा गृहमेधिनामपि, अत एव द्रव्यपूजैवेत्येवकारो नोपात्तस्तथापि कार्त्स्न्यी भावपूजा न गृहमेधिनां सम्भवतीति ध्येयम् । तु भेदे । तदाह—भावपूजेत्यादि । अभेदोपासनात्मिका—अभेदेन पूज्ये स्वाऽभेदबुद्ध्या योपासना तदात्मिका तद्रूपा, भावपूजा—भाव आत्मधर्मस्तेन कृत्वा पूजोक्तप्रकारा, साधूनाम्—उचितेति सम्बध्यते । अभेदबुद्धेस्तेषामेव सम्भवाद्द्रव्यसङ्ग्रहाऽयोगादिति बोध्यम् ॥ ८ ॥

इति ज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृकविरत्नपन्यासप्रवरश्रीयशोभद्र-

विजयगणिवरशिष्यपन्यासश्रीशुभङ्करविजयगणिविरचितायां
भद्रङ्करोदयाख्यायां व्याख्यायां पूजाऽष्टकं नामैकोन-
त्रिंशत्तममष्टकम् ॥ २५ ॥

## ॥ ध्यानाऽष्टकम् ॥

अथ निषागाङ्गतया ध्यानाऽष्टकं विवक्षुरादौ शिष्यहृदयाबर्जनाय सर्वविशुद्धस्य समापत्त्यात्मकस्य ध्यानस्य फलमाह—

ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं त्रयं यस्यैकतां गतम् ।
मुनेरनन्यचित्तस्य तस्य दुःखं न विद्यते ॥ १ ॥

ध्यातेत्यादि । यस्य—यादृशस्योक्तभावपूजाप्तविशिष्टात्मवीर्यसम्पन्नस्य मुनेः, ध्याता—ध्यानप्रवृत्त आत्मा, ध्येयम्—ध्यानविषयोऽर्हदादिः, तथा—पुनः, ध्यानम्—आत्मनो ध्येयविषयकः स्थिरोपयोगः, त्रयम्—उक्तं ध्यातृध्येयध्यानत्रिकम्, एकताम्—एकस्याऽभिन्नस्य भावस्तामैकाट्र्यम्, तादात्म्यमित्यर्थः । अहं ध्यातेमं ध्यायामीति विकल्पाभावादात्मनो दीपस्य प्रकाश्यप्रकाशकप्रकाशात्मकत्वात्स्वरूपमात्राऽवस्थानमिति यावत् । ध्येये भेदबुद्धेर्निरासादात्ममात्रावभासेनाऽभेदमिति निष्कर्षः । गतम्—प्राप्तम् । तदवस्थायां ह्यात्ममात्रमवभासत इत्यात्मैव ध्याता ध्येयं क्रिया क्रियावतोरभेदाद् ध्यानं चेति बोध्यम् । तस्य—तादृशस्य निर्विकल्पात्मनः, अत एव, अनन्यचित्तस्य—नास्त्यन्यस्मिंश्चित्तं चित्तवृत्तिर्यस्य तस्य तादृशस्य, ध्येयेऽप्यभेदादात्ममात्रविश्रान्तचित्तवृत्तेरित्यर्थः । मुनेः—भावितात्मनः साधोः, दुःखम्—भवनिमित्तः क्लेशः, न विद्यते—न भवति । यदुक्तम्—" तत्र कः शोकः को मोह एकत्वमनुपश्यत " इति " भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे " इति च । तादृशी

वस्थाऽऽत्मसाक्षात्कारात्मिकेति तत्राऽखण्डानन्दानुभव एव न तु दुःखावसरः, दुःखहेतो र्मनोव्यापारस्य निरोधादित्याकूतम् ॥ १ ॥

साम्प्रति शिष्यजिज्ञासा निवृत्तये ध्यात्रादीन् विवृण्वन्नेकतां निरूपयति—

ध्याताऽन्तरात्मा ध्येयस्तु परमात्मा प्रकीर्तितः ।
ध्यानं चैकाग्र्यसंवित्तिः समापत्तिस्तदेकता ॥ २ ॥

ध्यातान्तरात्मेत्यादि । अन्तरात्मा—अन्तः शरीरान्तःस्थाऽऽत्मगुणाभिसमग्रोऽन्तर्मुखप्रवृत्तिक आत्मा, सम्यग्ज्ञानादिगुणवानात्मेत्यर्थः । ध्याता—ध्यानव्यापाराश्रयः, ध्यातेत्येवमित्यर्थः । प्रकीर्तितः—प्रकर्षेणेतरध्यातृभ्यः प्रशस्यरूपेण प्राधान्येन च कीर्तितो गीतः । निश्चयतोऽन्तरात्मैव ध्याता, अन्यस्तु ध्यातृगुणाऽपकर्षाद् व्यवहारत एव ध्यातेति स न ध्याताऽप्रशस्यत्वात् । यद्वक्ष्यतीहैव—"कष्टमात्रं त्वभव्यानामपि नो दुर्लभं भवे" इति बोध्यम् । तुः पुनरर्थे, पुनः, परमात्मा—परमः पारमार्थिकगुणसमग्रत्वात्सर्वोत्कृष्ट आत्मा सिद्धिप्राप्तः क्षीणघातिकर्मा वाऽऽत्मा, ध्येयः—ध्यातुं योग्यः, प्रकीर्तितः । तद्भिन्नस्य ध्येयस्याऽपकृष्टगुणत्वेनेष्टाऽसाधकत्वेन हेयत्वात्परमात्मैव ध्येयः प्रकीर्तित इत्याशयः । एकाग्र्यसंवित्तिः—एकमेवाग्रमुपलक्षणत्वादग्रस्थवद्विजातीयज्ञानाऽव्यवधानेन मुहुर्मुहुर्विषयो यस्यां सैकाग्र्या तुल्यविषया संवित्ति र्ज्ञानम्, विजातीयज्ञानानन्तरिता सजातीयज्ञानधारेत्यर्थः । ध्यानम्—ध्यानध्वनिविषयः । चः समुच्चये । तदेकता—तेषां ध्यात्रादीनां त्रयाणा-

मेकताऽभेदेनाऽवभासः, समापत्तिः—समापत्तिशब्दविषयः, प्रकीर्तितेति लिङ्गव्यत्ययेनान्वयः। नैतत्स्वमनीषिका, किन्तु तज्ज्ञैरेवं प्रकीर्तित इति प्रामाणिकत्वसूचनाय प्रोपसर्गः। यदुक्तम्—"ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं त्रयमेकात्मतां गतम्। इति ते योगमाहात्म्यं कथं श्रद्धीयतां परैरि"ति ॥ २ ॥

अथ शिष्यप्रबोधार्थं समापत्तेः स्वरूपं लाभप्रकारं चाह—

मणाविव प्रतिच्छाया समापत्तिः परात्मनः।
क्षीणवृत्तौ भवेद् ध्यानादन्तरात्मनि निर्मले ॥ ३ ॥

मणाविवेत्यादि। क्षीणवृत्तौ-क्षीणा संस्कारादिनाऽपगता वृत्तिर्मृदादिदूषितपदार्थवर्त्तनं यत स्तस्मिन्, अनुपहते दोषजनकमृदादिसंसर्गरहिते चेत्यर्थः। अत एव, निर्मले—प्रसन्ने, स्वच्छ इत्यर्थः। एतेनाऽपि प्रतिच्छायाग्रहणयोग्यता सूचिता। असंस्कृते मणौ दोषात्प्रतिच्छायाया अपि विकलत्वादिति बोध्यम्। मणौ—स्फटिकादौ मणिपदवाच्ये, प्रतिच्छाया—सन्निहितपदार्थस्य प्रतिबिम्बम्, तद्वर्णाद्युपरागश्च, सेव, ध्यानात्—एकाग्रसंवित्ते र्हेतोः, क्षीणवृत्तौ—क्षीणा नष्टा वृत्तिर्ध्येयादितरत्र मनोव्यापारो यस्य तादृशे, निर्विकल्प इत्यर्थः। अत एव, निर्मले—शुद्धे, विकल्पमलरहितत्वात्स्वस्वभावस्थे, अन्तरात्मनि—सम्यग्ज्ञानादिसम्पन्ने आत्मनि, परात्मनः—परः परमो य आत्मा तस्य परमात्मनः सिद्धिगतस्य क्षीणघातिकर्मणो वा जिनादेः, प्रतिच्छाया—अतिसन्निहितत्वात्तद्रूपाऽध्यारोपमूलस्तदभेदप्रतिभासः, समापत्तिः—सम्यगभेदप्रकारेः

णाऽऽपत्तिरारोपः, समापत्तिरित्येवमुच्यत इति यावत्। परमात्मन-स्तद्गुणानां च निजात्मनि तादात्म्येन सन्निधानबलादवभासः समा-पत्तिः। सा च ध्यानान्निश्चले निर्मले चाऽऽत्मनि भवतीत्याशयः। यदुक्तम्-"मणेरिवाऽभिजातस्य क्षीणवृत्ते रसंशयम्। तात्स्थ्या-त्तदञ्जनत्वाच्च समापत्तिः प्रकीर्तिते"ति ॥ ३ ॥

अथ शिष्यजिज्ञासानिवृत्तये समापत्तेः फलमाह—

आपत्तिश्च ततः पुण्यतीर्थकृत्कर्मबन्धतः।
तद्भावाऽभिमुखत्वेन संपत्तिश्च क्रमाद् भवेत् ॥ ४ ॥

आपत्तिश्चेत्यादि। ततः-उक्तरूपायाः समापत्ते र्हेतोः, पुण्यतीर्थकृतकर्मबन्धतः-पुण्यं शुभानुबन्धितया पुण्यप्रकृतिकं यत्तीर्थंतरन्त्यनेनेति चतुर्विधसङ्घं करोतीति प्रवर्त्तयतीति स तस्य तीर्थकृतस्तत्फलत्वात्तत्सम्बन्धि कर्म तस्य बन्ध आत्मप्रदेशेषु श्लेषस्तदपेक्ष्येति यब्लोपे पञ्चमी। यद्वा पुण्यतीर्थं धर्मचक्रं करोति प्रवर्त्तयतीति स तीर्थङ्करेतिप्रसिद्धस्तस्येत्येवं व्याख्येयम्। आपत्तिः-आपत्त्याख्यं फलम्। ध्यानलभ्यसमापत्ते रापत्त्याख्य-पुण्यतीर्थकृन्नामकर्मबन्धरूपं प्रथमं फलमिति यावत्। क्रमात्-अनन्तरम्, तद्भावाभिमुखत्वेन-तस्य तीर्थकृतो यो भावोऽति-शयादिस्तदभिमुखत्वेन सान्निध्येन, संपत्तिः-असाधारणाऽलौकिक-समृद्धिरूपं संपत्त्याख्यं फलम्, भवेत्-जायेत। च द्वयं समुच्चये। तीर्थकृन्नामकर्मण्युदिते दुर्लभतीर्थकृदतिशयलाभात्मकतीर्थकृत्व-माप्यत इति भावः। एवञ्चाऽऽपत्तिसंपत्तिफलत्वादेव तादृशध्यानस्य

समापत्तिरित्यारूयेति हृदयम्। ईदृशाऽलौकिकदुर्लभाऽसाधारणफललाभाय समापत्तिः सर्वप्रयासेन साधनीयेति दुर्गानुधावि तात्पर्यम्। ध्यानात्समापत्तिस्ततस्तीर्थकृन्नामकर्मोपार्जनम्, अनन्तरं च जन्मान्तरे तदुदये तीर्थकृत्त्वमित्यभिव्यक्तः सारांशः ॥ ४ ॥

ननु विंशतिस्थानकफलं तीर्थङ्करनामकर्मेत्यागमप्रसिद्धम्। भवता च समापत्तिफलं तदुच्यते इति विप्रतिपत्तिरिति विप्रतिपन्नं शिष्यं प्रबोधयन्नाह—

इत्थं ध्यानफलाद् युक्तं विंशतिस्थानकाद्यपि।
कष्टमात्रं त्वभव्यानामपि नो दुर्लभं भवे ॥ ५ ॥

इत्थमित्यादि। इत्थम्–उक्तप्रकारेण, ध्यानफलात्–ध्यानस्योक्तलक्षणस्यैकाग्र्यसंवित्तेर्यत्फलं समापत्त्यापत्तिसंपत्तिरूपं तत्सद्भावाद्धेतोरित्यर्थः। यतो ध्यानस्योक्तं फलमत इति यावत्। विंशतिस्थानकाद्यपि–विंशतिभिः सङ्ख्याभिः सङ्ख्येयानि अर्हत्पूजादिपदरूपाणि, आदिना तादृशतपोऽन्तरपरिग्रहः तानि यत्र तादृशतपोऽपि, अपिना विंशतिस्थानकानां तीर्थकृन्नामकर्महेतुत्वेन प्रख्यातत्वं सूच्यते। युक्तम्–तीर्थकृन्नामकर्महेतुत्वेन घटमानकम्। नाऽन्यथा, विंशतिस्थानकै र्हि सेवितै र्ध्यानं विशुध्यति, ततश्चोक्तं फलम्। एवं च यदि ध्यानस्योक्तं फलं न स्यात्तदा विंशतिस्थानकानि न तादृशफलवन्ति स्युः, ध्यानस्यैव बन्धे साक्षाद् हेतुत्वात्। तादृशध्यानफलाभावे हि तानि सेवितानि कष्टमात्रम्, तदाह–कष्टमात्रमिति। तु विशेषे। कष्टमात्रम्–कष्टमेव कष्टमात्रम्।

ध्यानवर्जितं तपो न फलदमिति शरीरपीडामात्रफलमिति ध्यानविहीनं कष्टात्मकं तप इत्यर्थः। यदुक्तम्—"ध्यानविहीनं सर्वमनेन मुक्ति र्न भवति जन्मशतेने"ति। अभव्यानाम्—न भव्या मुक्तियोग्या अभव्यास्तेषामपि, अपिना बाहुल्येन तपःपरायणानां भव्यानां तु तल्लभ्यमेवेति सूच्यते। भवे—इह संसारे, नो—नैव, दुर्लभम्—दुःसाध्यम्। यदि हि ध्यानविहीनेन तादृशतपोमात्रेण कृतार्थता स्यात्तदाऽभव्यानामपि तादृशतपसो भावात्तेषामपि तीर्थकृन्नामकर्मबन्धद्वारा तीर्थकृत्त्वं मुक्तिश्च स्यात्। एवं च जीवस्य भव्याभव्यविभागो व्याहत एव स्यादिति ध्यानसहितेनैव तादृशतपसा कृतार्थतेति श्रुताशयः। तादृशतपश्च भव्यानामेव नाभव्यानाम्। तेषामभव्यत्वपरिणामवशात्तथाविधध्यानानुगुणाऽऽत्मवीर्याऽभावात्। एष एव भव्याऽभव्ययोर्विशेषः। ततश्च यथा दण्डस्य भ्रमेश्च फलं घटः, तथा विंशतिस्थानकदेर्ध्यानस्य च फलमापत्तिसम्पत्ती इति न विप्रतिपत्त्यवसरलेशोऽपीति तात्पर्यम्॥ ५॥

शिष्यप्रतिबोधायेदृशध्यानानुगुणगुणविवरणपूर्वकं त्रिभिःश्लोकैर्ध्यानिनं स्तुवन्नुपसंहरति—

जितेन्द्रियस्य धीरस्य प्रशान्तस्य स्थिरात्मनः।
सुखासनस्य नासाग्रन्यस्तनेत्रस्य योगिनः॥ ६॥

रुद्धबाह्यमनोवृत्ते र्धारणाधारया रयात्।
प्रसन्नस्याऽप्रमत्तस्य चिदानन्दसुधालिहः॥ ७॥

साम्राज्यमप्रतिद्वन्द्वमन्तरेव वितन्वतः ।
ध्यानिनो नोपमा लोके सदेवमनुजेऽपि हि ॥ ८ ॥

इति महामहोपाध्याय श्रीमद्यशोविजयोपाध्यायविरचिते ज्ञानसारे ध्यानाऽष्टकं नाम त्रिंशत्तममष्टकम् ॥ ३० ॥

जितेन्द्रियस्येत्यादि । जितेन्द्रियस्य-जितानि वशीकृतानि अनिष्टप्रवृत्तिनिरोधपूर्वकेष्टप्रवृत्तिमन्ति कृतानि न तु सर्वथा निरुद्धानि इन्द्रियाणि चक्षुरादीनीन्द्रियपदवाच्यानि येन स तादृशस्तस्य, दान्तस्येत्यर्थः । अवशेन्द्रियस्य हि न ध्यानलाभः । यदुक्तम्- "इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मन" इति, "इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते । तदस्य हरति प्रज्ञां वायु र्नावमिवाऽम्भसी"ति च । तथा, धीरस्य-धैर्यशालिनः, उपसर्गादौ ध्यानविघ्ने सत्यप्यप्रचलितस्येत्यर्थः । जितेन्द्रियस्याऽप्युपसर्गाद्यसहिष्णुत्वे ध्यानालाभादिति भावः । तथा, प्रशान्तस्य-निरुद्धतृष्णस्य, तृष्णायां हि सत्यां धीरस्याऽपि मनश्चाञ्चल्याद् ध्यानभङ्गापत्तेरिति तृष्णानिरोध एव विशुद्धध्यानलाभः । यदुक्तम्- "सङ्कल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वान शेषतः । मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया । आत्मसंस्थं मनःकृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् । ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् । उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषमि"ति । धीरप्रशान्तस्य नवमरसविभावलक्षणलक्षि

तस्येति मिलितार्थः । तथा, स्थिरात्मनः-स्थिर एकत्र दृढबद्ध-लक्ष्य आत्मोपलक्षणत्वान्मनोऽव्यापारो यस्य तस्य तादृशस्य, उक्त-ध्यानसाधनकृतनिश्चयस्य तादृशध्यानसाधने उद्वेगशून्यस्य चेत्यर्थः । यो ह्यल्पकष्टतोऽप्युद्विजत्यनिश्चयात्मा च न तस्य ध्यानलाभः, प्रत्युतोद्वेगाद् ध्यानभङ्ग एवेति भावः । तदेवमाभ्यन्तरगुणानुक्त्वा बहिर्गुणानाह-सुखासनस्येत्यादिना । सुखासनस्य-सुखं सुखकरं ध्यानाऽनुगुणमासनं कुशकम्बलाद्यात्मकं पर्यङ्कासनादिकं च ख्यातं यस्य तादृशस्तस्य । आसनस्य कष्टप्रदत्वे ध्यानभङ्गसम्भवादिति भावः । यदुक्तम्-"शुचौदेशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः । नाऽत्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् । तत्रैकाग्रं मनःकृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः । उपाविश्याऽऽसने युञ्ज्याद् योगात्मविशुद्धये" इति । ध्यानाऽनुगुणशरीरस्थितिमाह-नासेत्यादि । नासाग्रन्यस्त-नेत्रस्य-नासाग्रे नासिकाया अग्रभागे न्यस्ते स्थिरिकृते नेत्रे येन तस्य तादृशस्य, दिग्विलोकनेन ध्यानभङ्गो मा प्रसाङ्क्षीदितिकेवलं नासाग्रमवलोकमानस्येत्यर्थः यदुक्तम्-"समं कायशिरोग्रीवं धारयन्न-चलं शिरः । सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिश श्चाऽनवलोकयन्नि"ति । योगिनः-योगाष्टकोक्तप्रकारेण वर्णादियोगवतः, योगं विना मनोवृत्तिनिरोधासम्भवादिति भावः । तथा, धारणाधारया-धारणा लक्ष्ये मनसः स्थिरबद्धता, तस्या धारया सदृशाऽपरापरपरिणाम-प्रवाहतः, रयात्-जवात्, "रयः स्यदः । जव" इत्यमरः । तादृशधारावेगादितिहृदयम् । रुद्धबाह्यमनोवृत्तेः-रुद्धा यता बाह्या-ऽनात्मविषया मनोवृत्तिश्चित्तप्रवृत्तिर्येन तस्य तादृशस्य, बहिर्विषय-

विमुखमनस इत्यर्थः। धारणारयस्य मन्दत्वे मनसो बलवत्त्वाद्बहिर्विषयवृत्तिः सम्भाव्यत इति धारणाधारा वेगवतीष्टेति बोध्यम्। प्रसन्नस्य-साध्यसाधनोत्साहसद्भावात्कायादिक्लेशाऽननुभवाद्विकसितचेतसः। न हि खिलेन दुर्लभं लभ्यमिति भावः। अप्रमत्तस्य-कर्त्तव्येऽतीचारो मा प्रसाङ्क्षीदिति प्रमादरहितस्य, सततं कर्त्तव्यविषयोपयोगवत इत्यर्थः। प्रमत्तस्य ह्यविध्यनुषङ्गात्क्रिया विशीर्यत इति भावः। ध्यानसहचरोक्तसकलविशेषणफलमाह-विशेषणमुखेन-चिदित्यादि। चिदानन्दसुधालिहः-चिद्विशुद्धमात्मस्वभावभूतं चैतन्यं च आनन्दस्तादृशचित्सहचरोऽखण्डानन्दश्च तावेवाऽलौकिकतृप्तिप्रदत्वात्सुधाऽमृतं तल्लेढीति तस्य, विशुद्धचिन्मग्नस्य तादृशचिताऽऽत्मस्वभावात्मकानन्दमनुभवितुश्चेत्यर्थः। यदुक्तम्-"प्रशान्तात्मा विगतभी ब्रह्मचारिव्रते स्थितः। मनः संयम्य मच्चितो युक्त आसीत मत्पर" इति। ईदृश आत्माराम एव स्यादित्यत आह-साम्राज्यमित्यादिना। अन्तः-आत्मन्येव, एवकारेण बहिः-साम्राज्यव्यवच्छेदः। तस्य सप्रतिद्वन्द्वत्वादिति बोध्यम्। अप्रतिद्वन्द्वम्-अविद्यमानः द्वन्द्वो वैरभावो यत्र तादृशम्, एकच्छत्रमित्यर्थः। विशुद्धमिति यावत्। साम्राज्यम्-आत्मस्वभावात्मकराज्यचक्रित्वम्, अनुभवान्तरानन्तरितात्मस्वभावानुभवमित्यर्थः। वितन्वतः-कुर्वतः, आत्ममग्नस्येति समुदायनिष्कर्षः। यद्वा-अन्तः-मनस्येव, अप्रतिद्वन्द्वम्-रागद्वेषादिद्वन्द्ववर्जितं विषयान्तरध्यानानन्तरितं वा, साम्राज्यम्-ध्यातृध्येयध्यानैकतात्मकराज्यचक्रित्वम्, तादृशध्यानमग्नताम्, वितन्वतः-साधयतः इत्यर्थः।

ध्यानिनः-उक्तप्रकारध्यानशीलस्योक्तगुणविशिष्टस्य योगिनो ध्यातुः। सदेवमनुजे-देवैर्मनुजैश्च सहवर्त्तत इति स देवलोको मर्त्यलोकश्च तस्मिन्, अपिना दुःखात्मके नारकादौ तु कथैव केति सूच्यते। हि-निश्चयेन, उपमा-सादृश्यम्, न-नैव, अस्तीति शेषः। उक्तगुणविशिष्टो ध्याताऽनुपम इति सर्वोत्कृष्ट इत्याशयः। ततस्तादृशध्यानसम्पन्नो नियागप्रतिपत्तिमानिति तात्पर्यम्। अत्र चोक्तगुणविशिष्ट एव ध्यातोक्तध्यानवानित्यपि सूच्यते ॥६॥७॥८॥

इति ज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृ-कविरत्नपन्यासप्रवर-श्रीयशोभद्रविजयगणिवरशिष्यपन्यासप्रवरश्रीशुभङ्करविजयगणिविरचितायां भद्रङ्करोदयाख्यायां व्याख्यायां ध्यानाऽष्टकं नाम त्रिंशत्तमाऽष्टकम् ॥ ३० ॥

---

## ॥ तपोऽष्टकम् ॥

अथ नियागाऽङ्गतया ध्यानसहकारितया च शिष्यप्रबोधाय तपोऽष्टकं विवक्षुरादौ तपो निर्वक्ति—

ज्ञानमेव बुधाः प्राहुः कर्मणां तापनात्तपः।
तदभ्यन्तरमेवेष्टं बाह्यं तदुपबृंहकम् ॥ १ ॥

ज्ञानमेवेत्यादि। बुधाः-तपोरहस्यज्ञा मुनयः, ज्ञानम्-सम्यग्ज्ञानमेव, कर्मणाम्-ज्ञानावरणादीनामष्टविधानां कर्मणाम्, तापनात्-दहनात्, नाशनादित्यर्थः। परिशाटनान्निर्जराणाद्वेति यावत्। तपः-तपःपदवाच्यम्, प्राहुः-प्रकर्षेण प्रतिपादयन्ति, यद्धि कर्म-

तापयति तत्तपः, तच्च ज्ञानमेव । यदुक्तम्-"ज्ञानाऽग्निः सर्व-कर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन" इति । तस्माज्ज्ञानमेव तपः । एवकारेण सकामस्य लोकव्यवहारानुरोधेन च कृतस्य तपसो व्यवच्छेदः, तस्य कषायोदयप्रयोज्यत्वादास्रवरूपतया कर्मबन्ध-प्रयोजकत्वात् । तत्र हि तपोव्यवहारोऽनशनाद्यात्मकतयोपचारत एव । निश्चयतस्तु कर्मतापनरूपस्य तपःपदप्रवृत्तिनिमित्तस्य तत्राऽभावान्न तत्तप इति बोध्यम् । तत्तपश्चाऽऽभ्यन्तरं बाह्यं चेति द्विविधम्, तत्र किंतपो ज्ञानात्मकमिति शिष्याजिज्ञासानिवृत्तये आह-तदित्यादि । तत्-ज्ञानात्मकं तपः, आभ्यन्तरम्-अन्तरन्तः-करणमात्मानं वाऽभिलक्ष्य भवतीत्याभ्यन्तरं स्वाध्यायध्यानप्राय-श्चित्तादिरूपं भावात्मकमेव । एवकारेण बाह्यव्यवच्छेदः, तस्य क्रियारूपत्वाद्भावतपोहेतुत्वाच्च द्रव्यरूपत्वाच्च । भावस्य हेतुर्हि द्रव्य-मिति बोध्यम् । इष्टम्-मतम् । तस्यैव साक्षात्कर्मतापकत्वादिति भावः । ननु तर्ह्यलंबाह्येन तपसेति चेन्न । तदाह-बाह्यम्-बहिर्ल-क्ष्यत्वाद्बहिर्भवं शरीरादिकष्टात्मकमनशनादिरूपं द्रव्यात्मकं तपः, तदुपबृंहकम्-तस्य ज्ञानात्मकस्याऽऽभ्यन्तरस्य तपस उपबृंहकं पोषकम् । एवं भावतपस उपबृंहकतया बाह्यतपोऽपि कारणे कार्यो-पचारात्तपः । तदनुपबृंहकत्वे तु कष्टमात्रं कर्मतापनाऽनुपयोगित्वा-दित्याशयः ॥ १ ॥

ननु किमिति स्वकचन्दनाङ्गनाद्युपभोगसुखं विहाय कष्टात्मकं तपोऽनुष्ठेयमिति शिष्यशङ्कां समाधित्सुराह—

आनुस्रोतसिकी वृत्ति र्बालानां सुखशीलता ।
प्रातिस्रोतसिकी वृत्ति र्ज्ञानिनां परमं तपः ॥ २ ॥

आनुस्रोतसिकीत्यादि । आनुस्रोतसिकी-स्रोतांसीन्द्रियाण्यनुलक्ष्याऽनुस्रोत इन्द्रियाऽनुकूलता, तत्प्रयोजनमस्येत्यानुस्रोतसिकी, इन्द्रियानुकूल्येनेत्यर्थः । वृत्तिः-प्रवृत्तिः, स्वच्छन्दनाञ्जनाद्युपभोग इति यावत् । बालानाम्-बाला यथेन्द्रियानुकूलप्रवृत्त्या सुखं यान्ति, तादृशत्वाद्बाला इव बाला अज्ञानिनस्तेषाम्, अनात्मज्ञानामित्यर्थः, सुखशीलता-सुखं शीलयन्त्यभ्यस्यन्ति, मन्यन्त इत्यर्थः, तादृशाः सुखशीलास्तद्भावस्तत्ता सुखमानित्वम्, सुखाभिमान इत्यर्थः । इन्द्रियानुकूलप्रवृत्तौ बालाः सुखं मन्यन्ते, न तु तत्र वस्तुतः सुखम्, क्लेशानुविद्धत्वात्क्लेशपरम्पराहेतुत्वाच्चेति भावः । ननु तर्हि ज्ञानिनां किमित्यपेक्षायामाह-प्रातिस्रोतसिकी-इन्द्रियप्रातिकूल्येनेत्यर्थः, वृत्तिः-प्रवृत्तिः, अनशनादिविषयत्यागादिस्वाध्यायध्यानप्रायश्चित्ताद्यनुष्ठानम्, लक्षणया तद्रूपमित्यर्थः । नन्वनशनादिकमिन्द्रियसुखावहमिति बोध्यम् । परमम्-कामनारहितत्वेन कषायादिनाशकत्वेनोत्कृष्टम्, तपः-तपश्चरणम्, ज्ञानिनाम्-सम्यग्ज्ञानवताम्, सुखशीलतेति सम्बध्यते । ज्ञानिनस्तप एव सुखं मन्यन्ते, तस्य शाश्वताऽखण्डसुखहेतुत्वात्तत्र सम्भवत्कष्टमपि न गणयन्ति लौकिकसुखनान्तरीयककष्टं बालानामिवेति भावः ॥ २ ॥

ननु तपः कष्टं दुष्करमिति सर्वजनप्रतीतम् । तत्र कथंकस्यापि सुखमिति शिष्यशङ्कां निरस्यन्नाह—

धनार्थिनां यथा नास्ति शीताऽऽतपादि दुःसहम् ।
तथा भवविरक्तानां तत्त्वज्ञानार्थिनामपि ॥ ३ ॥

धनार्थिनामित्यादि । यथा–येन प्रकारेण, धनार्थिनाम्–धनेन स्वर्णरत्नाद्यात्मकेन वित्तेन, धनाभिन्न इत्यर्थः, अभेदे तृतीया । अर्थः प्रयोजनं धनार्थः, सोऽस्त्येषामिति ते तादृशास्तेषां धनार्जन-प्रवृत्तिमताम्, शीतातपादि–शीतं शैत्याधिक्यजनकहिमवातादि-कम्, आतपो घर्मतापाद्याधिक्यजनको रविकरादिः, आदिना क्षुत्तृ-ष्णादयः, तदेतत्सर्वम्, यदन्येषां दुःसहं तदपीत्यर्थः । दुःसहम्–दुःखेन सह्यते मृष्यते इति तादृशम्, कष्टाधिक्यकरमित्यर्थः । नास्ति–न भवति, यथाधनार्थिनो धनार्जने नान्तरीयकतया शीता-तपादिकमन्येषां दुःसहमपि सुखं सहन्ते, लाभाधिक्यात् शीता-तपादिकष्टं कष्टं न गणयन्तीत्यर्थः । तथा–तेन प्रकारेण, भववि-रक्तानाम्–भवात्संसाराद् दुःसहदुःखनिमित्तत्वेनाऽसारत्वबुद्ध्या । विरक्तानां विप्रीतोद्विग्ननिर्विण्णचित्तानाम्, अत एव तदुच्छेदा-र्थम्, तत्त्वज्ञानार्थिनाम्–तत्त्वं पारमार्थिकमात्मस्वरूपं तस्य ज्ञानं साक्षत्कारस्तेनाऽर्थः प्रयोजनमस्त्येषां तेषां तत्त्वज्ञानाय कृतप्रया-सानाम्, अपिना धनादिलौकिकलाभे यदि शीतातपादि न दुःसहं तर्हि तत्त्वज्ञानात्मकसुदुर्लभाऽलौकिकलाभे तन्न दुःसहमिति किमु वक्तव्यमिति सूच्यते । शीतातपक्षुत्तृडनशनादिसहनात्मकं तपो दुःसहं नास्तीति सम्बन्धनीयम् । फले द्वेषाद्धेयुपाये द्वेषः । तुल्य-युक्त्या फलेऽनुरागात्तदुपाये उत्सर्गतोऽनभिमतेऽपि न द्वेष इति दुःखबुद्ध्यभाव एव सुखं तपसीत्याशयः ॥ ३ ॥

ननु तपो दुःसहं न भवतु । न च तावता तत्र सुखं भवतीति सिद्ध्यति । एवं च तपः सुखमित्युक्ति र्न सङ्गच्छत एवेति शिष्य-तर्कं विघटयन्नाह—

सदुपायप्रवृत्तानामुपेयमधुरत्वतः
ज्ञानिनां नित्यमानन्दवृद्धिरेव तपस्विनाम् ॥ ४ ॥

सदुपायेत्यादि । सदुपायप्रवृत्तानाम्—सन् इष्टसाधको बल-वदनिष्टाननुबन्धी कृतिसाध्यश्च य उपाय उपेयसाधनं तपःसंयमा-दिदशविधमुनिधर्मस्तत्र प्रवृत्तानां तत्पराणाम्, ज्ञानिनाम्—अनेनो-पायेनेष्टोपेयसिद्धिरित्येवं सम्यग्ज्ञानवताम्, शुभफलकशुभानुष्ठान-परायणानामिदमत्र नान्तरीयकं दुःखमित्येवं ज्ञानसम्पन्नानामित्या-शयः । अतएव, तपस्विनाम्—तपःप्रायश्चित्तादिकमाभ्यन्तरमनश-नादिकं बाह्यं च कष्टात्मकमस्त्येषामिति तेषां तपसा फलसिद्धिरिति ज्ञात्वा तपःपरायणानां मुनीनाम्, उपेयमधुरत्वतः—उपेयस्य प्राप्यस्य मोक्षस्य मधुरत्वतः सुखातिशयात्मकत्वाद्धेतोः, नित्यम्—सर्वदा सर्वत्र च तपसि, आनन्दवृद्धिः—आनन्दस्याऽऽत्मसुखानु-भवस्य वृद्धिरुत्कर्ष एव, एवकारेण न तु कदापि दुःखानुभव इति लभ्यते । उपेयस्येष्टतमत्वादुपायोऽपीष्टतम एव नान्तरीयकत्वा-दुत्कृष्टलाभोत्साहाच्चेत्युपायस्य दुःखात्मकत्वेऽपि तत्र सुखमेव । नहीष्टं दुःखनिमित्तमिति कष्टात्मकस्याऽपि सुखहेतुत्वं प्रयोजनव-शात्कामिनां मानिनीपादप्रहारवदिति भावः ॥ ४ ॥

उक्तप्रकारेण तपसः सुखरूपत्वमुपपाद्य शिष्यमतिदार्ढ्याय बौद्धान्निर्भर्त्सयन्नाह—

इत्थं च दुःखरूपत्वात्तपो व्यर्थमितीच्छताम् ।
बौद्धानां निहता बुद्धि र्बौद्धानन्दाऽपरिक्षयात् ॥ ५ ॥

इत्थमित्यादि । इत्थम्—उक्तोपपत्त्योपेयमधुरत्वत आनन्दवृद्धिप्रकारेण च, चोऽन्वाचये । बौद्धानन्दाऽपरिक्षयात्—बौद्धस्य बुद्धिविषयस्य, आन्तरिकस्येत्यर्थः । आनन्दस्य सुखानुभवस्याऽपरिक्षयादुपेयमधुरत्वतो हेतोरनिवृत्तेः प्रत्युत वृद्धेश्च हेतोः, दुःखरूपत्वात्—दुःखं शरीरादिकष्टं रूपं स्वभावो यस्य तस्य भावस्तत्त्वं ततः, दुःखानुभवात्मकत्वाद्धेतोरित्यर्थः । तपः—अनशनाद्यात्मकं तपः, व्यर्थम्—निष्फलम्, नेष्टसाधकमित्यर्थः । इति—उक्तप्रकारेण, इच्छताम्—मन्यमानानाम्, बौद्धानाम्—तथागतानाम्, बुद्धिः—मतिः, सिद्धान्त इत्यर्थः । निहता—निराकरणान्नाशिता, निष्प्रमाणेति यावत् । नन्वनुभवसाक्षिकमलपितुं शक्यमिति भावः । तपो बलीवर्दादिकष्टवत्कर्मविपाकफलमेव, न तु ततो मुक्तिरिति बौद्धसिद्धान्तः । स्वमते तु तपः क्षायोपशमिकं ज्ञानवैराग्यशमसमन्वितत्वात्सुखरूपं कर्मक्षयहेतुश्चेति बोध्यम् ॥ ५ ॥

ननु लोके विविधं तपस्तप्यमानं दृश्यते, तत्र किमुपादेयमिति शिष्यजिज्ञासां समाधातुमाह—

यत्र ब्रह्म जिनाऽर्चा च कषायाणां तथा हतिः ।
सानुबन्धा जिनाज्ञा च तत्तपः शुद्धमिष्यते ॥ ६ ॥

यत्रेत्यादि । यत्र–यस्मिन् तपसि, ब्रह्म–ब्रह्मचर्यम्, नवविध-ब्रह्मगुप्तिरित्यर्थः । जिनार्चा–जिनो वीतरागस्तस्याऽर्चा पूजा पूजाऽष्टकोक्तप्रकारेण द्रव्यतो भावतश्च, आज्ञापालनेन जिनाराधनं वा, चः समुच्चये । तथा–पुनः, कषायाणाम्–क्रोधादिचतुष्टयानामुपलक्षणात्वाद्रागादीनां च, हतिः–हानिः, उच्छेद इत्यर्थः । जिनाज्ञा–जिनोपदेशः, मानुबन्धा–अनुबन्धोऽनुमरणं तेन सह वर्त्तत इति सा तादृशी, अनुसृतेत्यर्थः । चः समुच्चये । तत्–तादृशम्, तपः–आभ्यन्तरं प्रायश्चित्तादिकं बाह्यमनशनादिरूपं च तपः, शुद्धम्–निरपायम्, कर्मतापनात्पारमार्थिकमित्यर्थः । इष्यते–इष्टम्, प्रकारान्तरं तु सापायमित्यशुद्धमपारमार्थिकमित्याशयः । ब्रह्मचर्यजिनपूजात्मकं कषायोच्छेदसमर्थं जिनाज्ञाऽविरोधि च तप एव शुद्धमिति निष्कर्षः ॥ ६ ॥

स्वस्य जिनभक्तत्वादेवमुक्तिरिति पक्षपातारोपमाशङ्क्य शिष्यप्रबोधाय तटस्थ्येनाऽऽह—

तदेव हि तपः कार्यं दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत् ।
येन योगा न हीयन्ते क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि च ॥ ७ ॥

तदेवेत्यादि । तत्–तादृशम्, तपः–बाह्यमाभ्यन्तरं चोक्तप्रकारं तप एव, एवकारेण प्रकारान्तरस्य पञ्चाग्न्यादे र्दुर्ध्यानादिनिमित्तस्य व्यवच्छेदः कार्यम्–अनुष्ठेयम्, यत्र–यस्मिन् तपसि अनुष्ठीयमाने, दुर्ध्यानम्–पापक्षुत्तृडादिभिरुपसर्गादिभि र्वा दुष्टं ध्यानमार्त्तरौद्रध्यानम्, नो–नैव, भवेत्–जायेत, अन्यथा दुर्ध्यान-

वशादिष्टसिद्धि र्न स्यादिति भावः । तथा, येन–यादृशेन तपसा, योगाः–स्थानवर्णादयः प्राग्व्याख्याताः, न–नैव, हीयन्ते–अपकर्षं यान्ति, अशक्त्यादिना तदपकर्षसम्भवात्, ततश्चेष्टविघ्नम्, नह्ययोगिनो मुक्तिरिति भावः । यद्वा योगाः कायवाङ्मनोयोगा न हीयन्ते न हीना भवन्ति, अशुभा योगा यथा न स्युरिति यावत् । अशुभो हि योगोऽशुभकर्मबन्धनिमित्तमिति तस्मिन् सति कुतो मुक्त्याशाऽपीति भावः । वा–तथा, इन्द्रियाणि–चक्षुरादीन्द्रियाणि, न–नैव, क्षीयन्ते–नश्यन्ति, इन्द्रियाणि श्रवणदर्शनादिभिर्धर्मवृद्धिहेतव इति तदभावे साध्यस्य धर्मस्य का चर्चेति भावः । एवञ्च यत्किञ्चिद्वा तपो भवतु, तच्चेच्छुभध्यानसाधनं योगाविरोधि इन्द्रियशक्त्यविघातकं च भवति तदोपादेयमन्यथा हेयम् । तादृशं च तपो जिनोपदिष्टमेवेति " यत्र ब्रह्म जिनार्चा चे "त्याद्युक्तं न तु जिनभक्तिवशादिति स्वस्मिन् पक्षपातशङ्का निराकृता वेदितव्या ॥७॥

तदेवमुक्तप्रकारेण तपो निरूप्य सम्प्रति शिष्यप्रबोधाय तत्फलमुपवर्णयन्नुपसंहरति—

मूलोत्तरगुणश्रेणिप्राज्यसाम्राज्यसिद्धये ।
बाह्यमाभ्यन्तरं चेत्थं तपः कुर्यान्महामुनिः ॥ ८ ॥

इति महामहोपाध्याय–श्रीयशोविजयोपाध्यायविरचिते ज्ञानसारे तपोऽष्टकं नामैकत्रिंशत्तममष्टकम् ॥ ३१ ॥

मूलोत्तरेत्यादि । महामुनिः–महान् तपोरहस्यज्ञत्वेन तपस्विषूत्कृष्टो मुनिः सम्यग्ज्ञानसम्पन्नः साधुर्महामुनिः, मूलोत्तरगुण-

श्रेणिप्राज्यसाम्राज्यसिद्धये–मूलानां धर्मवृक्षमूलभूतानामुत्तरेषां तेषामेव शाखापत्रादितुल्यानामुत्तरप्रकारभूतानां गुणानां दर्शन-ज्ञानचारित्रादीनां चरणसप्ततिरूपाणां समितिगुप्त्यादीनां करण-सप्ततिरूपाणां च या श्रेणिरुत्तरोत्तरं विशुद्धिप्रकर्षत एकपङ्क्तिबद्ध-तया विन्यस्तता तस्या मूलोत्तरगुणसमुदायस्य यत्प्राज्यं भूरि, सर्वात्मनेत्यर्थः। साम्राज्यं निर्द्वन्द्वप्रभुत्वं तस्य सिद्धये लाभाय, मूलोत्तरगुणानां साकल्येन सम्प्राप्त्यै इत्यर्थः। बाह्यम्–अनशनादि-रूपम्, आभ्यन्तरम्–स्वाध्यायध्यानप्रायश्चित्तादिरूपम्, चः समुच्चये। तपः–कर्मतापनविधिम्, इत्थम्–दुर्ध्यानादिर्यथा न स्यात्तथेत्यर्थः। कुर्यात्–अनुतिष्ठेत्। तपसो हि मूलोत्तरगुणप्राप्तिः। अत एव तादृशतपोऽनुष्ठानपरायणो महामुनिर्भवति, महामुनिरेव चोक्तप्रकारेण तपोऽनुतिष्ठति चेत्युभयत्र तात्पर्यम् ॥ ८ ॥

इति ज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृ–कविरत्नपन्यासप्रवर–श्रीयशो-भद्रविजयगणिवरशिष्यपन्यासश्रीशुभङ्करविजयगणिविरचितायां भद्रङ्करोदयाख्यायां व्याख्यायांतपोऽष्टकं नामैक-त्रिंशत्तममष्टकम् ॥ २६ ॥

## ॥ सर्वनयाश्रयणाऽष्टकम् ॥

ननु पूर्णाऽष्टकादितपोऽष्टकान्तेनैतावता ग्रन्थेन सम्यग्ज्ञानिनं मुमुक्षुमुद्दिश्य साध्यं साधनं च प्रतिपादितम्। तत्राऽऽत्मस्वरूपेऽन्यपदार्थस्वरूपे च विभिन्ना नयाः, ततश्च विप्रतिपत्तिः। न च विप्रतिपन्नमतीनामात्मा साधनेन केनाऽपि साध्यः, आत्मस्वरूपस्यैवाऽनिर्णयात्। नह्यनिर्णीतं साध्यते इति शिष्यं व्यामोहमापन्नं बोधयितुं सर्वनयाश्रयणाऽष्टकं विवक्षुः सर्वनयाश्रयणमेव श्रेय इत्याह—

धावन्तोऽपि नयाः सर्वे स्युर्भावे कृतविश्रमाः।
चारित्रगुणलीनः स्यादिति सर्वनयाऽऽश्रित ॥ १ ॥

धावन्त इत्यादि। सर्वे-सकलाः, सर्वप्रकारा एवेत्यर्थः। अर्थवशादेवकारार्थो लभ्यते। न त्वेको द्वौ बहव एव वाऽपि तु सर्वे इत्याशयः। नयाः—नीयते परिच्छिद्यते प्रतिपाद्यते वा प्रमाणपरिच्छिन्नस्याऽनन्तांशस्य वस्तुन इतरांशाऽनपलापपूर्वकमंशविशेषो येनाध्यवसायविशेषेण स नयो मतवादविशेषः। स चाऽनेकप्रकार इति नया नैगमसङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूताख्याः सप्त। धावन्तः—स्वास्वाऽभिमतार्थे सत्वरं साऽम्बरं दृढतरयुक्त्युपन्यासश्रमार्त्ता अपि, अपिना स्थिरस्य भावविश्रामोऽस्त्येवेति सूच्यते, धावनं तु स्वमतकदाग्रहादिति बोध्यम्। भावे—वस्तुस्वभावे, वस्तुधर्मे इत्यर्थः। वस्त्वंश इति यावत्। कृतविश्रमाः—कृतो विहितो विश्रामो धावनविरामो यैस्ते तादृशा एव,

स्युः—सन्ति, न तु भावमतिक्राम्यन्ति, भावनिरूपणार्थमेव व्याप्तत्वात्। यो यो नयो यं यमर्थं प्रतिपादयति स वस्तुधर्मो भवत्येव, वस्तूनामनन्तधर्मात्मकत्वादित्याशयः : इति—नयप्रतिपादितानामर्थानां वस्तुस्वभावत्वाद् भावे नयानां कृतविश्रमत्वाद्धेतोः, चारित्रगुणलीनः—चारित्रस्य संयमस्य सर्वविरत्यात्मकस्य ये गुणाः क्रमशो गुणश्रेण्यारोहस्तत्र लीनः परायणः, संयमेनाऽऽत्मगुणपर्यायमर्जयितुं विहितोद्यमः साधुः, सर्वनयाश्रितः—सर्वान्नयानुक्तप्रकारानाश्रितः स्वीकृततदभिमतार्थः, अन्यथा वस्तुनः सर्वात्मना परिच्छेदासम्भवादिति भावः। स्यात्—भवेत्। नह्येकं नयमाश्रित्याऽपरस्य नयस्य निराकरणं युज्यते, सर्वेषां नयानां भाव एव विश्रामाद्वस्तुधर्मस्यैव निषेधाऽऽपत्त्या वस्तुयथार्थस्वरूपाऽनवगमादुद्देश्याऽसिद्ध्यापत्तेः, वस्तुतत्त्वज्ञानमेव ह्युद्देश्यम्। तस्मात्सर्वनयाश्रयणात्मकोऽनेकान्तवाद एव युक्तो नत्वेकान्तवादः, तेन वस्तुस्वरूपस्य सम्यगपरिच्छेदादित्याशयः। सर्वनयाऽभिमतधर्मपुरस्कारेण वस्तुपरिच्छेद एव सम्यग्ज्ञानमन्यन्मिथ्यात्वमिति निष्कर्षः। तत्रजिज्ञासानिवृत्तये सङ्क्षेपतो नयस्वरूपमुच्यते। तथाहि—नयो मूलतो द्विविधो द्रव्यास्तिकः पर्यायास्तिकश्च। द्रव्यं प्रधानं मत्वा प्रवर्त्तमानो द्रव्यास्तिकः, पर्यायं प्रधानं मत्वा प्रवर्त्तमानः पर्यायास्तिकः। पर्यायः क्रमभाव्यावद्रव्यभावी सहभावी यावद्रव्यभावी च धर्मो बोध्यः। तत्र द्रव्यार्थिकस्त्रिविधो नैगमसङ्ग्रहव्यवहारभेदात्। पर्यायार्थिकश्चतुर्धा ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूतभेदात्। द्रव्यास्तिको द्रव्यार्थिकश्चानर्थान्तरम्। पर्यायास्तिकः

पर्यायार्थिकश्चाऽप्येवम् । सङ्कलनया सप्त नयाः । तत्र गौणमुख्यभावेन सामान्यविशेषाद्यनेकधर्मग्राही नयो नैगमः । यथा क्षणमेकं सुखी विषयासक्तजीवः । अत्र जीवात्मकसामान्यस्य प्राधान्यम्, सच्चैतन्यमात्मनीति चैतन्यस्य पर्यायस्य विशेषस्य मुख्यत्वं च विवक्षितमिति जीवस्य सामान्यविशेषात्मकतया ग्रहः । जीवोऽप्यस्ति सुख्यप्यस्तीति नैकोऽपि धर्मोऽपलपितुं शक्य इति सामान्यस्य विशेषस्य च गौणमुख्यभावेन ग्रह इति नैगमाशयः । सामान्यमात्रग्राही नयः सङ्ग्रहः । तस्याऽयमभिप्रायः—विशेषस्य पर्यायात्मकस्य द्रव्यात्पृथङ्नोपलम्भ इति सामान्यस्यैव प्राधान्यं न विशेषस्य, न हि द्रव्यं विकृतं भवति । जीवः सुखी वा भवतु दुःखी वा, जीवत्वाऽविशेषाज्जीव एव सन्, न तु सुखी दुःखी नारको देवो वा । एतदुदाहरणमपरसामान्यस्य । परसामान्यस्य तु ' विश्वमेकं सदविशेषादि 'ति बोध्यम् । किमपि वस्तु न सत्त्वमत्येतीति सदेव सर्वं न द्रव्यं गुणाः क्रिया वेत्याशयः । व्यवहारविषयार्थाऽभिप्रायवान् व्यवहारनयः । सतो हि द्रव्यत्मना पर्यायात्मना वा व्यवहारः, द्रव्यस्याऽपि षड्विधो व्यवहारः, पर्यायस्य च द्विविधो व्यवहारः । तदेतत्सर्वमेव व्यवहारो मन्यते । विशेषत एव व्यवहारोपपत्ति र्न सामान्यादिति विशेष एव प्रधानं न सामान्यमिति विशेष एव वस्तु न सामान्यं विशेषातिरिक्तस्य सामान्यस्याऽभावादिति तदाशयः । प्राधान्येन वर्त्तमानक्षणस्थायि पर्यायमात्रमभिमन्यमानो नय ऋजुसूत्रः । नाऽतीताऽनागते वस्तुनी, असत्त्वादिति तदाशयः । यथा—' इदानीं सुखमस्ति । अत्र क्षणस्थायी पर्याय एव प्राधान्येन विव-

क्षितो न तु तदाश्रय आत्मा, गौणत्वात्। कालकारकलिङ्गसङ्ख्यादिभेदेन शब्दस्याऽर्थभेदं स्वीकुर्वन्नयः शब्दः। यद्यर्थभेदो न स्यात्तदा कालादिभेदो दुरुपपाद इति तदाशयः। यथाऽऽसीद् हिमालयः, अस्ति, भविष्यति। अत्र कालभेदेन भिन्न एव हिमालयः प्रतीयते। एवं कारकादिभेदेऽपि बोध्यम्, निरुक्तिभेदेन पर्यायशब्दानां भिन्नमर्थं समभिरोहन्–प्राधान्येन स्वीकुर्वन् समभिरूढो योगरूढिप्रकारः। शब्दनयः पर्यायभेदेऽपि कालाद्यभेदेऽर्थभेदं न मन्यते। समभिरूढस्तु पर्यायभेदेनाऽर्थभेदं प्रतिपद्यत इति तयोर्भेदः। कालादिभेदे पर्यायभेदेऽपि चाऽर्थगतमभेदमुपेक्षेते द्वावपीति बोध्यम्। यथा इन्द्र इन्दनात्, शक्रः शकनात्। नत्विन्द्रः शक्रः शक्रो वा इन्द्रः। एकत्र शकनाभावादन्यत्रेन्दनाऽभावादिति तदाशयः। स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविष्टमर्थं वाच्यत्वेन प्रतिपद्यमानो नय एवम्भूतः। यथा घटमानो घटो न तु निष्क्रियः। अस्मिन्नयमते सर्वः शब्दः क्रियाशब्दः। समभिरूढो नय इन्दनादिक्रियायां सत्यामसत्यां वा वासवादेरर्थस्येन्द्रपदवाच्यत्वमङ्गीकरोति, अयं त्विन्दनादिक्रियायां सत्यामेवेति समभिरूढादस्य भेदः। एष्वाद्याश्चत्वारोऽर्थं प्राधान्येन विषयीकुर्वन्तीत्यर्थनयाः, पाश्चात्यास्तु त्रयः प्राधान्येन शब्दविषया इति शब्दनयाः। तथा विशेषग्राही अर्पितनयः, सामान्यग्राह्यनर्पितनयः। लोकप्रसिद्धार्थमनुवदन् व्यवहारनयः, तात्त्विकार्थमभ्युपगच्छन् निश्चयनयः। ज्ञानप्राधान्याऽभ्युपगमे ज्ञाननयः, क्रियाप्राधान्याऽभ्युपगमे क्रियानय इति सङ्क्षेपः। विस्तरतस्तु नयप्रदीपादौ द्रष्टव्यः। तदेवं सर्वे नया वस्त्वंशं प्रति-

पादयन्त्येवेति कस्यचिदाश्रयणमन्यस्य च निराकरणमिति न युज्यते, सर्वेषां सम्वादित्वात् । तस्मात्सर्वनयाऽभिमतोऽर्थ एव परमार्थो नत्वेकान्त इति स्पष्टमेव ॥ १ ॥

यदुक्तं सर्वनयाश्रितः स्यादिति, तत्समर्थनाय शिष्यं प्रबोधयन् पृथङ्नयदोषं सर्वनयाश्रितगुणं चाऽऽह—

**पृथङ्नया मिथः पक्षप्रतिपक्षकदर्थिताः ।**
**समवृत्तिः सुखास्वादी ज्ञानी सर्वनयाश्रितः ॥ २ ॥**

**पृथङ्नया** इत्यादि । **पृथङ्नयाः**—पृथक् प्रतिस्वं भिन्नो नयो वस्तुतत्त्वपरिच्छेदकाऽध्यवसायविशेषो येषां ते तादृशाः, स्वभिन्ननयनिषेधपूर्वकनैगमादितत्तदेकैकनयाश्रिताः, **मिथः**—परस्परम्, **पक्षप्रतिपक्षकदर्थिताः**—पक्षः स्वसम्मतनयमात्रग्रहः, प्रतिपक्षः स्वविरोधिनिषेधाग्रहः, ताभ्यां वादप्रतिवादाभ्यां कदर्थिता विडम्बिता बाधिता वा । एको यन्मन्यते तदन्यो निषेधति, यथा नित्यवाद्यनित्यवादिनं स च तं दूषयतीति मिथः सुन्दोपसुन्दन्यायेनैकोऽपरैर्बाधित इति ते हेया एव, न हि बाधितं कोऽप्युपादत्ते । एकस्य मतमपरेण खण्डितमपरमतं च तेनेत्युभयमतमप्यनुपादेयमयुक्तत्वात् । अत एव तादृशैकैकमताग्रहिणः कदर्थिता इव दुरवस्था इत्याशयः । ननु तर्हि कः सुस्थ इत्याकाङ्क्षानिवृत्तये आह—समेत्यादि । **ज्ञानी**—वस्तुपारमार्थिकस्वरूपज्ञानात्मकसम्यग्ज्ञानवान्, **सर्वनयाश्रितः**—सर्वान् सप्ताऽपि नयान्नैगमादीनाश्रितोऽभ्युपगतः, वस्तुनि द्रव्यपर्यायात्मना सर्वनयाऽभिमतधर्मस्य परमार्थतः सत्त्वात्सर्वनया-

भिमतधर्मात्मकं वस्तु प्रतिपद्यमानः सन्नित्यर्थः। अत्र च ज्ञान्येव सर्वनयाश्रितः स एव च स इत्युभयथाऽप्यर्थो ध्वन्यते। द्रव्यात्मना हि वस्तु नित्यं सामान्यमभिन्नं सत्, गुणप्रधानभावेन सदसत्त्वविवक्षायां वाच्यं च। पर्यायात्मना त्वनित्यं विशेषात्मकं भिन्नमसद् मुख्यभावेन सदसत्त्वोभयविवक्षायामवाच्यं चेति नित्यानित्यसामान्यविशेषभेदाभेदसदसद्वाच्यत्वाऽवाच्यत्वाद्यनन्तधर्मात्मकमेव वस्तुतत्त्वम्, सतोऽपलापाऽयोगादित्याशयः। **समवृत्तिः**—समा मध्यस्थतया सर्वनयाभिमतवस्तुधर्मेषु तुल्या समाना वृत्तिः परिणतिर्यस्य सः। पक्षप्रतिपक्षवर्जनाद्रागद्वेषशून्य इत्यर्थः। अत एव, **सुखास्वादी**—सुखस्य कदर्थनाऽभावात्सम्यग्ज्ञानजनितात्मानन्दस्याऽस्वादोऽनुभवोऽस्त्यस्येति स तादृश,। भवतीति शेषः। योहि न पक्षप्रतिपक्षबाधितः किन्तु समतामतिः स एवानुद्विग्नत्वात्तत्त्वदृष्टित्वाच्च सुखमनुभवतीति सर्वनयाश्रितेनैव भाव्यमित्याशयः। यदुक्तम्—अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्यथा परे मत्सरिणःप्रवादाः। नयानशेषानविशेषमिच्छन्न पक्षपाती समयस्तथा ते" इति ॥ २ ॥

अथ शिष्यप्रबोधाय जिज्ञासानिवृत्तये च सर्वनयाश्रितत्वं निर्वक्ति—

नाऽप्रमाणं प्रमाणं वा सर्वमप्यविशेषितम्।
विशेषितं प्रमाणं स्यादिति सर्वनयज्ञता ॥ ३ ॥

नाऽप्रमाणमित्यादि। सर्वम्—अशेषम्, प्रत्येकं तत्तन्नयवाक्यमित्यर्थः। अपिना नत्वेकं द्वे एव वेति न्यूनव्यवच्छेदो द्योत्यते।

अविशेषितम्—कञ्चित्कालक्षेत्रद्रव्यभावात्मकं विशेषमनपेक्ष्य प्रवृत्तं सत्, न अप्रमाणम्—नाऽयुक्तम्, न हेयप्रकारमित्यर्थः। प्रमाणम्—यथार्थात्मकम्, उपादेयप्रकारमित्यर्थः। वेति समुच्चये, तेन नेति सम्बध्यते। किन्तु ज्ञेयस्वभावमात्रप्रतिपादने तात्पर्यात्समम्। तदेव ह्यपेक्षाविशेषवशादप्रमाणं प्रमाणं चेति भावः। तदेवाह—विशेषितमित्यादि। विशेषितम्—नयाविशेषसापेक्षतया प्रवृत्तं सत्, प्रमाणम्-युक्तिमत्, वस्तुपारमार्थिकस्वरूपप्रतिपादकत्वादुपादेयमित्यर्थः। स्यात्—भवेत्। यथा घटोऽस्तीति सामान्येन प्रयुक्तं वचनं नाऽप्रमाणम्, कथञ्चिद्घटसत्त्वस्य विद्यमानतयाऽपलपितुमशक्यत्वात्। न च प्रमाणम्, कथञ्चिदसत्त्वस्याऽपि तत्र सत्त्वादसम्पूर्णार्थकत्वात्। कथञ्चिदस्त्येव घट इति विशेषितं वाक्यं तु प्रमाणम्, स्वकालद्रव्यक्षेत्रभावापेक्षाविशेषविशेषितत्वादसत्त्वस्य गौणतयाऽविवक्षितत्वात्कालादिगुणैः कृत्वाऽभेदवृत्त्याऽभेदोपचारेण वाऽनन्तधर्मात्मकत्वप्रकारेण प्रतिपादनाद्। घटोऽस्त्येवेति तु वचोऽप्रमाणमेव, परकालाद्यपेक्षया सतोऽप्यसत्त्वस्य निषेधे तात्पर्यादसम्बादित्वादिति ध्येयम्। इति—उक्तप्रकारेण ज्ञानम्, सर्वनयज्ञता—सर्वे च ते नयाश्च नैगमादयस्तान् जानातीति स सर्वनयज्ञस्तस्य भावस्तत्ता, सर्वनयज्ञलक्षणम्, सर्वनयाश्रितत्वं वा। स्यादिति शेषः। निरपेक्षं वचनं वचनमात्रं सापेक्षं तत्प्रमाणम्, एकान्तेन वस्तुतत्त्वप्रतिपादकं वचनं चाऽप्रमाणमित्येवं ज्ञानमेव सर्वनयात्मकवस्तुज्ञानमित्यर्थः ॥ ३ ॥

अथ शिष्यप्रबोधाय सर्वनयज्ञपृथङ्नयज्ञयो र्व्यवहारवैलक्षण्यमाह—

लोके सर्वनयज्ञानां तादृस्थ्यं वाऽप्यनुग्रहः ।
स्यात्पृथङ्नयमूढानां स्मयार्तिर्वातिविग्रहः ॥ ४ ॥

लोके इत्यादि । लोके—लोकविषये, लोकव्यवहारे वा, सर्वनयज्ञानाम्—सर्वे सप्तापि नया नैगमादयस्तान् जानन्तीति ते तादृशास्तेषाम्, सर्वनयाऽभिमतत्वपकारेण वस्तुतत्त्वपरिच्छेदपटूनाम्, सर्वनयाश्रितानामित्यर्थः । तादृस्थ्यम्—तटस्थो मध्यस्थस्तस्य भाव स्तत्त्वमौदासीन्यम्, काप्यपक्षपात इत्यर्थः । स्वपरयो रागद्वेषराहित्यमिति यावत् । सर्वनयाश्रितो हि तत्त्वज्ञतया एकान्तेन कमपि स्वं परं वा न मन्यते इत्यतोऽवसरे स्वस्मिन् परस्मिंश्च समवृत्तिरेव भवति, यद्वा यत्र परे ममोक्तमेव साध्विति विवदन्ते तत्र सर्वनयज्ञः सर्वं साध्विति मत्वोदास्ते न तु विवादमेतीति भावः । वा—अथवा, अनुग्रहः—स्वकर्मवशगेषु जनेषु एकान्ताश्रयणेन वैषम्यं दृष्ट्वा 'अज्ञा इमे दयनीयाः कथमपि प्रबोधनीया' इत्येवमुपकारबुद्धिरपि, अपिः समुच्चये । स्यात्—भवेत् । नन्वेकान्तवादिनां कथमित्याकाङ्क्षायामाह—पृथगित्यादि । पृथङ्नयमूढानाम्—पृथगितरनयनिरपेक्षो यो नयो नयाभासः, निरपेक्षो हि नयो नयाभास एकान्तात्मकत्वादिति बोध्यम् । तेन तदाश्रयणेन मूढा नष्टबुद्धयस्तेषाम्, एकान्तवादिनाम् कदाग्रहविलुप्तविवेकानाम्, स्मयार्तिः—स्मयो मदः, अहमेव तत्त्वविदित्यभिमानः, स एव दुःखमिमित्ताऽशुभकर्मानुबन्धित्वादर्तिः

पीडा, कारणे कार्योपचारादिति । वा–अथवा, अतिविग्रहः–स्वविरोधिभिः सहाऽत्यन्तं विग्रहः कलहः, विवाद इत्यर्थः । मम पक्ष एव सम्यगिति स्मयाऽऽविष्टतया स्वपक्षस्थापनाय परपक्षपराभवाय चाऽत्यन्तं विवादः, स्यादिति सम्बध्यते । स्वमताग्रही कलहायत एवेति प्रतीतमिति भावः । एवञ्च सर्वनयाश्रितेनैव भाव्यं यथा स्मयार्तिं वा विवादो वा न भवेदिति हृदयम् ॥ ४ ॥

अथ शिष्यप्रबोधार्थं सर्वनयज्ञपृथङ्नयज्ञयोः फले वैषम्यमाह–

**श्रेयःसर्वनयज्ञानां विपुलं धर्मवादतः ।**
**शुष्कवादाद्विवादाच्च परेषां तु विपर्ययः ॥ ५ ॥**

श्रेय इत्यादि । सर्वनयज्ञानाम्–सर्वान् सप्तापि नयान् जानन्तीति ते तादृशास्तेषाम्, सर्वनयाश्रयणेन साक्षात्कृतवस्तुपारमार्थिकतत्त्वानां स्याद्वादिनाम्, धर्मवादतः–धर्मेण धर्माय च वादो धर्मवादः, तत्त्वबुभुत्सुकथेत्यर्थः । यत्र वादे धर्मपूर्वकं विजिगीषया छलादिकमनाश्रित्यैव वस्तुतत्त्वनिर्णयमात्रमुद्दिश्य परस्परं पूर्वपक्षोत्तरपक्षाश्रयणं सः, येन वादेन लोको धर्मे प्रवर्त्यते, तादृशाद्वादतः, तादृशवादसद्भावादित्यर्थो बोध्यः । सर्वनयाभिमतो हि परसम्मतमप्यर्थं वस्तुनि पश्यन्नैकार्थाग्रही न भवति, ततः समवृत्त्या स पदार्थयथार्थतत्त्वं वदति सद्धर्मं लोकानुपदिशति चेति सर्वनयज्ञानां धर्मवाद एवेत्याशयः । अत एव हेतोः, विपुलम्–प्रचुरम्, इहलोकपरलोकव्यापीत्यर्थः, इहामुत्र चेतियावत् । श्रेयः–पुण्यम्, लक्षणया शुभं फलम्, इह लोके यशःपूजादिः परत्र चाऽलौकिक-

सुखसम्पदो मुक्तिश्चेति तात्पर्यम् । तु भेदे । परेषाम्–सर्वनयज्ञ-भिन्नानाम्, पृथङ्नयज्ञानामेकान्तवादिनाम्, शुष्कवादात्–शुष्को वस्तुतत्त्वोपलब्धिफलाभावात्कण्ठताल्वादिशोषमात्रफलो वादस्तस्मात्, विवादात्–विवादो विजिगीषया पूर्वपक्षोत्तरपक्षाश्रयणं यत्र वादे स तस्मात्, चः समुच्चये । एकान्तवादिनां हि वादे स्वमताग्रहात्तत्त्वनिर्णयाभावो विजिगीषुकथा चेति न स धर्मपूर्वको धर्मार्थो वा, प्रत्युताऽधर्मपूर्वकोऽधर्माय च । अत एव, विपर्ययः–विपरीतता, श्रेयोविरुद्धं फलम्, विपुलमशुभमित्यर्थः । शुष्कवादे विवादे च कषायादिप्राचुर्यादशुभकर्मवृद्धिरेवेतीहाऽमुत्र च ततोऽशुभमेव फलमिति तात्पर्यम् । तस्मात्सर्वनयाश्रयणमुपादेयं पृथङ्नयाश्रयणं हेयमिति हृदयम् ॥ ५ ॥

उक्तोपपत्त्या सर्वनयाश्रयिणामुत्तमत्वसिद्धेः शिष्यस्य तेषु श्रद्धासम्पत्तये तान् स्तुवन्नाह—

प्रकाशितं जनानां यै र्मतं सर्वनयाश्रितम् ।
चित्ते परिणतं चेदं येषां तेभ्यो नमोनमः ॥ ६ ॥

प्रकाशितमित्यादि । यैः–यादृशैः पुण्यशालिपुरुषै र्निर्हेतुकपरोपकारतत्परैरर्हद्भिर्गणधराचार्यादिभिश्च, जनानाम्–नयवादविशेषमजानतां सरलबुद्धीनां भव्यजनानाम्, सर्वनयाश्रितम्–सर्वेषां नयानां तदभिमतार्थेषु श्रद्धानादाश्रितं तदनुसारि, सर्वनयाभिमतार्थात्मकवस्तुप्रतिपादकमित्यर्थः, मतम्–सिद्धान्तः, अनेकान्तवादात्मकं दर्शनमित्यर्थः । प्रकाशितम्–उपदेशादिना प्रकटीकृतम्,

यैर्जनानां श्रेयःसाधनात्मकाऽनेकान्तवादोपदेशः कृत इति मिलितार्थः, तथा, इदम्-सर्वनयाश्रितं मतम्, येषाम्-यत्प्रकाराणां पुण्यशालिनां जनानाम्, चित्ते-मनसि, परिणतम्-श्रद्धावशादवृत्तिरूपतामापन्नम्, येषां मनोवृत्तिर्निश्चयेन सततं च तादृशश्रद्धादिवशात्सर्वनयाश्रितमतभावनात्मकमित्यर्थः। ये सर्वनयाभिमतदृष्टय इति यावत्। चः समुच्चये। तेभ्यः-सर्वनयाश्रितमतप्रकाशकेभ्यः परिणतसर्वनयाश्रितमतचित्तेभ्यश्च सम्यग्ज्ञानपूतान्तःकरणेभ्यः परहितकृद्भ्य पुण्यशालिभ्योऽर्हद्भ्य आचार्यप्रभृतिभ्यश्च, नमोनमः-पुनः पुनर्नमस्कारोऽस्तु, भक्तिश्रद्धातिशयादिसूचनाय द्विरुक्तिः। सर्वनयाश्रितमतस्यैवोक्तोपपत्त्योपादेयत्वाच्छ्रेयःफलत्वाच्च श्रेयस्विनः श्रेयःप्रवर्त्तकाः श्रेयसउपदेष्टारश्च पुण्यवन्तः पूज्याः स्तुत्या वन्द्याश्च नाऽन्ये इत्याशयः ॥ ६ ॥

अथ शिष्यप्रबोधाय सर्वनयाश्रयाणां सहेतुकं सर्वोत्कर्षं युग्मेन वर्णयन्नुपसंहरति—

निश्चये व्यवहारे च त्यक्त्वा ज्ञाने च कर्मणि।
एकपाक्षिकविश्लेषमारूढाः शुद्धभूमिकाम् ॥ ७ ॥

अमूढलक्ष्याः सर्वत्र पक्षपातविवर्जिताः।
जयन्ति परमानन्दमयाः सर्वनयाश्रयाः ॥ ८ ॥

इति महामहोपाध्याय-श्रीयशोविजयोपाध्यायविरचिते ज्ञानसारे सर्वनयाश्रयणाऽष्टकं नाम द्वात्रिंशत्तममष्टकम् ॥ २७ ॥

निश्चये इत्यादि। सर्वनयाश्रयाः—सर्वे च ते नयाश्च तेषामाश्रयाः सर्वनयाभिमतवस्तुतत्त्वज्ञाः साधवः, निश्चये—पारमार्थिकरूपेणाऽऽत्मादिवस्तुतत्त्वविषये, व्यवहारे—व्यवहारसिद्ध्यर्थं प्राधान्येन विवक्षिततत्तद्गुणपर्यायात्मके वस्तुनि, ज्ञाने—मतिश्रुतादिज्ञानविषये, कर्मणि—आवश्यकादिक्रियायाम्, चद्वयं समुच्चये। एकपाक्षिकविश्लेषम्—एकः स्वाभिमतः स एव तस्मिन्, एकमात्रविषयक इत्यर्थः। तादृशो यः पक्षः स्वस्वीकारप्रतिज्ञा तत्र यद् एकपाक्षिको यो विशेषेण विकृतो वा श्लेषः सम्बन्धः, कदाग्रह इत्यर्थः। वस्तुतत्त्वविसम्वादित्वादिति बोध्यम्। अयमेव सन्नित्येवमेकपक्षकदाग्रहमिति सारार्थः। निश्चयाभिमतमेव व्यवहाराभिमतमेव ज्ञानमेव क्रियैव वा सदित्येवमेकान्तग्रहमितियावत्। त्यक्त्वा—अयथार्थत्वाद्विहाय, अतएव, शुद्धभूमिकाम्—शुद्धा वस्तुतत्त्वसम्वादित्वात्कदाग्रहरहितत्वाच्च कषायादिरहिता निर्दुष्टा च सर्वनयाश्रयात्मिका या भूमिका चित्तावस्थाविशेषो ज्ञानपरिपाको वा ताम्, अध्यात्मगुणवृद्ध्यात्मकसम्यक्त्वावस्थामित्यर्थः। आरूढाः—अधिष्ठिताः, प्राप्ता इत्यर्थः। अत एव, सर्वत्र—सर्वस्मिन् देशकालादौ, पक्षपातविवर्जिताः—पक्षे स्वाभिमते विषये रागादिना पात आग्रहस्तेन विवर्जिता रहिताः, देशकालादिविशेषापेक्षया विधिनिषेधाग्रहवर्जिता इत्यर्थः। विधिनिषेधयोः सर्वत्र देशकालादौ समवृत्तितयाऽऽराधका इति यावत्। अत एव च, अमूढलक्ष्याः—न मूढं विस्मृतिभ्रान्त्यादिना च्युतं लक्ष्यं क्रियोद्देश्यं येषां ते तादृशाः,

अप्रमादं निरतीचारं च स्वेष्टसाधनप्रवृत्ताः, भवन्तीति शेषः । अत एव, परमानन्दमयाः—परमोऽकृत्रिमोऽखण्डितश्च य आनन्दः सुखानुभवस्तन्मयाः, आत्मसुखमग्ना इत्यर्थः । जयन्ति—सर्वोत्कर्षेण वर्त्तन्ते । ये आत्मसुखमग्ना स्त एव सर्वोत्कृष्टाः, लौकिकसुखस्याऽपकृष्टत्वात्तन्मग्नस्याऽप्यपकृष्टत्वादित्याशयः । अयं भावः-यः सम्यग्ज्ञान्येकान्ताग्रहं त्यक्त्वा पारमार्थिकं सर्वनयाभिमतवस्तुतत्त्वमवधार्य देशकालादिकमनपेक्ष्यैव स्वेष्टसाधने प्रवर्त्तमानो भवति तस्य निवृत्तकषायादेरात्मसुखानुभवो लोकातिशायीति स सर्वश्रेष्ठः ।

इति ज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृकविरत्नपन्यासप्रवरश्रीयशोभद्रविजयजीगणिवरशिष्यपन्यासश्रीशुभङ्करविजयगणिविरचितायां भद्रङ्करोदयाख्यायां व्याख्यायां सर्वनयाश्रयणाष्टकं नाम द्वात्रिंशत्तममष्टकम् ॥ ३२ ॥

---

## ॥ उपसंहारः ॥

अथोपसंहरन् मुने र्विशेषणव्याजेनोक्तानामष्टकानां क्रमशो नामानि सूचयन्नुक्ताऽष्टकतत्त्वज्ञस्यैव ज्ञानसारलाभ इति पञ्चभिः श्लोकैराह—

पूर्णो मग्नः स्थिरोऽमोहो ज्ञानी शान्तो जितेन्द्रियः ।
त्यागी क्रियापरस्तृप्तो निर्लेपो निःस्पृहो मुनिः ॥ १ ॥
विद्याविवेकसम्पन्नो मध्यस्थो भयवर्जितः ।
अनात्मशंसकस्तत्त्वदृष्टिः सर्वसमृद्धिमान् ॥ २ ॥

ख्याता कर्मविपाकानामुद्विग्नो भववारिधेः ।
लोकसंज्ञाविनिर्मुक्तः शास्त्रदृङ्निष्परिग्रहः ॥ ३ ॥
शुद्धाऽनुभववान् योगी नियागप्रतिपत्तिमान् ।
भावार्चाध्यानतपसां भूमिः सर्वनयाश्रितः ॥ ४ ॥
स्पष्टं निष्टङ्कितं तत्त्वमष्टकैः प्रतिपन्नवान् ।
मुनि र्महोदयं ज्ञानसारं समधिगच्छति ॥ ५ ॥

पूर्ण इत्यादि । मुनिः—मुमुक्षुः साधुः, ज्ञानसारं समधिगच्छतीति पञ्चमश्लोकोक्तमनुसन्धानीयम् । ज्ञानसारसमधिगमे हेतूनेव विशेषणविधयाऽऽह—पूर्णः—पूर्णाऽष्टकोक्तदिशा सच्चिदानन्दपूर्णः, तद्धेतुभूतं विशेषणमाह—मग्नः—मग्नाऽष्टकोक्तप्रकारेण शुद्धचिदात्मलीनः, स्थिरः—तादृशलीनतासम्पत्तये स्थिरताऽष्टकोक्तरीत्या निश्चलचित्तवृत्तिः, अमोहः—अविद्यमानो मोहो रागद्वेषकषाययममत्वादि र्यस्य स तादृशः, स्थिरतार्थं मोहत्यागाऽष्टकोक्तरीत्याऽहं ममेत्येवं ममत्वशून्यः, त्यक्तमोह इत्यर्थः । ज्ञानीः—मोहत्यागसिद्धये ज्ञानाऽष्टकोक्तप्रकारेण निर्वाणपदभावनावान्, शान्तः—निर्वाणपदभावनया शमाऽष्टकोक्तरीत्या विकल्पत्यागेनाऽऽत्मस्वभावमात्रविषयकज्ञानसमग्रः, जितेन्द्रियः—शमसम्पत्तये इन्द्रियजयाऽष्टकोक्तदिशा दान्तः, शुभेन्द्रियव्यापार इति यावत् । त्यागी—इन्द्रियजयार्थं त्यागाऽष्टकोक्तप्रकारेण धर्मसंन्यासवान् योगसंन्यासवांश्च, क्रियापरः—त्यागसम्पत्तये क्रियाष्टकोक्तरीत्याऽसङ्गक्रियाऽनुष्ठानपरायणः, तृप्तः—असङ्गक्रियासिद्धये तृप्त्यष्टकोक्तरीत्या साम्यमाश्रित्याऽऽत्मस्वभावानुभवेन वितृष्णः, अत एव, निर्लेपः—

निर्लेपाऽष्टकोक्तरीत्या पौद्गलिकभावैः कर्मभिरस्पृष्टः, निःस्पृहः—निर्लेपतासिद्धये निःस्पृहाऽष्टकोक्तरीत्याऽधिकेच्छाशून्यः, मुनिः—इच्छानिरोधाय मौनाऽष्टकोक्तप्रकारेण जगत्तत्त्वमननपरायणः, विद्याविवेकसम्पन्नः—जगत्तत्त्वाऽवबोधाय विद्याऽष्टकोक्तप्रकारेण नित्यशुच्यात्मसु नित्यशुच्यात्मताख्यातिरूपया विद्यया विवेकाऽष्टकोक्तरीत्या संश्लिष्टयोःकर्मजीवयोर्भेदेन परिच्छेदरूपेण विवेकेन च सम्पन्नः समग्रः, विद्वान् विवेकी चेत्यर्थः । मध्यस्थः—विद्यया विवेकेन जगत्तत्त्वाऽवबोधान्माध्यस्थ्याऽष्टकोक्तरीत्या कुत्रापि तत्त्वे कदाग्रहरहितः, सर्वनयाऽभिमतवस्तुतत्त्वादरी रागद्वेषरहित इत्यर्थः । भयवर्जितः—माध्यस्थ्यलाभाद् विद्यादिसद्भावात्स्पृहाद्यभावाच्च निर्भयाऽष्टकोक्तरीत्या भवसुखाऽपहारभयरहितः, अनात्मशंसकः—भयाद्यभावात्स्वार्थलिप्साद्यभावाच्च निष्प्रयोजनतयाऽनात्मशंसाऽष्टकोक्तरीत्याऽऽत्मप्रशंसाविमुखः, तत्त्वदृष्टिः—तत्त्वदृष्ट्यष्टकोक्तप्रकारेण पुद्गलेषु तत्त्वबुद्धिं विहायाऽऽत्मस्वभावमात्रतत्त्वबुद्धिः, सर्वसमृद्धिमान्—तत्त्वदृष्ट्याऽऽत्मसाक्षात्कारात्सर्वसमृद्ध्यष्टकोक्तप्रकारेण समाध्याद्यलौकिकैश्वर्यसम्पन्नः, कर्मविपाकानाम्—कर्मणो विपाकः शुभाशुभपरिणामदानाऽऽभिमुख्यं तादृशपरिणामा वा तेषाम्, ज्ञाता—अशुभवृत्त्याऽऽत्मैश्वर्याऽपकर्षो मा भूदिति हेतोः कर्मविपाकचिन्तनाऽष्टकोक्तरीत्या चिन्तकः, अत एव, भववारिधेः—भवः संसारो वारिधिः समुद्र इव, ततः, उद्विग्नः—भवोद्वेगाऽष्टकोक्तरीत्या भयाद्विमुखः, अत एव, लोकसंज्ञाविनिर्मुक्तः—लोकसंज्ञा लोकमर्यादा तया विनिर्मुक्तो लोकसंज्ञात्यागाऽष्टकोक्तरी-

त्याऽसंस्पृष्टः, लोकाऽनुरोधेनाऽप्यकार्यपराङ्मुखः, शास्त्रदृग्-लोकसंज्ञात्यागसाधनतया शास्त्रदृष्ट्याऽष्टकोक्तरीत्या शास्त्राज्ञाराधकः, निष्परिग्रहः-शास्त्राज्ञा परिग्रहादिना विराद्धा मा भूदिति परिग्रहाऽष्टकमर्मज्ञानात्त्यक्तसर्वपरिग्रहः, शुद्धानुभववान्-उक्तगुणसद्भावादेतोरात्मगुणविशेषं मुक्त्यवस्थापूर्वभाविनमनुभवाष्टकोक्तरीत्या हेयोपादेयैकत्वानुभवात्मकनिर्दुष्टानुभवं प्राप्तः, अत एव, योगी-योगाष्टकोक्तरीत्या वर्णस्थानादियोगसम्पन्नः, अत एव, नियागप्रतिपत्तिमान्-नियागाऽष्टकोक्तरीत्या भावयोगात्मकब्रह्मयज्ञविधायकः, अत एव, भावाऽर्चाध्यानतपसाम्-भावपूजाऽष्टकोक्तप्रकारा भावपूजा, ध्यानाष्टकोक्तप्रकारं ध्यानम्, तपोऽष्टकोक्तप्रकारं तपश्च तेषाम्, भूमिः-पात्रम्, नियागाङ्गतया भावार्चादितत्पर इत्यर्थः । सर्वनयाश्रितः-सर्वनयाश्रयणाऽष्टकोक्तरीत्या पूर्णतादिगुणसाफल्याय सर्वनयाभिमतवस्तुतत्त्वादरी, तदेवमेभिर्गुणैर्विशिष्टः सन्, अष्टकैः-पूर्णाष्टकै र्द्वात्रिंशता, स्पष्टम्-विशदाक्षरम्, सरलसुगमरूपेणेत्यर्थः, निष्टङ्कितम्-प्रतिपादितं निर्धारितं च, तत्त्वम्-ज्ञानादेः पारमार्थिकं स्वरूपम्, प्रतिपन्नवान्-मनसि प्रणिहितवान्, स्वीकृतवानित्यर्थः । तत्त्वं मनसि धारयित्वेति यावत् । महोदयम्-महान् सर्वोत्कृष्ट उदय आत्मगुणवृद्धिमुक्तिरूपो यतस्तादृशम्, श्रेयःसाधनं महाफलप्रदम्, ज्ञानसारम्-ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमेव सारः पारमार्थिकं प्राप्यं तम्, ज्ञानं सारः स्थिरांशो यत्र तादृशं सम्यक्चारित्रं वा, समधिगच्छति-सम्पूर्णतया आप्नोति, सम्यग्ज्ञानिन एव सम्यक्चारित्रं तत एव च मोक्ष इति

मुमुक्षुणा ज्ञानसारोऽवश्यमधिगन्तव्य इत्याशयः । अत्र तत्त्वं प्रतिपन्नवान् ज्ञानसारं समधिगच्छतीत्युक्त्याऽष्टकै निर्दिष्टङ्कितं तत्त्वं ज्ञानसार इति ग्रन्थस्याऽस्य तत्प्रतिपादकतयाऽन्वर्थं नाम ज्ञानसार इति ध्वन्यते ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

---

## ॥ फल-स्तुतिः ॥

अथ शिष्यस्य प्रवृत्ति र्यथा स्यादिति ज्ञानसारफलस्तुतिमाह—

निर्विकारं निराबाधं ज्ञानसारमुपेयुषाम् ।
विनिवृत्तपराशानां मोक्षोऽत्रैव महात्मनाम् ॥ ६ ॥

निर्विकारमित्यादि । निर्विकारम्-विकान्निर्गतम्, विकारो दोषस्तद्रहितमित्यर्थः । शुद्धमिति यावत् । यथार्थमिति तात्पर्यम् । विषयादयो हि ज्ञानदोषास्तद्रहितं ज्ञानमेव तत्प्रतिपादकं सूक्तं वा ज्ञानसारपदवाच्यतामर्हतीति ध्येयम् । निराबाधम्-आबाधा विरोधस्ततो निर्गतम्, यद्धि यथार्थं न तत्र कस्याऽपि विरोधितेति निर्विरोधमित्यर्थः तादृशम्, ज्ञानसारम्-ज्ञानसाराख्ययोक्ताऽष्टकैः प्रतिपादितं तत्त्वम्, उपेयुषाम्-अधिगमेनाऽऽत्मसात्कृतानाम्, अत एव, विनिवृत्तपराशानाम्-विनिवृत्ता उपशान्ता परेष्वात्मभिन्नेषु पौद्गलिकेष्वाशेच्छा येषां तेषां तादृशानाम्, आसक्तिरहितानां विरक्तानामित्यर्थः । अत एव, महात्मनाम्-महान् ज्ञानाद्विरतेश्चोत्तमगुणवत्त्वादुत्कृष्ट आत्मा येषां तेषामध्यात्मगुणसम्पन्नानां साधूनाम्, अत्र-इह भव एव, एवकारेण भवान्तर

व्यवच्छेदः, मोक्षः-मुक्तिः । एतन्महन्माहात्म्यं ज्ञानसारस्य, यद्-ब्रह्मादिह भव एव कोटिभवैरपि सुदुर्लभो मोक्ष इति ज्ञानसारोऽवश्य मुपादेयो मुमुक्षुभिरित्याशयः । किञ्च ज्ञानसाराद्विकारस्य दुष्टमनो-वृत्ते रागादिरूपाया निवृत्तिरिति ज्ञानसारो विकारपरिहारसाधनत्वा-त्कारणे कार्योपचारान्निर्विकारः, अत एव च स निराबाधोऽपि इष्ट-वियोगाऽनिष्टसम्प्रयोगादिजन्यमनःपीडाया आबाधाया निर्गतत्वात्, तादृशाऽबाधाया रागादिमूलत्वात् । ज्ञानिनो हि न विकृता मनोवृत्ति-र्ज्ञानेन मनसोऽङ्कुशितत्वात् । न वा विषयालाभादिना दुःखम्, आत्मसुखलीनत्वादित्येवं ज्ञानसारो निर्विकारो निराबाधश्चेत्यपि बोध्यम् । तादृशज्ञानसारलाभश्चाविरत्यविनाभावी, ज्ञानाच्च विरति-र्योष इति ज्ञानसारसमग्रो विनिवृत्तपराशोऽपि । अत एव तस्य सदाऽऽत्मसुखलीनतया मोक्षतुल्यं सुखमित्युपचारादिहैव मोक्ष-इत्यपि बोध्यम् । ज्ञानसाराद्दोषनाशो दुःखनिवृत्ति र्वैराग्यं मोक्षश्चेति ज्ञानसारस्यैतावदसाधारणं फलमिति हृदयम् । अत्र च ज्ञानसार-मुपेत एव महात्मा स एव च ज्ञानसारमुपैतीत्युभयथाऽप्यर्थो ध्वन्यते ॥ ६ ॥

यदुक्तं निर्विकारं निराबाधमिति, शिष्यप्रबोधाय तदेव वि-वृण्वन्नाह—

चित्तमार्द्रीकृतं ज्ञानसारसारस्वतोर्मिभिः ।
नाऽऽप्नोति तीव्रमोहाग्निप्लोषशोषकदर्थनाम् ॥ ७ ॥

चित्तमित्यादि । यस्येत्यर्थबलाल्लभ्यते । चित्तम्-मनः,

ज्ञानसारसारस्वतोर्मिभिः-ज्ञानसार उक्तो द्वात्रिंशदष्टकात्मको निबन्धस्तस्य ये सारस्वताः सरस्वत्या वाङ्मयस्येमे सरस्वत्या नद्या नदीविशेषरूपायास्तदाख्यायाः वेमे इति तादृशा ऊर्मयस्तरङ्गा इवाऽष्टकरूपाः श्रेणयस्तैः कृत्वा शिवभागवतादिवत्समासः। आर्द्रीकृतम्-सिक्तम्, पक्षे ज्ञानसारपरिशीलनेनोपशान्तं कृतमित्यर्थः। स इति प्रस्तावाल्लभ्यते। तीव्रमोहाऽग्निप्लोषशोषकदर्थनाम्-तीव्रोऽत्युत्कटो दुर्निवारो यो मोहोऽज्ञानं रागादिश्च स एव विविधाधिव्याधिरूपसंतापहेतुत्वादग्निप्लोषोऽग्निदाहस्तज्जनितो य शोषः कण्ठादिनीरसता, पक्षे कषायादिजन्या मनसः क्रूरता तज्जनिता या कदर्थना पीडाऽनिष्टसम्प्रयोगश्च ताम्, मोहविडम्बनामित्यर्थः, न-नैव, आप्नोति-प्राप्नोति, ज्ञानेन मोहविनाशात्कारणाऽभावादिति भावः। यो हि नदीतरङ्गैरार्द्रीकृतस्तस्याऽग्नितापजनितः शोषो न भवति, तापविरोधिनः शैत्यस्य सद्भावात्। तथा यस्य मनो ज्ञानसारपरिशीलनेनोपशान्तं तस्य मोहस्तज्जनिता पीडा च द्वयमेव दूरीभवति, ज्ञानस्य मोहविरोधिनः सद्भावादिति ज्ञानसारो मोहादिविकारस्य तज्जनितावाधायाश्च विरोधित्वान्निर्विकारो निराबाधश्चेति तात्पर्यम् ॥ ७ ॥

यदुक्तं 'मोक्षोऽत्रैवे'ति, शिष्यप्रतिबोधाय तदुपादयन्नाह—

अचिन्त्या कापि साधूनां ज्ञानसारगरिष्ठता।
गतिर्यया ऊर्ध्वमेव स्यादधःपातः कदापि न ॥ ८ ॥

अचिन्त्येत्यादि। साधूनाम्-मुमुक्षूणाम्, ज्ञानाराधनोद्यता-

नाम्, ज्ञानसारगरिष्ठता-ज्ञानसारेण ज्ञानसाराख्यप्रस्तुतवाङ्मय-परिशीलेन कृता गरिष्ठता ज्ञानादिगुणवृद्ध्यात्मकाऽऽत्मगौरवम्, काऽपि-इतरविलक्षणतयाऽनिर्वचनीयेत्यर्थः। अत एव, अचिन्त्या-मनसोऽगोचरा, अतर्क्येत्यर्थः। हेतुप्रमाणदिभि र्नोपपत्तिमर्हतीति यावत्। वाङ्मनसाऽतीतेति मिलितसारार्थः। अचिन्त्यत्वे बीज-माह-गतिरित्यादिना। यया-यादृशज्ञानसारगरिष्ठतया कृत्वा, ऊर्ध्वम्-उपरि गुणस्थानकेषु सिद्धशिलायां वैव, गतिः-आरोहः, स्यात्-भवेत्, एवकार व्यवच्छेद्यमाह-अध इत्यादिना। कदापि-अननुकूलकालादावपि, अधःपातः-गुणस्थानकादवरोहः, भव-ग्रहणं वा, न-नैव, स्यादिति सम्बध्यते। गरिष्ठतया भाराऽऽधिक्ये-नाऽधःपात एव दृष्टो न तूर्ध्वगतिः। तस्यां लाघवस्यैव हेतुत्वाद्गरि-ष्ठताया विरोधित्वाच्च। अत्र तु तद्विपरीतमित्यतो ज्ञानसारगरिष्ठता काप्यचिन्त्येत्याशयः। ज्ञानसारपरिशीलनपरायणानामध्यात्मगुण-वृद्धि र्मोक्षश्चाऽधःपातनिरोधश्चेति ज्ञानसारस्य विलक्षणं माहात्म्य-मित्ययमवश्योपादेय इति हृदयम्॥ ८॥

ननु "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतमि"त्युक्तदिशा क्रियैवाऽस्त्वलं ज्ञानसारे-णेति विप्रतिपन्नं शिष्यं प्रबोधयन्नाह—

क्लेशक्षयो हि मण्डूकचूर्णतुल्यः क्रियाकृतः।
दग्धतच्चूर्णसदृशो ज्ञानसारकृतः पुनः॥ ९॥

क्लेशक्षय इत्यादि। क्रियाकृतः-क्रियया ज्ञानसाहित्यशून्यया

केवलया तपःसंयमादिरूपया, तदाराधनेनेति बोध्यम्। कृतः-सम्पादितः, क्रियाऽऽसेवनजनितः, क्लेशक्षयः-क्लेशप्रदत्वात्कारणे कार्योपचारात्क्लेशा रागादयस्तेषां क्षयो विनाशः, सः, मण्डूकचूर्ण-तुल्यः-मण्डूकस्य मेकस्य गाढनिद्रालीनस्य शुष्कशरीरस्य सञ्च-रिष्णुलोकादिपादाघातादिना जातं यच्चूर्णं सूक्ष्मकणचयस्तेन तुल्यः सदृशः। यथामण्डूकश्चूर्णितोऽपि नवजलसम्पर्कात्पुनरु-ज्जीवनं याति, तच्चूर्णत एव पुनर्मण्डूका उत्पद्यन्ते, तथा क्रिया-कृतः क्लेशक्षयः पुनःकारणलाभे क्लेशहेतुतां याति, क्लेशस्य क्रियया न सर्वथा विनाश इति यावत्। पुनरिति भेदे। तानेवाह-दग्धे-त्यादि। ज्ञानसारकृतः-ज्ञानसारप्रतिपादिततत्त्वबोधेन कृतः, क्लेशक्षय इति सम्बध्यते। दग्धतच्चूर्णसदृशः-दग्धं भस्मतां प्रापितां यत्तस्य मण्डूकस्य चूर्णं तेन सदृशः। यथा-दग्धं मण्डूक-चूर्णं नवोदकसम्पर्केऽपि न मण्डूकोत्पत्तये तथा ज्ञानेन जनितः क्लेशक्षयो न क्लेशान्तरोत्पादहेतुः। अयं भावः-क्रिया कर्म नाश-यति, किन्तु सुबहुकपुण्यकर्मबन्धं प्रयोजयति चाऽऽस्रवरूप-त्वात्। ततश्च तत्फलभोगकालेऽशुभकर्मबन्धो जायते। ज्ञानेन तु न केवलं क्लेशक्षय एव, कर्मबन्धोऽपि निरुध्यत इति न पुनः कारणसद्भावेऽपि क्लेशान्तरसम्भव इति। तदुक्तम्-"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन इति। तस्माज्ज्ञानसहितैव क्रिया प्रशस्येति ज्ञानसारोऽवश्योपादेय इति॥ ९॥

अत्र शिष्यप्रबोधाय परसम्मतिमप्याह—

ज्ञानपूतां परेऽप्याहुः क्रियां हेमघटोपमाम् ।
युक्तं तदपि तद्भावं न यद्भग्नाऽपि सोज्झति ॥ १० ॥

ज्ञानपूतामित्यादि । परे–बौद्धादयो दर्शनान्तरीया अपि, अपिना–स्वमतसमुच्चयः । ज्ञानपूताम्–ज्ञानेन ज्ञानसाहित्येन हेतुना पूता ज्ञाननिरपेक्षक्रियातोऽधिकविशुद्धा, ज्ञानपुरस्सरमनुष्ठीयमानेत्यर्थः । ताम्, क्रियाम्–धर्मक्रियां तपःसंयमादिरूपाम्, हेमघटोपमाम्–हेम सुवर्णं तस्य तद्विकारत्वात्तसम्बन्धी यो घटस्तेन उपमा सादृश्यं यस्या स्तां हेमघटतुल्याम्, आहुः–प्रतिपादयन्ति, तदपि–ज्ञानपूतक्रियाया हेमघटोपमाऽपि, युक्तम्–घटमानकम्, जिज्ञासानिवृत्तये स्वयं घटयन्नाह–तद्भावमित्यादि । सा–ज्ञानपूता क्रिया, भग्ना–कथञ्चित्पतिताऽपि, घटपक्षे द्विधाभिन्नोऽपि, अपिना भग्नस्य भावापकर्षः सूच्यते, अत्र तु ज्ञानमाहात्म्यान्न भावाऽपकर्ष इत्यविरोधः । तद्भावम्–तस्या ज्ञानपूतक्रियाया यो भावो माहात्म्यं तम्, घटपक्षे मूल्यम्, न–नैव, उज्झति–त्यजति । यथा हेमघटो भग्नोऽपि हेममूल्यं न त्यजति सन्धेयश्च भवति, तथा ज्ञानपूता क्रिया पतिताऽपि कर्मालिप्तत्वात्मकं स्वमाहात्म्यं न त्यजति । कोटाकोटिसागरोपमाभ्यन्तरस्थितिकमेव बन्धं करोति नत्वधिकस्थितिकम्, ज्ञानवशात्पुनः शुद्धतामेति च । तदेवं क्रियाया ज्ञानसाहाय्यार्थं ज्ञानसारोऽवश्योपादेय इत्याशयः ॥ १० ॥

तदेवं क्रियातो ज्ञानस्याऽधिकं माहात्म्यमिति शिष्यं प्रबोधयन्नाह

क्रियाशून्यं च यज्ज्ञानं ज्ञानशून्या च या क्रिया ।
अनयोरन्तरं ज्ञेयं भानुखद्योतयोरिव ॥ ११ ॥

क्रियाशून्यमित्यादि । यत्–यादृशम्, ज्ञानम्–साधुविशेषेण ज्ञानसारपरिशीलनादिनोपार्जितं ज्ञानसारात्मकं सम्यग्ज्ञानम्, क्रियाशून्यम्–क्रिययोक्तप्रकारया शून्यं रहितम्, केवलं ज्ञानमित्यर्थः । चः पुनरर्थे । द्वितीयश्चकारः समुच्चये । या–यादृशी साधुविशेषेणाऽनुष्ठीयमाना, क्रिया–धर्मक्रिया, ज्ञानशून्या–ज्ञानेन ज्ञानसाररूपेण शून्या रहिता, केवला क्रियेत्यर्थः । अनयोः–केवलज्ञानकेवलक्रिययोः, भानुखद्योतयोरिव–भानुः सूर्यः खद्योतस्तमसि वृक्षादौ स्वरूपप्रकाशकः कीटविशेषस्तयोरिव, अन्तरम्–तारतम्यम्, ज्ञेयम्–बोध्यम् । यथा खद्योतमपेक्ष्याऽनन्तगुणाधिकप्रकाशात्मा सूर्यस्तथा क्रियामपेक्ष्य ज्ञानं सुबहुतममाहात्म्यसम्पन्नम्, क्रियया हि देशतोनिवृत्तिरित्यल्पं फलं खद्योतप्रकाशवत्, ज्ञानेन तु सर्वतो निवृत्तिरिति महाफलं सूर्यप्रकाशवदिति ज्ञानमेव गरीय इति तदवश्यमाराधनीयमितिभावः यदुक्तम्–"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" इति ॥ ११ ॥

तदेवं ज्ञानमवश्योपादेयमिति शिष्यमुपदिशन्नुपसंहरति—

चारित्रं विरतिः पूर्णा ज्ञानस्योत्कर्ष एव हि ।
ज्ञानाऽद्वैतनये दृष्टिर्देया तद्योगसिद्धये ॥ १२ ॥

चारित्रमित्यादि । पूर्णा–अविकला, सर्वसावद्यत इत्यर्थः । विरतिः–निवृत्तिः, चारित्रम्–चारित्रमित्युच्यते । तच्च, ज्ञानस्य–

ज्ञानसारादिलब्धसम्यग्ज्ञानस्य, उत्कर्षे–विशुद्धावेव, एवकारेणाऽपकर्षव्यवच्छेदः। सम्भवतीति शेषः। अज्ञस्याऽल्पज्ञस्य च ज्ञानाऽभावादेव सर्वतो निवृत्त्यसम्भवात्, शुद्धनिवृत्त्यसम्भवाच्चेति भावः। हि–तदेतत्स्फुटम्। सर्वजनप्रतीतमित्यर्थः। तत्–तस्मात्, योगसिद्धये–योगस्य सम्यक्चारित्रात्मकस्य सिद्धये लाभाय, तेन चारित्रेण योगस्सम्पर्कस्तादृशचारित्रान्वितस्य सिद्धये इति वाऽर्थः। ज्ञानाऽद्वैतनये–ज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानस्य यदद्वैतं तदेवैकं नाऽन्यस्यदित्येवममेदस्तद्रूपो यो नयो निश्चयो बोधो वा तत्र, ज्ञानं चारित्रं चैकमेव, ज्ञाने सत्येव चारित्रलाभादित्येवं ज्ञानचारित्रयोरभेदबोधे इति वाऽर्थः। दृष्टिः–स्वोपयोगः, देया–विधेया, न तु क्रियाद्वैतनये इति भावः। तादृशं च ज्ञानं ज्ञानसारेण लभ्यमिति ज्ञानसारः सर्वथा परिशीलनीयएवेति हृदयम्॥ १२॥

---

## ॥ आशीर्वचनम् ॥

अथ ग्रन्थकारः प्रस्तुतस्य ज्ञानसारग्रन्थस्यसमाप्त्यादिकं कथयन् वाचकस्य शुभाशंसामाह—

सिद्धिं सिद्धपुरे पुरन्दरपुरस्पर्धावहे लब्धवान्
चिद्दीपोऽयमुदारसारमहसा दीपोत्सवे पर्वणि।
एतद्भावनभावपावनमनश्चञ्चच्चमत्कारिणां
वै स्तै दीपशतैः सुनिश्चयमतै र्नित्योऽस्तु दीपोत्सवः॥ १३॥

सिद्धिमित्यादि। अयम्–प्रस्तुतः, चिद्दीपः–चितां सम्य-

ज्ञानानां वस्तुपरिच्छेदहेतुत्वेन प्रकाशानां दीप इव हेतुर्दीपोज्ञान-सारग्रन्थः, पुरन्दरपुरस्पर्धावहे-पुरन्दर इन्द्रस्तस्य पुरममरावती तेन सहैश्वर्यचारुत्वादिना स्पर्धां तदभिभवेच्छामावहति करोतीति तादृशे सुरनगरीतुल्ये, सिद्धपुरे-तदाख्यनगरे, उदारसारमहसा-उदारं प्रसारि सारं श्रेष्ठं चारु वा यन्महस्तेजस्तेनोपलक्षिते, प्रसारि-सुखकरतेजस्विनि, दीपोत्सवे-दीपैरुपलक्षित उत्सवो यस्मिन् तस्मिन् दीपमालिकाख्ये, पर्वणि-शुभदिने, सिद्धिम्-समाप्तिं निष्पत्तिं वा, लब्धवान्-प्राप्तवान्, समाप्त इत्यर्थः । सिद्धपुरे हि सिद्धिलाभ उचित एवेति भावः । उदारसारमहसेति चिह्नीपस्यापि विशेषणतया व्याख्यायते । तथा च-उदारमात्मगुणतत्साधनप्रति-पादने विशदाशयत्वात्पटु, अत एव, सारं सम्यङ्महस्तेजो माहा-त्म्यम्, तेनोपलक्षित इत्यर्थः । अध्यात्ममार्गतिमिरनिरोधक इत्यर्थः । एतद्भावकानां शुभमाशंसमान आह-एतदित्यादि । एतद्भावनभावपावनमनश्चञ्चत्चमत्कारिणम्-एतस्याऽमुष्य ज्ञान-सारग्रन्थस्य यद्भावनस्य परिशीलनस्य भावः सद्भावश्चिन्तनात्मक-परिणामस्तेन पावनं सम्यग्ज्ञानद्वारा शुद्धिमापन्नं यन्मनश्चित्तं तत्र चञ्चन् विलसन् यश्चमत्कारोऽहोभावोदयः, धन्योऽहं यदेतदनु-शीलनेन सम्यग्ज्ञानमाप्तवानित्येवं सहर्षाश्चर्यं तद्वताम्, एत-त्परिशीलनजनितसम्यग्ज्ञानजन्यप्रीतिमताम्, सुनिश्चयमतैः-सुदृढा निश्चया मता इष्टा स्तैर्निश्चितज्ञानाख्यैः, तैस्तैः-बहुविधैः, दीप-शतैः-दीपानां वस्तुयाथात्म्यपरिच्छेदकानां निश्चयात्मकानां ज्ञानानां शतानि तैः, दीपैरिव वस्तुप्रकाशकैरनेकैः सम्यग्ज्ञानैरित्यर्थः ।

दीपोत्सवः—दीपमालिकाख्य उत्सवः, नित्योऽस्तु—सर्वदा प्रवर्त्तताम्। दीपोत्सवे शतं दीपाः प्रवर्त्तन्ते, एतद्ग्रन्थपरिशीलनेनाऽपि सम्यग्ज्ञानबाहुल्यमिति तानि ज्ञानानि दीपात्मकानि चिरं जयन्त्वित्यर्थः। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः। उपमारूपकयोः संसृष्टिः ॥१३॥

शिष्यभावोद्दीपनार्थं ज्ञानसारस्य दौर्लभ्यमाह—

केषाञ्चिद्विषयज्वरातुरमहो चित्तं परेषां विषा-
वेगोदर्ककुतर्कमूर्च्छितमथाऽन्येषां कुवैराग्यतः।
लग्नाऽलर्कमबोधकूपपतितं चास्ते परेषामपि
स्तोकानां तु विकारभाररहितं तज्ज्ञानसाराश्रितम् ॥ १४ ॥

केषाञ्चिदित्यादि। अहो!—आश्चर्यमेतत्, यज्ज्ञानसारे जगति विजृम्भमाणेऽपि, केषाञ्चित्—अनिर्दिष्टनामधेयानां भवाभिनन्दिनाम्, चित्तम्—मनः, विषयज्वरातुरम्—विषयो विषयाभिलाषस्तस्य तदप्राप्तिजन्यत्वात्तदुपभोगजन्यत्वाद्वा। तत्सम्बन्धी यो ज्वरः सन्तापो दुष्टकर्मबन्धादिरूपो वा रोगस्तेनाऽऽतुरं पीडितम्, विषयाभिलाषीनमित्यर्थः। परेषाम्—कतिपयानामेकान्तवादिनाम्, विषावेगोदर्ककुतर्कमूर्च्छितम्—विषस्य गरलस्याऽऽवेगस्त्वरा झटिति तद्धुष्परिणामप्रसारस्तादृश उदर्क उत्तरकालः फलं वा यस्य, प्राणान् विषावेग इव धर्मसारज्ञानसारापहारफलः कुतर्को दुष्टन्यायप्रयोगस्तेन मूर्च्छितं विनष्टविवेकम्, चित्तमिति सम्बध्यते। "उदर्कः फलमुत्तरमि"त्यमरः। यथा विषस्य चित्तमूर्च्छा प्राणापहारश्च फलं तथा कुतर्कस्य ज्ञानापहारश्चित्ते विवेकनाशश्च फलमिति भावः।

अथ–तथा, अन्येषाम्–साधुलिङ्गधारिणाम् सम्यग्ज्ञानशून्यानां दुःखगर्भमोहगर्भवैराग्यवताम्, चित्तम्, कुवैराग्यतः–कुत्सितं दुष्परिणामत्वाद्धेयं यद्वैराग्यं दुःखगर्भमोहगर्भात्मकविरतिस्तत्सद्भावाद्धेतोः, लग्नालर्कम्–लग्नोदष्टोऽलर्को योगितः श्वा यं तादृशम्, "शुनको भषकः श्वा स्यादलर्कः स तु योगितः" इत्यमरः। रोगविशेषाक्रान्तेनोन्मत्तेन शुना दष्टो भ्रान्तचित्तो विरुद्धं चेष्टते तद्विषावेगात्तथा कुवैराग्यतोऽपीति कुवैराग्याच्चित्तं लग्नालर्कमित्याशयः। परेषाम्–प्राकृतजनानाम्, अपिश्चाऽर्थे, चित्तम्, अबोधकूपपतितम्–अबोधो नितरामज्ञानमेवोद्धर्त्तुमयोग्यत्वात्कूपं तत्र पतितम्, आस्ते–वर्त्तते च, यथा कूपपतितस्य स्वतो नोद्धारस्तथा निबिडाज्ञानमग्नस्य न निस्तार इत्याशयः। तु हेतौ, अत एव, स्तोकानाम्–अत्यल्पानाम्, तत्–चित्तम्, विकारभाररहितम्–विकारो रागकुतर्ककुवैराग्याऽज्ञानादिस्तस्य यो भारो गरिष्ठता तेन रहितं सत्, पूर्वपुण्यवशाच्छुद्धं सदित्यर्थः। ज्ञानसाराश्रितम्–ज्ञानसारप्रतिपादिततत्त्वबोधसमग्रम्। न मनःशुद्धिं विना ज्ञानसाराप्तिः, ज्ञानसाराश्रितमेव मनो विकारभाररहितमित्युभयथाऽप्यर्थो बोध्यः। दुर्लभो ज्ञानसार इति यावत्। एतेनाऽस्य माहात्म्यप्रकर्षः सूचितः। महानेव हि दुर्लभो भवतीति बोध्यम्। रूपकाऽलङ्कारः॥ १४॥

शिष्यस्य प्रवर्त्तनाय ज्ञानसाराच्छ्रेयोऽवाप्तिमाह—

जातोद्रेकविवेकतोरणततौ धावल्यमातन्वति
हृद्देहे समयोचिते प्रसरति स्फीते च गीतध्वनौ।

**पूर्णानन्दघनस्य किं सहजया तद्भाग्यभङ्ग्याऽभव-**
**न्नैतद्ग्रन्थमिषात्करग्रहमहश्चित्रश्चरित्रश्रियः ॥ १५ ॥**

जातोद्रेकेत्यादि । हृद्गेहे–हृद्हृदयं तदेव तोरणादिसमप्रत्वाद् गेहं गृहं तत्र, **जातोद्रेकविवेकतोरणततौ**–जातः सम्पन्न उद्रेकोऽतिशयो विशेषरचना वा यस्यास्तादृशो विवेक आत्मानात्मभेदग्रह एव हृद्गृहशोभासम्पादकत्वात्तोरणानां ततिः श्रेणि र्यत्र तादृशे विशदविवेकाख्यतोरणाऽलङ्कृते सति, **धावल्यम्**–सुधादिलेपेन शुभ्रत्वमिव वैराग्यादिना शुचित्वम्, **आतन्वति**–प्रकटयति, **समयोचिते**–कालप्राप्ते चारित्रग्रहणकालोचिते, **स्फीते**–विशदे वर्णादिविशुद्धे च, **गीतध्वनौ**–गानशब्दे आगमसूत्रादौ च, **प्रसरति**–प्रवर्त्तमाने पठ्यमाने च सति, **पूर्णानन्दघनस्य**–पूर्णोऽन्यूनः सर्वोत्कृष्टो य आनन्दस्तेन घनो निबिडः पूर्णानन्दानुभवलीनस्तस्य तादृशस्यात्मनः, वरस्येव, **सहजया**–स्वाभाविक्या, **तद्भाग्यभङ्ग्या**–तस्य तादृशस्यात्मनो यद्भाग्यं शुभादृष्टं तस्य भङ्ग्या विच्छित्त्या, तत्सुकृतवशादित्यर्थः । **एतद्ग्रन्थमिषात्**–एतस्य प्रस्तुतस्य ग्रन्थस्य ज्ञानसाराख्यस्य प्रबन्धस्य मिषाद्रचनपरिशीलनव्याजेन, **चारित्रश्रियः**–चारित्रलक्ष्म्याः, **चित्रः**–बहुविधोत्सवमयः, **करग्रहः**–पाणिग्रहणम्, आत्मसाक्षात्कार इत्यर्थः । **नाऽभवत्**–न जातः, **किमिति** क्षेपे, अपि तु जातएव । नञ् द्व्यर्थस्य प्रकृतार्थदार्ढ्यपरत्वात् । यदा भाग्यवशाद् ज्ञानसाराधिगमेन हृदये विवेकोदयः प्रवचनपरिशीलनं तेन चाऽऽत्मानन्दानुभवस्तदा

सम्यक्चारित्रमात्मसाज्जातमेवेत्याशयः । पाणिग्रहावसरे हि गृहे वन्दनमालिका बध्यन्ते, गीतानि प्रवर्त्तन्ते, आनन्दमग्नश्च लोको भवति । ज्ञानसारात्सम्यक्चारित्रलाभ इति हृदयम् ॥ १५ ॥

शिष्यमनोरञ्जनाय ज्ञानसारमाहात्म्यमेव पुनराह—

भावस्तोमपवित्रगोमयरसैर्लिप्तैव भूः सर्वतः
संसिक्ता समतोदकैरथ पथि न्यस्ता विवेकस्रजः ।
अध्यात्माऽमृतपूर्णकामकलशश्चक्रेऽत्र शास्त्रे पुरे
पूर्णानन्दघने पुरः प्रविशति स्वीयं कृतं मङ्गलम् ॥ १६ ॥

भावस्तोमेत्यादि । अत्र—अस्मिन् प्रस्तुते, शास्त्रे—ज्ञानोपदेशपटौ ज्ञानसाराख्ये ग्रन्थे, तद्रूपे इत्यर्थः । पुरे—पुरं द्वात्रिंशताऽष्टकैः पुरविभागैरिवोपलक्षितत्वान्नगरं तत्र, पूर्णानन्दघने—पूर्णेनाऽपरिमितेनाऽनन्तेन स्वाभाविकेनाऽन्यूनेनाऽऽनन्देन सुखेन घनो निबिडः पूर्णानन्दमयस्तस्मिंस्तादृशे आत्मनि नृपरूपे, प्रविशति—प्रवेशं परिशीलनादिरूपमवगाहं कृतवति सति, आत्मप्रवेशमुपलक्ष्येति यावत् । पुरः—प्रथममेव, प्रवेशसमयात्प्रागेव, स्वीयम्—स्वस्वप्रस्तुतशास्त्रस्यैवेदं स्वीयम्, शास्त्रेण स्वत एव, मङ्गलम्—मङ्गलावहवस्तुविन्यासः, कृतम्—सम्पादितम् । मङ्गलकृतिमेव प्रपञ्चयन्नाह—भावेत्यादि । भावस्तोमपवित्रगोमयरसैः—भावाः शास्त्रप्रतिपाद्या मनोवृत्तिशुद्धिहेतवोऽर्थास्तेषां स्तोमः समूहो द्वात्रिंशदष्टकप्रतिपाद्यार्थराशिः स एव पवित्राः शुचितासम्पदकाः शुचयश्च गोमयानां गोविकाराणां छगणानां रसा जले छगणघोलनेन

सम्पादिता द्रवास्तैः कृत्वा, सर्वत एव–दिक्षु विदिक्षु च, न तु क्वचिदेवेत्येवकारार्थः । भूः–शास्त्रपदवाक्यरूपा भूमिः, लिप्ता–उपदिग्धा, शास्त्रीयं सर्वं पदं वाक्यं च पवित्रभावप्रतिपादकमिति सारः । तथा, समतोदकैः–समता सर्वप्राणिषु तुल्यदृष्टि र्हिताहितयो रागद्वेषाभावान्माध्यस्थ्यं च सैव कषायादितापस्य कर्मरजसां च शमनादुदकानि जलानि तैः कृत्वा, संसिक्ता–सम्यक्सर्वत आर्द्रता यथा स्यात्तथा सिक्तोक्षिता, शास्त्रभूः । अत्र शास्त्रेऽपक्षपातेन यथावस्थिततत्त्वप्रतिपादनमिति तात्पर्यम् । अथ–पुनः, पथि–राजमार्गे रथ्यासु च तद्रूपेषु द्वात्रिंशदष्टकेषु, विवेकस्रजः–विवेका स्तत्तत्त्वयथार्थपरीक्षणात्मकविचारा एव शास्त्रशोभावहत्वाच्छास्त्रगौरवगुणसौरभप्रदत्वाच्च स्रजो माल्यानि ताः, न्यस्ताः–लम्बिताः, वितता इत्यर्थः । शास्त्रे कृतो यथार्थविचारः शास्त्रशोभायै शास्त्रगौरवाय चेति बोध्यम् । अत्र शास्त्रे तत्तत्त्वस्य यथार्थपरीक्षाकृतेत्याशयः । तथा, अध्यात्माऽमृतपूर्णकामकलशः–अध्यात्म आत्मनः शुद्धज्ञानक्रियापरिणामस्तादृशज्ञानक्रियोपदेशकानि सूक्तानि च तदेवाऽलौकिकसुखप्रदत्वादमृतं सुधा जलं वा तेन पूर्णो भृतो यः कामकलशः कामप्रदो मङ्गलकुम्भः सः, चक्रे–स्थापितः, अध्यात्मसूक्तात्मकमेतच्छास्त्रमित्यतो ज्ञानसार इत्युच्यते इति भावः । नृपादौ पुरं प्रविशति प्रागेव नागरै र्नगरभूमि र्गोमयैर्लिप्यते जलैः सिच्यते, तत्र तत्र माल्यानि न्यस्यन्ते कामघटश्च स्थाप्यते मङ्गलार्थम् । अत्र तु आत्मप्रवेशाय शास्त्रेण स्वयमेवैतत्सर्वं मङ्गलं सम्पादितमित्यत्र प्रविशत आत्मनः सर्वथा

मङ्गलमेवेति प्रेक्षावताऽयं ज्ञानसारोऽवश्योपादेय इति हृदयम्। परम्परितरूपकाऽलङ्कारः ॥ १६ ॥

अथाऽन्ते ग्रन्थकारः शास्त्रस्य गोत्रशुद्ध्यर्थं स्वपरिचयमुपदर्शयन् समाप्तिं सूचयति—

गच्छे श्रीविजयादिदेवसुगुरोः स्वच्छे गुणानां गणैः
प्रौढिं प्रौढिमधाम्नि जीतविजयप्राज्ञाः परामैयरुः।
तत्सातीर्थ्यभृतां नयादिविजयप्राज्ञोत्तमानां शिशोः
श्रीमन्न्यायविशारदस्य कृतिनामेषा कृतिः प्रीतये ॥ १७ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायश्रीयशोविजयोपाध्यायविरचितो
ज्ञानसारः सम्पूर्णः ॥

गच्छे इत्यादि। श्रीविजयादिदेवसुगुरोः—श्रीविजय इति शब्द आदौ यस्य देवशब्दस्य तदाख्यः श्रीविजयदेवसूरिः स चाऽसौ शिष्यानुग्रहपरत्वात्सुगुरुरुत्तमो गुरुरुपदेष्टा तस्य, स्वच्छे—निष्कलङ्कत्वाद्विशुद्धे, प्रौढिमधाम्नि—प्रौढिमाऽनभिभवनीयप्रतिभा तस्य धामाऽऽस्पदं तस्मिन् प्रौढे, गच्छे—गणे, श्रीदेवसूरितपोगण इत्यर्थः। यद्वा प्रौढिमधाम्नीति प्रौढिपाप्तिक्रियाधारतया व्याख्येयम्। ततश्च प्रौढिम्नां धाम तस्मिन्, जातावेकत्वम्, प्रतिभावत्सु विद्वित्स्वित्यर्थः। जीतविजयप्राज्ञाः—जीतविजयाख्याः प्राज्ञाः सूरयः, आदरार्थे बहुवचनम्। गुणानाम्—ज्ञानचारित्रादिगुणानाम्, गणैः—समूहैः कृत्वा, पराम्—महतीम्, प्रौढिम्—बुद्धिम्, प्रसिद्धिमित्यर्थो वा। ऐयरुः—प्रापुः, स्वगुणै र्विद्वन्मान्या अभव-

न्निति यावत्। तत्सातीर्थ्यभृताम्-तेषां जीतविजयानां समानस्तीर्थो गुरु र्यस्य स सतीर्थस्तस्य भावस्तत्त्वं सातीर्थ्यं बिभ्रतीति ते तादृशा स्तेषां गुरुभ्रातृणाम्, नयादिविजयप्राज्ञोत्तमानाम्-नयो नयशब्द आदि र्यस्य विजयशब्दस्य तदाख्या नयविजयाश्च ते प्राज्ञेषु विद्वत्सूत्तमाः श्रेष्ठाश्च तेषां पण्डितप्रकाण्डस्य नयविजयानाम्, शिशोः-शिशुवल्लालयत्वात्पालयत्वाच्च शिशुः शिष्यस्तस्य, श्रीमन्न्यायविशारदस्य-श्रीमान् ज्ञानादिलक्ष्मीवान् यो न्यायेतर्के विशारदो निष्णोऽत्र एव न्यायविशारदेतिपदवींप्राप्तश्च तस्य महोपाध्यायस्य श्रीयशोविजयवाचकस्य, एषा-प्रस्तुता ज्ञानसाराख्या, कृतिः-शास्त्रनिर्मितिः, कृतिनाम्-पण्डितानाम्, प्रीतये-मनोमोदाय, भूयादिति शेषः। अत्र ज्ञानसारात्मकसत्तत्त्वप्रतिपादनादवश्यमेषा तज्ज्ञानां प्रीतिप्रदा स्यादित्याशासे इति तात्पर्यम् ॥१७॥

इति ज्ञानसारे प्रख्यातव्याख्यातृ-श्रीकदम्बगिरिकापरडाजीराणकपुराद्यनेक तीर्थोद्धारक-आबालब्रह्मचारी-शासनसम्राट्-परमपूज्य-आचार्यदेवश्रीविजयनेमिसूरीश्वरपट्टधरशिष्य-शान्तमूर्ति-समयज्ञ-आचार्यदेवश्रीविजयविज्ञानसूरीश्वर पट्टालंकारशिष्यरत्न-प्राकृतविद्विशारद-सिद्धान्तमहोदधि-आचार्यदेव श्रीविजयकस्तूरसूरीश्वरपट्टधरशिष्य-कविरत्न-पन्यासप्रवर श्रीयशोभद्रविजयगणिवरशिष्यपन्यासशुभङ्करविजयगणिविरचिता—

मदङ्करोदयाख्या व्याख्या समाप्ता ॥




निर्मलं स्फटिकस्यैव सहजं रूपमात्मनः ।
अध्यस्तोपाधिसम्बन्धो जडस्तत्र विमुह्यति ॥